सर्वसार उपनिषद

प्रवचन-क्रम

1. एक नाव दो यात्री..2
2. जिज्ञासाः प्रार्थना के बाद...20
3. अहंभाव, अविद्या और विद्या..34
4. आत्मा की अवस्थाएं...44
5. चेतना की घनी नींद और तुरीय...55
6. पंच कोष...66
7. पंच कोषों के पार..79
8. सुख-दुख का स्वरूप..97
9. अज्ञान की पांच ग्रंथियां...109 10...साक्षी, कूटस्थ और अंतर्यामी
.... 120
11..त्वं-स्वरूप प्रत्यगात्मा
.... 135
12...चैतन्य के तीन रूप
.... 148
13..परबह्म-लक्षण
.... 158
14..अनादि अंतवती माया
.... 167
15..नेति-नेति
.... 184
16...अकर्ता, अभोक्ता
.... 199
17...न नाव, न यात्री
.... 214

सर्वसार उपनिषद
पहला प्रवचन

एक नाव दो यात्री

ऊं सहनाववतु।
सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु।
मा विद्वषावहै।
ऊं शांतिः शांतिः शांतिः।
ऊं हे परमात्मा,
हम दोनों (गुरुऔर शिष्य) का साथ ही रक्षण करो।
हम दोनों का पालन करो।
हम दोनों साथ ही पुरुषार्थ करें।
हम दोनों की विद्या तेजस्वी हो।
हम किसी से द्वेष न करें।
ऊं शांति, शांति, शांति।
सर्वसार उपनिषद असार से सार को खोज लेना भी कठिन है; सार में से भी सार
को खोजना अति कठिन है। जो व्यर्थ है उसमें सार्थक का पता लगा लेना भी आसान नहीं; लेकिन जो सार्थक है, उसमें से भी परम सार्थक को चुन लेना करीब-करीब असंभव जैसा है। मिट्टी से सोने को खोजने की अपनी मुसीबत, मुश्किल है, लेकिन सोने में से भी सोने के सार को... स्वर्ण-सार को खोज लेना करीब-करीब असंभव है।
सर्वसार उपनिषदका अर्थ है, जो भी आज तक जाना गया गुह्य ज्ञान है, इ.जोटेरिक नॉलेज है, उसमें से भी जो सारभूत है, द मोस्ट फाऊंडेशनल; वह जो आधारभूत है-जिसमें से रत्तीभर भी छोड़ा नहीं जा सकता, जिसमें छोड़ने को कुछ भी असार नहीं बचा है, जिसमें शरीर को हमने बिल्कुल ही छोड़ दिया और शुद्ध आत्म को ही निकाल लिया है, जिसमें सोने में से वस्तु को अलग कर दिया... केवल स्वर्ण-स्वर्ण के स्वर्णत्व को ही बाहर खींच लिया है, वैसा यह उपनिषदहै। इस एक उपनिषदको जान लेने से मनुष्य की प्रतिभा ने जो भी गहनतम जाना है, उस सबके द्वार खुल जाते हैं। इसलिए इसका नाम हैः "सर्वसार"-द सिक्रेट ऑफ द सिक्रेट्स; गुह्य में भी जो गुह्य है, सार में भी जो सार है।
खतरनाक भी है ऐसी बात; क्योंकि जितनी सूक्ष्म हो जाती है विद्या उतनी
ही पकड़ के बाहर भी हो जाती है। सत्य जितना शुद्ध होता है उतनी हमारी समझ से दूर भी हो जाता है। सत्य का कोई कसूर नहीं, हमारी समझ इतनी अशुद्ध है कि जितना हो शुद्ध सत्य, उतना हमारे और उसके बीच फासला हो जाता है। हमारी अशुद्धि ही कारण है। इसलिए जितना... जितना सूक्ष्मतम सत्य है, वह उतना ही हमारे व्यवहार में आने योग्य नहीं रह जाता।
इसीलिए इस देश में जीवन का परम ज्ञान खोजा गया, लेकिन हम उसकी चर्चा
ही करने में समय को व्यतीत करते रहे हैं; उसे जीवन में उतारना ख्याल में ही नहीं आता; उतारना भी चाहें तो कोई राह नहीं मिलती; निर्णय भी कर लें तो पैर उठने के लिए कोई दिशा नहीं सूझती। इतना गहन है, इतना सूक्ष्म है कि हम आशा ही छोड़ देते हैं कि उसे जीवन में उतारा जा सकेगा। फिर अपने को धोखा देने के लिए हम चर्चा करके मन को समझा लेते हैं।
तो हम चर्चा करते रहे सदियों तक। और जिस संबंध की हमने चर्चा की है, वह ऐसा है, जिसे चर्चा से समझा नहीं जा सकता; जिसे जियें हम तो ही जान सकते हैं; जीना ही उसे जानने की विधि है; चलें उस पर तो ही समझ पाते हैं। चलना ही समझना है।
कुछ आयाम हैं गहन, जहां जानने और जीने में फर्क नहीं होता; जहां टू नो एंड टू बी आर वन एंड द सेम; जहां टू बी इ.ज द ओनली वे टू नो। जहां हो जायें तो ही जान पायें।
लेकिन होना कठिन मालूम होता है, और जानना हमें सरल मालूम होता है; क्योंकि जानने से कुल इतना अर्थ होता है कि हम कुछ शब्द जान लें, कुछ

सिद्धांत जान लें-कुछ फलसफा, कुछ शास्त्र। बुद्धि भर जायेगी शब्दों से, सिद्धांतों से, हृदय खाली रह जायेगा। और भरी बुद्धि और खाली हृदय जितनी खतरनाक स्थिति है, उतनी कोई और स्थिति खतरनाक नहीं है; क्योंकि भरी बुद्धि से धोखा होता है कि पा लिया मैंने; जब कि मिला कुछ भी नहीं होता। भरी बुद्धि से लगता है भर गया मैं; जब कि भीतर सब रि7, कोरा, दीन और दरिद्र होता है-भिक्षुक के पात्र की तरह भीतर आत्मा होती है, लेकिन बुद्धि को सम्राट होने का भ्रम हो जाता है।
तो बुद्धि से जितने लोग भ्रमित होते हैं, उतने लोग अज्ञान से भ्रमित नहीं होते हैं। और बुद्धि की नाव में बैठे लोग जितने डूबते हैं, उतनी कागज की नाव में भी बैठें तो डूबने की उम्मीद नहीं है; क्योंकि लगता ऐसा हैः जाना, और जान बिल्कुल नहीं पाते हैं। इसलिए मैंने कहा कि सर्वसार उपनिषदजैसे ज्ञान के जो सूक्ष्म सूत्र हैं वे खतरनाक भी हैं; क्योंकि डर यह है कि हम उन्हें विचारणा का विषय बना लें-सोचें, समझें और उनसे मु7 हो जायें। इसलिए पहले ही आपसे कह दूं, उपनिषद की बात में पड़ना आग के साथ खेलने जैसा है; बिना बदले उपनिषदनहीं समझा जा सकता है।
इसे थोड़ा ऐसा लेंः कुछ तो ऐसे ज्ञान हैं, हम जैसे हैं वैसे ही बने रहें, तो भी ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। एक व्यक्ति गणित सीखे, कि इतिहास सीखे, कि कुछ और; उस व्यक्ति को इस सीखने के लिए बदलने की.जरूरत नहीं है। वह व्यक्ति वही बना रहे जो था, सीखना संगृहीत होता चला जायेगा। उस व्यक्ति की आत्मा को किसी रूपांतरण से गु.जरने की.जरूरत नहीं है। उस आदमी को बदलाहट आवश्यक नहीं है-वह आदमी जैसा था वैसा ही रहे, ज्ञान इकट्ठा हो जायेगा। इतिहासज्ञ होने के लिए कोई आत्मक्रांति नहीं चाहिए... और न गणितज्ञ होने के लिए... और न वैज्ञानिक होने के लिए।
लेकिन धर्म का मामला बिल्कुल ही भिन्न हैः वहां ज्ञान के पहले रूपांतरण चाहिए; वहां आदमी बदले नहीं तो समझ ही नहीं पायेगा; बदले तो ही समझ पायेगा। वहां पहली जो प्रक्रिया है बदलाहट की, वह भीतर अंतसमें न हो, तो बुद्धि का संग्रह काम नहीं पड़ता है-धोखा, डिसेप्शन हो जाता है; आत्मवंचना हो जाती है। और इसीलिए अच्छा है कि आदमी अज्ञानी रह जाये बजाय ज्ञान की वंचना में पड़ने के; क्योंकि अज्ञानी फिर भी विनम्र होता है, ज्ञानी अहंकारी हो जाता है। और अज्ञानी फिर भी भीतर कहीं रोता है और पीड़ित होता है; और ज्ञानी दंभ से अकड़ जाता है; उसके आंसू भी सूख जाते हैं; उसकी प्यास भी बुझ जाती है। झूठा पानी भी प्यास बुझाने में समर्थ है।
सबने हमने सपने देखे हैं। प्यास लगी है जोर की और स्वप्न देखा है कि पानी पी रहे हैं और प्यास बुझ गयी है, और रात की नींद टूटने से बच गयी। स्वप्न आते ही हैं नींद को सहारा देने के लिए। आप शायद सोचते होंगे कि स्वप्न नींद में बाधा डालते हैं तो आपको स्वप्न के विज्ञान का कोई पता नहीं है। शायद आप सोचते होंगे, स्वप्न बिल्कुल न आयें तो मै बड़ी गहरी नींद सोऊंगा, तो आप बड़ी गलती में हैं; आप सो ही न पायेंगे अगर स्वप्न न आयें। स्वप्न सिर्फ नींद के सहयोगी हैं। जहां भी नींद टूटने के करीब होती है, स्वप्न आपको धोखा देता है और नींद को जारी रखवा लेता है। आपको प्यास लगी है, अगर स्वप्न न आये कि आप नदी के किनारे पानी पी रहे हैं तो नींद को टूटना ही पड़ेगा; प्यास इतनी.जरूरी है। लेकिन आप एक स्वप्न देखते हैं कि नदी के तट पर हैं, सरोवर में स्नान कर रहे हैं, और भरपूर जितना पानी पीना हो पी सकते हैं, पी लें। स्वप्न देख लिया, प्यास बुझ गयी-बुझ गयी कहना ठीक नहीं, बुझी मालूम हुई-नींद जारी हो गयी। भूख लगी है और राजमहल में निमंत्रण मिल जाता है स्वप्न में, स्वप्न टूटने से बच जाता है। कामवासना को दबाया है, उभरती है, स्वप्न भिखारी को भी सुन्दरियों से मिला देता है... नींद अपनी जगह वापिस सक्रिय हो जाती है।
जैसे हम स्वप्न में झूठे पानी से प्यास मिटा लेते हैं, वैसे ही जिसे
हम जागरण कहते हैं, वह भी यह उपनिषदआगे कहेगा कि यह स्वप्न भर है। उसमें भी हम ज्ञान के झूठे संग्रह, ज्ञान की झूठी स्मृति, ज्ञान के झूठे बोध से अज्ञान को छिपा लेते हैं... नींद टूटने से बच जाती है; संसार वैसे ही चल जाता है जैसे रात नींद चल जाती है।

जैसे नींद टूटने से कोइ जाग जाता है, और चेतना दूसरे आयाम में प्रवेश करती है... ऐसे ही जब कोई व्यि7 संसार की नींद से जाग जाता है, तो संन्यास फलित होता है, और चेतना दूसरे आयाम में प्रवेश करती है।
संन्यास का अर्थ इतना ही है कि कोई व्यि7 अब संसार को निद्रा की भांति चलाने को तैयार नहीं है; अब वह जागकर जीना चाहता है-बस, इतना है।
उपनिषदपर चर्चा करके अगर आप ज्ञानी हो जायें, तो मैंने चर्चा की तो गलत किया; आपका दुश्मन हुआ। उपनिषदकी चर्चा करके अगर आप आत्मक्रांति पर निकल जायें, तो ही... तो ही मैंने जो कहा वह हितकर था, कल्याणकर था।
मैं जो कहूंगा वह विष बन सकता है... जहर बिल्कुल, अगर उसे आपने चर्चा बनाया, और बुद्धि का भोजन बनाया, और अपनी नींद को संभाला। मै जो कहूं वह अमृत भी हो सकता है, अगर आप उसे बुद्धि की बात न बनायें, वरन हृदय को बदलने की सामर्थ्य, शि7, संकल्प उससे जन्मायें।
इस पर निर्भर करेगा कि इस सर्वसार उपनिषदके साथ आप क्या करते हैं! यहां से कुछ थोड़ी सी बातें सीख कर आप लौट जायेंगे तो यह अच्छा नहीं हुआ... अच्छा था आप आये ही न होते। आप कुछ जानकर लौट जायेंगे, थोड़े और ज्ञानी होकर लौट जायेंगे, तो आप व्यर्थ ही आये और व्यर्थ ही गये।
नहीं, आपके ज्ञान में थोड़ी जानकारी को जोड़ देने का कोई भी प्रयोजन और कोई आकांक्षा नहीं है। आप थोड़े से बदलकर जायें, थोड़े कुछ और होकर-आपकी दृष्टी बदले, स्मृति नहीं; आपकी प्रज्ञा बदले, आपकी जानकार नहीं; आप बढ़ें, आपकी बुद्धि नहीं।
कैसे बढ़ जाये वह जो हमारा स्वरूप है-जानना नहीं, मेरा होना ही कैसे बढ़ जाये... इसलिए यह उपनिषदमैंने कहा, खतरनाक है।
सत्य से जरा भी जूझना खेल नहीं है, खतरा है; क्योंकि सत्य आपको वही नहीं छोड़ेगा जो आप हैं-बदलेगा, तोड़ेगा, मिटायेगा, नया करेगा, नया जन्म देगा। निÜ चत ही, नये जन्म की पीड़ा है। बिना प्रसव की पीड़ा के नया जन्म कहां! और जब दूसरे को भी जन्म देने में इतनी पीड़ा होती है, तो स्वयं को ही जन्म देने में पीड़ा और भी ज्यादा होगी; क्योंकि दूसरे को तो मां जन्म देते व 7 केवल नौ महीने ही पेट में रखती है, हमने अपने आपको अनंत-अनंत जन्मों से पेट में रखा हुआ है।
जन्मों-जन्मों से जो केवल गर्भ है अभी, बीज ही है अभी, अनंत जन्मों हमने अपने को अपने ही गर्भ में रखा, अभी जन्म हमारा हुआ नहीं-वैसे ही जैसे कोई तितली अपने शंख में बंद है जन्मों-जन्मों से; शंख टूटा नहीं, तितली उड़ी नहीं; उसने पंख आकाश में खोले नहीं-ऐसे ही हम अपने में बंद हैं।
यह उपनिषदउस विज्ञान की बात है, जिससे उस अंडे को तोड़ा जा सके, उस गर्भ
को मिटाया जा सके, जिसे हमने अब तक अपना जीवन समझा; जो कि हमारा जन्म भी नहीं है।
बीज का भी कोई जीवन होता है! बीज होता है.जरूर, पर बीज का कोई जीवन होता है? जीवन होता है वृक्ष का। बीज का भी कोई जीवन हैं? सिर्फ एक संभावना, मात्र एक आशा, मात्र भविष्य... वर्तमान तो बीज का कुछ भी नहीं है। होने की एक क्षमता... जीवन नहीं। जिसे हम जीवन कहते हैं वह केवल एक क्षमता है-एक बद बींज जीवन तो होता है वृक्ष का; फैलता है खुले आकाश में; छूता है सूरज को; चांदत्तारों तक पहुंचने के लिए शाखाओं को उठाता है; खिलते हैं फूल, पक्षी बसेरा लेते हैं-गीत भी, तूफान भी, आंधियां भी, धूप-बरसात भी, संघर्ष भी, मौत से चुनौती भी। पल-पल फिर जीवन है। बीज का भी कोई जीवन है! बीज केवल एक गर्भ है।
हम भी एक गर्भ हैं... और पीड़ा बहुत होगी; पीड़ा बहुत होती है। हम सभी चाहते हैं आनंद हो, लेकिन बिना पीड़ा के चाहते हैं इसीलिए आनंद कभी नहीं हो पाता। कौन नहीं चाहता आनंद हो? कौन नहीं भूखा है आनंद का? और कौन नहीं खोजी है? रोआं-रोआं आनंद ही तो मांगता है।श्वास-श्वास आनंद की ही तो आकांक्षा है। वही तो... वही तो सबकी कामना है, फिर भी आनंद फलित नहीं होता; कीमत चुकाने कोई भी तैयार नहीं। उससे हम बचना चाहते हैं, पीड़ा से हम बचना चाहते हैं। हम उस मां की तरह हैं जो प्रसव-पीड़ा से बचना चाहती है।

शायद आज नहीं कल, जमीन पर मां की प्रसव पीड़ा बंद हो जायेगी; बच्चे बिना प्रसव-पीड़ा के पैदा होने लगेंगे-होने लगे हैं; लेकिन ऐसा दिन कभी भी नहीं आ सकता जब आदमी अपनी आत्मा के पुनर्जन्म में प्रवेश करे, अपनी आत्मा को नया जन्म दे, तो वह बिना प्रसव-पीड़ा के हो जाये।
पर एक और मजे की बात है कि अगर मां बिना प्रसव-पीड़ा के बच्चे को जन्म दे, तो जो लोग भी सारे जगत में चेष्टा करते हैं कि किसी तरह मां की पीड़ा बच जाये बच्चे को जन्म देने में, उन्हें अभी एक सत्य का कोई पता नहीं है-वह जल्दी पता लगेगा; और अक्सर हमें सत्यों का तब पता लगता है जब चीजें हमारे हाथ के बाहर हो जाती हैंत्तब उन्हें पता लगेगा कि जो मां बच्चे को बिना किसी पीड़ा दिये जन्म दे देगी वह अपने मां बनने की गहराई से भी थोड़ी वंचित हो जायेगी। अगर बच्चे को ऐसे ही जन्म दिया जा सके बिना किसी पीड़ा के, तो मां भी जन्म पाने से बच जायेगी, वंचित रह जायेगी... वह मां भी न बन पायेगी; क्योंकि जब बच्चे को जन्म दिया जाता है पीड़ा में, तो वह पीड़ा बन जाती है खाई, और उसी खाई के किनारे मां का शिखर खड़ा होता है।
जब हम खाइयों से बचते हैं तो शिखरों से भी बच जाते हैं।
अगर हम यह चाहें कि हिमालय के पास जो कंदराएं हैं उनको तो हम साफ कर दें, हटा दें, और शिखरों को बचा लें, गौरीशंकर बच जाये, तो हम पागल हैं; हमें जीवन के तर्क का कोई पता नहीं। शिखर होते ही इसलिए हैं कि खाइयां होती हैं, खड्ड होते हैं। असल में शिखर और खड्ड संयु7 हैं।
आदमी लेकिन भूलें करता है निरंतर एक जैसी। आदमी ने सोचा कि हम सब दुख मिटा दें तो बहुत सुख हो जायेगा। लेकिन बड़े मजे की बात हैः जब सब दुख मिट जाते हैं तो पता चलता है, कोई सुख बचा नहीं; क्योंकि वे संयु7 थे। इसलिए अक्सर देखने में आता है कि गरीब आदमी से भी ज्यादा दुखी हो जाता है अमीर आदमी; गरीब समाजों से ज्यादा पीड़ित हो जाते हैं समृद्ध समाज।
आज पिÜ चम की तकलीफ यही है... कि उन्होंने बहुत से दुख मिटा लिए-जिनकी वजह से हम दुखी हैं, उन्होंने वे सब दुख मिटा लिए-इस आशा में बड़ी मेहनत की उन्होंने कि जिस दिन दुख न होंगे उस दिन सुख ही सुख बच जायेंगे। दुख मिट गये, पता चला कि उन्हीं के साथ वे सुख भी मिट गये; खाइयां मिट गयीं, शिखर भी मिट गये। रातें तो मिट गयीं साथ में दिन भी मिट गये; कांटे तो हमने झाड़कर साफ कर दिये गुलाब के पौधे से, लेकिन हम कांटे झाड़ने में लगे रहे; जब हमने ऊपर नजर उठायी तो पाया कि फूल भी गिर चुका है; वह उन कांटों के साथ ही होता था। वे संयु7 थे।
लेकिन यह कभी हो सकता है कि बच्चे बिना पीड़ा के पैदा होने लगें, यह कभी नहीं हो सकता कि आदमी अपने नये जीवन को बिना पीड़ा के पा ले। यह नहीं हो सकता है, इसका कारण है; इसका कारण है कि हम जो भी अब तक हैं... उसे तोड़ना पड़ता है, उसे मिटाना पड़ता है, उसे हटाना पड़ता है-नये के लिए जगह बनाने को। मां की तकलीफ बच्चे को जन्म देने में स्वयं को मिटाने की नहीं है; मां
की तकलीफ एक नयी चीज उससे छुटकारा पा रही है, उससे मु7 हो रही है, उसका झटका है; उसका धक्का है। लेकिन जब कोई व्यि7 अपने को जन्म देता है, तब कोई और चीज को वह जन्म नहीं दे रहा है, तब वह दोहरा काम कर रहा है-अपने को मिटा रहा है, समाप्त कर रहा है; और जिस मात्रा में वह अपने को मिटाता है और समाप्त करता है उसी मात्रा में नये जीवन का आविर्भाव होता है।
इसलिए मैंने कहा, यह उपनिषदकी शिक्षा खतरनाक है-आत्मक्रांति की पीड़ा
के लिए तैयार होना.जरूरी है। उसी पीड़ा के भय से ऋषि का पहला सूत्र समझें। " हे परमात्मा! हम दोनों की रक्षा करना।"
यह प्रार्थना क्यों? यह ऋषि शुरू में ही इस उपनिषदके परमात्मा से रक्षण की प्रार्थना क्यों करता है? क्या आप सोचते हैं, इसके मकान पर छप्पर न रहा होगा? क्या आप सोचते हैं, इसके पास रोटी नहीं थी, कि यह भूखा मर रहा था, कि इसके पास कपड़े न थे! यह रक्षण किस बात का? यह किस बात की रक्षा के लिए आकांक्षा की जा रही है? और यह शुरू में ही! यह पहला सूत्र ही रक्षा के लिए! जिस यात्रा पर ऋषि जा रहा है आगे, वह मृत्यु है; क्योंकि उसी के बाद नया जीवन है। और यह तो पक्का पता हो कि मैं मरूंगा, यह पक्का पता नहीं है कि मैं उसके बाद जन्मूंगा; वह अज्ञात है। मेरी रक्षा करना। परमात्मा से

प्रार्थना कर रहा है कि अज्ञात में उतरता हूं आज, खतरा साफ है; मौत दिखाई पड़ती है...
बीज को मौत ही दिखाई पड़ती है, वृक्ष कैसे दिखाई पड़ सकता है! टूटेगा, इतना ही दिखाई पड़ता है... मिटेगा; लेकिन वृक्ष भी होगा और वे फूल जो कभी खिलेंगे, उनकी कैसे कल्पना भी कैसे हो सकती है बीज को! वे गीत जो इस वृक्ष के आसपास जन्मेंगे, और वे बांसुरियां जो इसके आसपास गूंजेंगी और बजेंगी, और वे हवाओं के झोंके जो इस वृक्ष के पत्तों से सरसराकर गुजरेंगे, उन सबका इस बीज को कैसे पता हो सकता है? वसंतों की इसे अभी क्या खबर? और वर्षा में जब बूंदें इस वृक्ष के ऊपर गिरेंगी, इस बीज को उनकी क्या खबर? इस बीज को इतना ही पता है कि मैं मिटूंगा; इतना ज्ञात है, शेष अज्ञात है... इसलिए यह प्रार्थना।
"हे प्रभु! हम दोनों का-गुरु का, शिष्य का रक्षण करना।"
यह और बड़े मजे की बात है कि दोनों के लिए प्रार्थना की गयी है-गुरु के लिए भी और शिष्य के लिए भी। शिष्य के लिए होती, समझना आसान था-गुरु के लिए भी है! यह जरा कठिन मालूम पड़ता है। शिष्य के लिए समझ में आती है-जो अभी सीख ही रहा है, जो अभी कदम उठा ही रहा है, जो अभी नाव छोड़ने के ही करीब है अज्ञात में, वह प्रार्थना करे रक्षण की, सुरक्षा की, लेकिन गुरू के लिए प्रार्थना क्यों? "हम दोनों" की क्या बात है?
कुछ बात है... और बात यह है कि गुरू और शिष्य का संबंध इतना गहरा है कि
एक भी डूबे तो दूसरा डूबेगा ही; बचना फिर मुश्किल है। वह संबंध इतना इंटीमेट है कि उतना इंटीमेट, उतना निकट संबंध इस जगत में दूसरा नहीं होता- न पति का, न पत्नि का; न मां का, न बेटे का; न भाई का और भाई का; न मित्र का। इतना निकट है दोनों का संबंध... कि एक डूबा कि दूसरा डूबा। इसलिए प्रार्थना ऋषि करता है-हम दोनों को-शिष्य को, गुरू को, दोनों को संभालना। इसमें और गहरी बातें हैं। इसमें ऋषि यह भी कह रहा है कि गुरू का ऐसा कुछ अर्थ नहीं है कि वह नहीं डूब सकता। यह बहुत सोचने जैसी बात हैः गुरू का कुछ ऐसा अर्थ नहीं है कि वह नहीं डूब सकता। असल में अगर कभी भी किसी की ऐसी स्थिति बन जाये कि अब वह डूब नहीं सकता, भटक नहीं सकता, खो नहीं सकता अंधेरे में, तो वह करीब-करीब मुर्दा हो चुका होगा। जीवन सदा ही खो जाने की संभावना है-सदा ही! वही जीवंत होने का अर्थ है।
बुद्ध का पैर भी गलत पड़ सकता है; नहीं पड़ता, यह दूसरी बात है; नहीं पड़ेगा, यह दूसरी बात है; नहीं पड़ा है कभी, यह भी दूसरी बात है-पड़ सकता है। फिर से कहूंः नहीं पड़ता है, नहीं पड़ा है। नहीं, कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं कि बुद्ध का पैर कभी चूका हो; लेकिन जब बुद्ध परमात्मा से प्रार्थना में हों, तब वे भी कहेंगेः मेरी रक्षा करना। चूक सकता है। और मजा यह है कि जो ऐसी प्रार्थना करता है उसका नहीं चूकता है; और जो ऐसी प्रार्थना नहीं करता उसका निÜ चत ही चूक जाता है-क्योंकि अहंकार ही चूक है।
इसलिए गुरू और शिष्य... हम दोनों की ही तू रक्षा करना। शिष्य की प्रार्थना तो साधारण है, पर गुरू का संयु7 होना बहुत असाधारण है। और ऐसे ही व्यि7 को हम गुरू कहते थे, जिसको गुरू होने का भाव न हो। जिसे गुरू होने का भाव न हो वही गुरू है; और जिसे गुरू होने का भाव हो, वह तो अभी शिष्य होने के भी योग्य नहीं। यह... यह प्रार्थना कहती है इस ऋषि को यह भी पता नहीं कि मुझे क्या रक्षा की.जरूरत है? मैं... मैं तो जानता हूं, मैं तो पा लिया हूं, मैं तो पहंच गया हूं; मैं तो दूसरो को पहुंचा रहा हूं, तो मुझे क्या रक्षा की.जरूरत है? इसे ऐसा कोई भी ख्याल नहीं है; यह कहता है, हम दोनों की रक्षा करना।
और यही अपूर्व विनम्रता उसके गुरू होने का रहस्य और रा.ज है। हम भरोसा
कर सकते हैं कि यह आदमी गहरी बातें कह सकेगा; हम भरोसा कर सकते हैं कि इस आदमी के पीछे अगर कोई आंख बंद करके भी चल जाये तो पहुंच जायेगा-इस आदमी के पीछे... अगर कोई आंख बंद करके भी चल जाये तो पहुंच जायेगा। और तथाकथित गरुओं का अगर कोई आंख खोलकर भी बड़ी बुद्धिमानी से पीछा करे तो भी गड्ढे में ही पहुंचने के अतिरि7 और कहीं पहुंचने का उपाय नहीं है।

गुरू है वह व्यि7 जिसे अब ख्याल भी नहीं रहा कि मैं भी हूं। ऐसी शून्यता प्रार्थना से भरी ही हो सकती है; और कोई उपाय नहीं; और कोई अन्यथा होने के लिए गति नहीं।
"... हम दोनों की रक्षा करना। हम दोनों का पालन करना।"
रक्षण काफी नहीं है, मालूम होता। पालन की बात भी। रक्षण में नहीं आ गई क्या पालन की बात? नहीं, रक्षण तो बिल्कुल आध्यात्मिक बात है, रक्षण आध्यात्मिक बात है। उसमें तो सिर्फ इस बात की तरफ प्रार्थना है कि हमें कुछ भी पता नहीं उस जगत का जहां हम चल पड़े... शिष्य को तो पता है ही नहीं, गुरू भी कहता है, मुझे भी क्या पता है?
अद्भुत रहे होंगे ये लोग; क्योंकि गुरू बनना हो तो पहले तो दावा करना
ही पड़ता है कि मुझे पता है, नहीं तो कौन गुरू मानेगा? एक शिष्य बनाना मुश्किल है, अगर गुरू दावा न करे कि मुझे पता है। यह गुरू कहता है, क्या मुझे भी तो कुछ पता नहीं... रक्षण करना। अज्ञात की तरफ चल पड़े हैं; खोल दी है नाव उस सागर में जिसका नक्शा हाथ में नहीं; दूसरी तरफ किनारा भी है, यह भी सिर्फ सपनों में देखा है, वि.जन्स में। यह भी आकांक्षा ही है। पता नहीं, दूसरा किनारा होता भी है या नहीं होता। यह किनारा छोड़ते हैं जो हम जानते थे... और उस किनारे की तरफ जा रहे हैं जिसका हमें कोई भी पता नहीं है। शिष्य की बात बिल्कुल ही ठीक है, लेकिन गुरू भी कहता है, मेरी भी रक्षा करना। गुरू को तो पता होना चाहिये दूसरा किनारा। यह थोड़ा जटिल है। असल मे दूसरे किनारे का नाम हैः अज्ञात-दि अननोन। दूसरे किनारे का अर्थ ही है कि जो कभी भी ज्ञात नहीं होता-हम कितना ही जान लें, फिर भी अनजाना रह जाता है। नहीं, जो अज्ञात है वह तो जाना भी जा सकता है, लेकिन अज्ञेय, अननोएबल-कितना ही जान लेते हैं और फिर भी लगता है, अनजाना रह गया; कितना ही पहचान लेते हैं फिर भी पहचान नहीं बनती... आलिंगन हो जाता है फिर भी स्पर्श नहीं होता; छू लेते हैं, पकड़ लेते हैं, फिर भी पकड़ में कुछ आता नहीं-जान लेता है व्यि7, फिर भी जानता हूं, ऐसी कोई अस्मिता भीतर निर्मित नहीं होती।
इसलिए गुरू कहता है कि मेरी भी रक्षा करना। लेकिन रक्षण तो ठीक है... अज्ञात है यात्रा, अनजान है राह, दूसरे किनारे का पता नहीं, मंजिल है धुंधली... रक्षा करना। दूसरे सूत्र में कहता हैः
"हम दोनों का पालन भी करना।"
क्यों? पालन तो बिल्कुल ही शरीर के तल की बात है। लेकिन, कारण है प्रार्थना के लिए। और कारण यह हैः जो व्यि7 भी परम सत्य की खोज में निकलता है, वह अपने इस अहंकार को भी छोड़ देता है कि मेरा पालन मैं करता हूं; क्योंकि जिसको यह ख्याल है कि मेरी रोटी मैं कमाता हूं, और मेरा मकान मैं बनाता हूं, और मेरे वस्त्र मेरे हैं, और मेरे शरीर को मैं चलाता हूं, और अगर मैं फिकर न करूं तो सब मिट जायेगा-ऐसा व्यि7 बहुत मूढ़ता में जी रहा है; और ऐसा व्यि7 चाहे तो संसार में मजे से यात्रा कर सकता है, लेकिन सत्य की ओर यात्रा नहीं कर सकता।

इसलिए ऋषि कहता है, हमारा पालन भी तुम्हीं करना, क्योंकि अब से हम कर्ता भी न रह जायेंगे; अब से हम यह भाव भी नहीं रख सकेंगे कि हम अपना-कम से कम अपना पालन करनेवाले हैं।
हम तो बहुत मजेदार लोग हैं! हम अपना पालन तो करते ही नहीं, दूसरों तक
का करते हैं!
यह ऋषि कहता हैः हमारा पालन भी अब हमारा नहीं होगा, अब तू ही समझ, अब तू
ही जान; अब तू रखेगा जैसा, वैसा रहेंगे; अब तू बचायेगा तो ठीक, और मिटायेगा तो ठीक; अब तेरी मर्जी ही हमारा जीवन है। तो अब हम वह कर्ता का भाव भी छोड़ते हैं।
यह भाव छोड़ना कीमती है, क्योंकि यात्रा में सहयोगी होता है। असल में
जो कर्ता के भाव से बंधा है उसकी नाव इसी किनारे से बंधी रहेगी; दूसरे किनारे की तरफ वह बढ़ नहीं सकता। सब खूटियां उखाड़ लेनी पड़ेंगी इस किनारे से, एक भी खूंटी गड़ी रखनी खतरनाक है। अहंकार किसी भी तरह निर्मित होता हो

तो खूंटी बन जाता है। इतना भी काफी है कि मैं अपना खुद कमाता हूं, खुद खाता हूं।
ऋषि कहता हैः हमारा पालन भी... !
"हम दोनों का पालन करना। हम दोनों साथ ही पुरुषार्थ करें।"
एक तो ज्ञान है जो गुरू शिष्य को देता है; जैसा विश्वविद्यालय में होता है, विद्यालय में होता है। ज्ञान एक संगृहीत राशि है; गुरू जानता है, विद्यार्थी नहीं जानता है; गुरू विद्यार्थी को ट्रांसफर करता है, देता है, हस्तांतरित करता है-गुरू देता है, शिष्य लेता है। इसको हम जानते हैं भलीभांति। ऐसा ज्ञान वस्तु की भांति है, धन की भांति है-मेरे हाथ में है, मैंने दे दी। बाप के हाथ में पैसा है, वह बेटे को दे देता है; गुरू के हाथ में ज्ञान है, वह शिष्य को दे देता है-ट्रांसफर है। लेकिन एक ऐसा ज्ञान है जो ट्रांसफरेबल नहीं है। एक ऐसा ज्ञान है जो गुरू देता नहीं; दे नहीं सकता- जिसे देने का कोई उपाय ही नहीं है... हां दोनों अगर साथ-साथ पुरुषार्थ करें तो शायद विद्यार्थी तक संक्रमित हो जाता है। इस फर्क को समझ लें।
एक ज्ञान है जो हम सब जानते हैं-जो दिया जाता है; मिलता है; कोई दे देता है। मैं जानता हूं, आप नहीं जानते, मैं आपको दे देता हूं, आप भी जान जाते हैं। निÜ चत ही ऐसा ज्ञान शब्द का होगा, ऐसा ज्ञान ऊपरी होगा। जो शब्द से दिया जा सके वह शब्द से ज्यादा गहरा नहीं हो सकता। उसका वजन उतना ही होगा जितना शब्द का होता है। उसका मूल्य भी उतना ही होगा। और.जरूरी नहीं कि जो मैंने आपको दिया वह मैं जानता था, वह मुझे किसी ने दिया होगा, मैंने आपको दे दिया, आप किसी और को दे देंगे।
इसलिए अज्ञानी भी काफी ज्ञान का लेन-देन करते हैं; काफी करते हैं। और
जब काफी जोर से सरकुलेट होता है यह ज्ञान तो ऐसा लगता है समाज बहुत ज्ञानी होता जा रहा है। हम इसी तरह के ज्ञान में जी रहे हैं... इस सदी में; क्योंकि ज्ञान बहुत सरकुलेट होता है। जो लोग अर्थशास्त्र समझते हैं, वे मतलब समझते हैं। अगर हमारे पास यहां हजार रुपये हों, और सब अपने-अपने खीसे में रखे बैठे रहें तो हजार ही होंगे। लेकिन अगर काफी लेन-देन चले, दस रुपये मैं आपसे लूं, आप उससे लें, वह इसको दे, उसको दे, तो यहां एक हजार रुपये में लाखों का काम हो जाये-सरकुलेशन! तो अर्थशास्त्री कहते हैं कि मनी मस्ट कंटीन्यू टू सरकुलेट जस्ट लाइक ब्लड इन द बॉडी। नहीं तो वह था.ेड़ी रह जाती है। धन अगर चले न तो थोड़ा मालूम पड़ता है। जो समाज धन को जितना ज्यादा चलाता है, उतना ज्यादा धनी मालूम पड़ता है।
मुसलमान गरीब रह गये, क्योंकि इस्लाम ने एक बहुत कीमती बात शुरुमें पकड़ ली कि ब्याज पाप है। अब जब ब्याज पाप होगा तो मनी का सरकुलेशन बंद हो जाता है; धन की गति बंद हो जाती है। तो मुसलमान जमीन पर गरीब रह गया, क्योंकि उसने एक कस्त कर लिया कि ब्याज नहीं लेना है। अगर ब्याज नहीं लेंगे तो धन रुक जायेगा; क्योंकि धन चलेगा कैसे? ब्याज के सहारे चलता है; यात्रा करता है। एक खीसे से दूसरे, दूसरे से तीसरे... एक रूपया हजार रुपये हो जाते हैं घूमकर।
अमरीका सबसे ज्यादा धनी है, क्योंकि सबसे ज्यादा धन की गति है-जोर से चलता है। रुपया चले जोर से तो गरीब भी अमीर मालूम पड़ते हैं; रुपया न चले तो अमीर भी गरीब है। हमारे मुल्क के कई अमीर बिल्कुल गरीब हैं; रुपया चलता ही नहीं। वे तिजोरी में गड़ाकर उसके ऊपर बैठे हुए हैं। तिजोरी अगर आप नीचे से निकाल लें तो भी उनकी अमीरी में कोई फर्क नहीं पड़ेगा-पता भर नहीं चलना चाहिए कि तिजोरी निकल गयी; ख्याल काफी है कि तिजोरी नीचे है, बस। तो वे अमीर हैं।
अमीर भी गरीब हो सकता है अगर धन न चले, और धन चले तो गरीब भी अमीर मालूम
हो सकता है।
ज्ञान भी ऐसा ही है। जोर से चलता है। युनिवर्सल एजुकेशन है। सारी दुनिया में अब शिक्षा है, ज्ञान जोर से चलता है-एक इसको देता है, दूसरा उसको देता है, तीसरा उसको देता है-सब एक दूसरे को ज्ञान देते चले जाते हैं।
ऐसा लगता है कि भारी ज्ञान है; और ज्ञान बिल्कुल नहीं है।

जिस ज्ञान की ऋषि बात कर रहे हैं, वह ऐसा ज्ञान नहीं है जो कोई आपको दे सके।
गुरू कहता है, हम दोनों साथ ही पुरुषार्थ कर सकें, बस इतनी कृपा चाहिए। हम दोनों साथ जीयेंगे, साथ ध्यान करेंगे, साथ प्रार्थना करेंगे, साथ पूजा करेंगे-साथ उठेंगे, बैठेंगे... मौन में, शब्द में, विचार में। हम साथ होंगेत्तेरी आकांक्षा में, तेरे प्रयास में, तेरे पाने की दौड़ में। हम साथ ही स्वप्न देखेंगे, साथ ही गीत गायेंगे, साथ ही चुप होंगे; साथ ही हम सूरज को देखेंगे, साथ ही रात के आकाश के तारों को-हम साथ होंगे।
इसको सत्संग कहा हैः हम साथ होंगे। शायद, इस साथ होने में, वह जो नहीं दिया जा सकता सीधे-सीधे, उसका देना हो जाये; वह जो नहीं दिया जा सकता सीधे हाथों से वह शायद परोक्ष में, पीछे से चुपचाप यात्रा कर जाये। जो शब्द में नहीं कहा जा सकता शायद मौन में उतर जाये। जो नहीं दिया जा सकता, सिर्फ साथ रहने से शायद संक्रमित हो जाये।
बोधिधर्म हिंदुस्तान से गया चीन... चौदह सौ वर्ष पहले, उसका शिष्य हुइनेंग वर्षों तक बोधिधर्म के साथ था। हुइनेंग अनेक बार पूछा कि कब देंगे... वह ज्ञान कब देंगे? कब आयेगा वह क्षण जब मेरी झोली भर देंगे? घूम रहा हूं पीछे तुम्हारे, समय बीता जाता है, जीवन का कोई भरोसा नहीं है। बोधिधर्म हंसता और कुछ भी न कहता। धीरे-धीरे हुइनेंग ने पूछना भी छोड़ दिया। पूछने में कोई सार भी न था, वह आदमी सिर्फ हंसता था। और फिर एक दिन वह घटना घटी कि आधी रात हुइनेंग उठा और बोधिधर्म को हिलाने लगा... कि कम से कम देने के पहले कह तो देते! और यह क्या व 7 चुना? आधी रात सोते में! बोधिधर्म फिर भी हंसा; उसने कहा, चुपचाप सो जाओ। फिर भी हंसा-वैसा ही हंसा जैसे पहले हंसता था। फिर अब ये बार-बार हुइनेंग उससे पूछने लगा, कुछ तो बताओ! कैसे दिया यह? यह कैसे मिला मुझे? कुछ तो पहले कहते! कुछ तो बताते! भर दिया पूरा, और खबर भी न दी! तो बोधिधर्म कहता, मुझे भी कहां पता था, किस क्षण यह घटना घटेगी! दिस ट्रांसमिशन... यह कब होगा? यह किसी को भी पता नहीं। "बट वी एंडेवर टुगेदर।" पर हम साथ-साथ चले, उठे, बैठे-साथ-साथ जिये, हो जायेगा। अगर बुझे दीये को हम जले हए दीये के पास रख दें, कब किस झोंके में, हवा की किस लहर में जलती लौ बुझे हुए दीये के करीब आ जायेगी-कब? नहीं कहा जा सकता। और कब दूसरा दीया भी जल उठेगा और ज्योति पकड़ लेगा। बस ऐसा ही... ऐसी ही घटना घटती है।
तो गुरुकहता हैः हम दोनों साथ-साथ पुरुषार्थ करें, तो शायद... शायद वह घटना घट जाये-जो नहीं दिया जा सकता वह दे दिया जाये। लेकिन वह घटना इतनी ही मांग करती है कि दो-वह जो जानता है वह और जो नहीं जानता है वह; वह जिस हम गुरू कह रहे हैं वह, और जिसे हम शिष्य कह रहे हैं वह; वे साथ होने को राजी हो जायें।
गुरू से सीखना नहीं पड़ता, गुरू के साथ होना काफी है। पर सीखना सरल और साथ होना मुश्किल। सीखने में तो हम बहुत दूर खड़े होकर सीख लेते हैं, निकट आने की कोई.जरूरत नहीं होती; साथ होने के लिए बहुत निकटता चाहिए; एक आंतरिकता चाहिए-एक भरोसा, एक ट्रस्ट, एक गहरी श्रद्धा, एक प्रेम, एक पागलपन-किसी को अपने से भी ज्यादा अपने निकट मानने की क्षमता चाहिए... तो ट्रान्समिशन होता है।
अब वह बुझा हुआ दीया डरा हुआ दूर-ूदर रहे, और अगर जले हुए दीये के पास
भी न आये, और अगर जले हुए दीये की लपट कभी उसके पास जाये तो लपट से डरकर और दूर सरक जाये, तो कठिन हो जाता है।
तो गुरू कहता है इतना ही, ऋषि कहता है इतना ही-"हम दोनों साथ ही पुरुषार्थ करें।"
वह यह नहीं कहता कि शिष्य पुरुषार्थ करे। इतना ही उचित था। नहीं? इतना
ही काफी था।
सभी गुरू शिष्य से कहते हैं-मेहनत करो, श्रम करो; कोई गुरू नहीं कहता
कि हम दोनों साथ ही पुरुषार्थ करें। क्योंकि, ध्यान रहे, शिष्य का निकट होना ही काफी नहीं, गुरू का निकट उपलब्ध होना उससे भी ज्यादा.जरूरी है। बुझे हुए दीये की लौ बिल्कुल पास भी आकर बैठ जाये लेकिन जले हुए दीये को लौ

अकड़ से भरी हो और हवा के झोंके में झुकती ही न हो, अपनी अकड़ में बंद हो, क्लोज्ड़ हो, तो कुछ भी न होगा।
गुरू अपने को गुरू समझता हो तो कुछ भी न होगा; क्योंकि वह देने को तैयार है, लेकिन साथ होने को तैयार नहीं है... और साथ हुए बिना दिया नहीं जा सकता।
इसलिए पुराना साधक जब खोजने जाता था, तो जिस जगह वह अपने गुरू के पास रहता था उसको कहते थेः गुरुकुल-द फॅमिली ऑफ द मास्टर। वह केवल गुरू का परिवार था; उसमें जाकर वह सम्मिलित हो जाता था-ए मेम्बर ऑफ द फॅमिली। इकट्ठा हो जाता था, एक हो जाता था। पर यह निकटता दोहरी है; सभी निकटताएं दोहरी होती हैं। इसलिए गुरू कहता है, हम दोनों एकसाथ पुरुषार्थ करें- पराक्रम करें, श्रम करें, साधना करें।
गुरू की भी बड़ी साधना है। सभी जाननेवाले गुरू नहीं हो पाते; इसे ठीक
से समझ लें। इस जमीन पर बहुत लोग जान लेते हैं, लेकिन जना नहीं पाते। जान लेना इतना कठिन नहीं...
बुद्ध से किसी ने आकर पूछा है एक दिन कि ये दस हजार भिक्षु हैं आपके पास, वर्षों से आप इन्हें समझाते, सिखाते, चलाते साधना के पथ पर, कितने लोग इनमें से आप जैसे हो गये? कितने लोग बुद्ध बन गये?
स्वभावतः, प्र Ü न बिल्कुल उचित है; बुद्ध की परीक्षा है इसमें कि कितने लोगों को बुद्ध बनाया!
बुद्ध ने कहा कि इनमें बहुत लोग बुद्ध हो गये हैं। तो उस आदमी ने पूछा
कि एक भी दिखाई नहीं पड़ता। तो बुद्ध ने कहा, क्योंकि वे गुरू नहीं हैं। जाग जाना एक बात है, लेकिन दूसरे को जगाना बिल्कुल दूसरी बात है। .जरूरी नहीं है कि जागा हुआ दूसरों को जगा ही पाये; क्योंकि जागे हुए को भी अगर दूसरे को जगाना हो तो वहीं आकर उतरकर खड़ा हो जाना होता है जहां दूसरा खड़ा है... उन्हीं अंधेरी घाटियों में, उन्हीं लोगों के निकट जो भटक रहे हैं, उन्हीं का हाथ हाथ में लेकर। कई बार तो उसे उस यात्रा पर भी थोड़ी दूर तक उनके साथ जाना पड़ता है, जहां सिवाय नर्क के और कुछ भी नहीं है। अगर मैं आपका हाथ पकड़कर थोड़ी दूर आपके साथ चलूं, तो ही इतना भरोसा पैदा होता है कि कल अगर मैं अपने रास्ते पर आपको लेकर चलने लगूं, तो आप मेरे साथ चल पायें। शिष्य के साथ गुरू को चलना पड़ता है, ताकि गुरू के साथ शिष्य चल पायें।
और बहुत बार गुरू को ऐसे रास्ते पर चलना पड़ता है, जिस पर उसे नहीं चलना चाहिए था। जिसे बदलना है उसके पास आना.जरूरी है।
इसलिए गुरू कहता है, "हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, पुरुषार्थ करें।
हम दोनों साथ ही साधना करें।"
एक साधना है सत्य को जानने की, और एक बिल्कुल दूसरी साधना है सत्य को संक्रमित करने की-अलग, बिल्कुल अलग।
जैनों ने फर्क किया है... "केवली" उसे कहते हैं जैन, जिसने परम ज्ञान
पा लिया; "तीर्थंकर" उसे कहते हैं, जिसने परम ज्ञान पाया और जो शिक्षक भी है, गुरू भी हैत्तो वह तीर्थंकर है। तीर्थंकर और केवली में और कोई फर्क नहीं है। केवली वह है जिसने ज्ञान पा लिया-द अल्टीमेट नॉलेज उसके पास है, लेकिन वह गुरू नहीं है। ही केन नॉट ट्रान्सफर; वह दूसरे को नहीं दे पाता। उसे समझ ही नहीं पड़ता कि दूसरे को कैसे दे?
इसे ऐसा समझें। इस जमीन पर ऐसे बहुत कम लोग हैं जिनके जीवन में कविता
का जन्म नहीं होता; कभी न कभी कोई गीत की कड़ी भीतर गूंजकर जन्म लेने लगती है, लेकिन कवि बहुत कम हैं। गुनगुनाहट तो बहुत लोगों को होती है, लेकिन इससे ही कोई संगीतज्ञ नहीं हो जाता। अगर आपके भीतर संगीत भी जन्म जाये, तो भी आप उसे गा पायेंगे बाहर, यह.जरूरी नहीं है। इसलिए बहुत बार आपको ऐसा लगता है किसी की कविता को देखकर कि अरे, यह तो वही है जो मैने कभी बनाई होती; यह गीत वही है जैसा मैंने गाया होता; यह धुन तो ठीक वही है जो कई बार मेरे भीतर गूंज गयी जिसे मैं बाहर नहीं ला पाया। किसी चित्रकार का चित्र देखकर कभी लगता है कि यह तो मैं भी चित्र बनाना चाहता था, किसी और ने बनाया। सच तो यह है कि जब आप किसी का चित्र पसंद करते हैं, तो उस पसंद का

इसके सिवाय और कोई मतलब नहीं होता कि अगर आप बना सकते तो आप ने इसे बनाया होता-आपकी ही प्रतिध्वनि है, लेकिन आप नहीं कर पाये।
बहुत बार सत्य तो ज्ञात हो जाता है, ज्ञान का आविर्भाव होता है, जन्म होता है, लेकिन उसे दूसरे तक कैसे पहुंचायें? हाऊ टू कम्यूनिकेट इट? कैसे दूसरे तक संवादित करें?
गुरू बड़ी अलग बात है। और गुरू वही हो सकता है जो शिष्य के साथ पुनः साधना करने को तैयार है-पुनः! गुरू वही हो सकता है जो शिष्य के साथ पहले कदम से फिर चलने को राजी है-अ, ब, स से फिर यात्रा शुरू करने को राजी है; फिर शिष्य का हाथ पकड़कर जो वहां से शुरू कर सकता है, जहां से उसे अब शुरू के करने की कोई.जरूरत नहीं। जो मंजिल पर खड़ा है, और मंजिल पर खड़े होकर जो यात्रा के पहले कदम को उठाने का शिष्य के साथ साहस जुटा सकता है, वही केवल गुरू हो पाता है।
इसलिए गुरू कहता है, "हम दोनों साथ ही पुरुषार्थ करें। हम दोनों की विद्या तेजस्वी हो।"
... "हम दोनों की"-कहे ही चला जाता है... "हम दोनों की विद्या तेजस्वी हो।"
एक मजे की बातः बहुत बार तो ऐसा होता है कि गुरू खुद शिष्य को समझाते दफे पहली दफा बहुत सी बातें समझ पाता है-पहली दफा। बहुत बार किसी को समझाना ही स्वयं को समझाने का सुगमतम मार्ग है। बहुत बार सत्य की जब अनुभूति भीतर होती है तो अनुभूति तो हो जाती है, लेकिन अनुभूति करने वाला खुद भी उसे पूरा नहीं समझ पाता कि क्या हो गया।
क्या हुआ? घट गयी घटना? सात दिन बुद्ध सोचते रहे... क्या हुआ? अवाकहो जाता है, जब कोई सत्य के समक्ष खड़ा होता है पहली बार। दिखता है सब, समझ कुछ भी नहीं आता-सब समझ आता है, फिर भी कुछ समझ नहीं आता; कुछ पकड़ नहीं आता, क्या हो गया? जो कल तक था, नहीं है; जो नहीं था, वह है; जिसे माना था कि यह यथार्थ है, वह स्वप्न हो गया; जिसे कभी स्वप्न में भी नहीं जाना था वह आज सत्य की तरह सामने खड़ा है; जो खोजने निकला था वह खो चुका है-और जिसे यह मिला है सत्य, यह कौन है, यह भी समझ में नहीं आता।
मिस्टर इकहार्ट को जब पहली बार समाधि का अनुभव हुआ, तो उसने दो सवाल पूछे-उसने एक सवाल यह पूछा कि यह क्या हो रहा है; और दूसरा सवाल यह पूछा कि यह किसको हो रहा है। तो उसका एक शिष्य करीब था, इकहार्ट का; उसने कहा, कम से कम एक बात तो मैं भी आपको कह सकता हूं कि यह आपको हुआ है; यह क्या आप पूछते हैं कि किसको हुआ है? इकहार्ट ने कहा, तुझे पता नहीं, क्योंकि जो खोजने निकला था वह इस होने में कहीं खो गया; और जिसको यह हुआ है वह उतना ही अपरिचित है मुझे, जितना यह... जो हुआ है।
बहुत बार तो जब वह दूसरे को समझाने जाता है तभी उसे साफ होता है कि क्या हुआ है!
तो गुरू कहता है, हम दोनों की विद्या तेजस्वी हो; हम दोनों का जानना प्रखर होता जाये। हमारे जानने की धार तेज हो; हमारे ज्ञान की ज्योति और चमके... यह चमकती ही चली जाये।
ऐसा कोई क्षण नहीं आता जहां परमात्मा से यह कहा जा सके-बस, अब काफी है। ऐसा कोई क्षण आता ही नहीं... कि जब कोई परमात्मा से कह सके कि बस, अब चाहो तो मेरी बुद्धि को जंग मारो... चलेगा। नहीं, ऐसा कोई क्षण आता ही नहीं। विद्या ऐसी तलवार है जिस पर धार पर धार रखी जा सकती है। अनंत-अनंत धारें और फिर भी- फिर भी और कुछ चमकने को सदा शेष रह जाता है। यही अनंतता है, यही असीमता है। इसलिए गुरू अभी भी कहता हैः हम दोनों की विद्या तेजस्वी हो। असल में गुरू यह कहता है कि कोई कारण नहीं है मानने का कि मैं ज्ञानी हो गया हूं- अभी भी ज्ञान चाहिए; अभी भी अज्ञान है।
शायद जो जानता है उसे जितना अज्ञान दिखाई पड़ता है उतना अज्ञानी को नहीं दिखाई पड़ता। अभी भी है। और ऐसा न समझें कि.जरूरी है कि अज्ञान रहा हो। ऐसा न समझें कि.जरूरी है कि इस व्यि7 को विद्या की और तेजस्विता चाहिये हो। पर यह प्रार्थना प्रीतिकर है और सांकेतिक है। यह कहती है कि प्रतिभा सदा ही विनम्र है; और प्रतिभा प्रार्थना करने में संकोच नहीं

करती है! सिर्फ कमजोर प्रार्थना करने में डरते हैं। कमजोर मांगने तक की हिम्मत नहीं जुटा पाते। जिससे सब कुछ मिल सकता है उसके सामने भी वे ऐसे खड़े रहते हैं जैसे उनके पास सब कुछ है। उसके द्वार पर भी वे अपनी अकड़ को कायम करके वापस लौट आते हैं-भिक्षा का पात्र पीछे छिपा रखते हैं कि कहीं वह आगे दिखाई न पड़ जाये।
लेकिन जो जानता है, वह यह भी जानता है कि जानना कोई स्टैटिक, कोई थिर घटना नहीं है; कोई तालाब जैसी घटना नहीं है बंद-जानना एक सरित प्रवाह है- कोई अंत नहीं है, कोई अंत नहीं है... नदी की धार की तरह बढ़ता जाता है, बढ़ता जाता है, बढ़ता जाता है। यही है गरिमा... कि ज्ञान का कोई अंत नहीं है। अगर ज्ञान का भी अंत आ जाये, तो ज्ञान मुर्दा हो जाये। ज्ञान का फूल खिलता ही जाता है, खिलता ही जाता है-ऐसा समझें कि खिलता ही जाता है-और पंखुरियां, और पंखुरियां... और ऐसा कोई क्षण नहीं आता, जिस क्षण हम कह सकें कि यह फूल हो गया, यह सदा कली ही रहता है-कितना ही खिल जाये, फिर भी कली रहता है।
"... हम किसी से द्वेष न करें।"
जानने की इस यात्रा में हम किसी से द्वेष न करें, इसकी.जरूरत क्या? इररिलेवेन्ट मालूम होता है, असंगत मालूम होता है-अचानक, एकदम... जैसे बात कहां चलती थी और कहां पहुंच गयी! सत्य की खोज है, अज्ञात की यात्रा है, ठीक है; तेजस्विता चाहिए प्रतिभा की, मेधा चाहिए; जाग्रत चैतन्य चाहिए, ठीक है; गुरू-शिष्य साथ पुरुषार्थ करें, ठीक है-पर अचानक... हम किसी से द्वेष न करें, इसकी क्या संगति? इसका क्या रिलेवेन्स? यह दूसरे से द्वेष की क्या बात? यह हम समझ लें।
ऋषि-वचन कभी भी असंगत नहीं होते-बिल्कुल असंगत दिखाई पड़ते हों... तो भी। और ऐसा भी लगता हो कि ऋषि एक जगह से दूसरी जगह छलांग लगा गया हो, और बीच में कोई सेतु नहीं है, बिल्कुल दिखाई पड़ता हो... और उपनिषदमें बहुत मौके आयेंगे ऐसे, जब दिखाई पड़ेगा कि यह बात तो बिल्कुल कहीं से कहीं पहुंच गयी; इसमें बीच में कोई तुक नहीं, कोई जोड़ नहीं, तब भी थोड़ा जल्दी मत करना, क्योंकि ऋषि कुछ आंतरिक जोड़ जानते हैं जो हमें दिखाई नहीं पड़ते; उन्हें कुछ सेतु मिले हुऐ हैं, जो हमें अदृश्य हैं। वे कुछ भीतरी संगतियां समझते हैं, जो हमारी बुद्धि में अब तक प्रवेश नहीं कर पायीं।
... "हम किसी से द्वेष न करें।"
असल में जब भी कोई आदमी किसी भी चीज की खोज पर जाता है तो अक्सर दूसरे
के द्वेष के कारण जाता है; दूसरे की ईर्ष्या के कारण जाता है। सत्य की खोज तक में आदमी दूसरे की ईर्ष्या में जा सकता है। ज्ञान की आकांक्षा भी दूसरे की ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा हो सकती है।
एक मित्र मेरे पास आठ दिन पहले ही आये थे; वे कहने लगे कि बड़ी अशांति रहती है, बड़ी बेचैनी रहती है। यह परमात्मा को कैसे पाया जाये? मैंने उनको कहा कि यह अशांति किस कारण रहती है-परमात्मा की कोई प्यास है भीतर, इसलिए अशांत हैं? कोई पीड़ा है भीतर... कि वही है जीवन का मूल्य, वही है अर्थ? उसको नहीं पायें तो व्यर्थ है, ऐसी कोईप्रतीति है? कोई स्वाद मिला है जीवन में कभी परमात्मा का, उस स्वाद की याद्दाश्त पीछा करती है-खींचती है, बुलाती है फिर-फिर? किसी झरोखे से कभी दर्शन हुए हैं उसके-थोड़े बहुत ही सही, दूर से ही सही... कि फिर अब उसे भूलना मुश्किल हो गया? और बार-बार, बार-बार वही झरोखा ख्याल में आता है कि वहीं कैसे पहुंच जायें?
उन्होंने कहा, यह कुछ भी नहीं। जब आपको मिल सकता है तो मुझे क्यों नहीं मिल सकता? जब रामकृष्ण को मिल सकता है तो मुझे क्यों नहीं मिल सकता? और जब रमण को मिला तो मेरा ही क्या कसूर? तो आप सब लोगों की बातें सुन-सुनकर ही बेचैन हूं। ऐसे न मुझे कोई स्वाद है, न कोई प्यास है; मुझे यह भी पक्का भरोसा नहीं आता कि है भी, या नहीं है।
तो आपको दिखाई न पड़े, लेकिन ऋषि ठीक प्रार्थना कर रहा है; वह कह रहा हैः हम किसी से द्वेष न करें-हम इस कारण तेरी खोज में न आ जायें कि कोई और लोग भी तेरी खोज कर लिए तो हम कैसे पीछे रह सकते हैं?
हम सब एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा में लगे हैं-मकान और फर्नीचर की ही नहीं, परमात्मा की भी। अगर मनुष्य जाति के इतिहास से सौ नाम अलग कर दिये

जायें तो हमें ईश्वर का ख्याल ही शायद भूल जाये। वे सौ लोग हममें बड़ी ईर्ष्या जगाते हैं। एक बुद्ध पैदा हो जाता है और हमारे प्राण बड़े संकट में पड़ जाते हैं... कि अगर इस आदमी को मिल गया, तो मैं कैसे पीछे रह सकता हूं? तो हम पहले तो सब उपाय करते हैं कि इसको मिला नहीं; वह हमारी तरकीब है- सेल्फ डिफेन्स। पहले तो हम सब उपाय करते हैं कि मिला-विला नहीं... एक दिन मैंने देखा, यह आदमी बिल्कुल गुस्से से देख रहा था; एक दिन मैंने देखा कि यह बहुत बढ़िया, सुस्वादु भोजन कर रहा था; एक दिन मैंने देखा कि इस आदमी में भी अहंकार मालूम पड़ता है। पहले तो हम समझाने की सब अपने को कोशिश करते हैं कि इसको मिला नहीं, ताकि यह द्वेष की झंझट से हम बचें; ताकि यह प्रतिस्पर्धा हममें पैदा न हो, लेकिन ये बुद्ध जैसे लोग मानते ही नहीं; वे हमारी फिक्र नहीं करते। वे अपने ढंग से जीये ही चले जाते हैं। फिर धीरे- धीरे हमको बेचैनी होने लगती है कि मालूम होता है कि इसको मिल ही गया। हम सब उपाय कर लिए, इसको कोई फिकर नहीं होती-लगता है, इसको कुछ मिल ही गया। हम पत्थर मारकर जांच कर लेते हैं, जहर पिलाकर जांच कर लेते हैं, सूली लगाकर जांच कर लेते हैं-हम सब कर लेते हैं, फिर हमें शक बढ़ने लगता है; फिर एक दिन हमें लगता है कि नहीं, इसको मिल गया है। तब तत्काल हमारी दौड़ शुरू होती है कि अब हमें कैसे मिल जाये।
सत्य की खोज में भी लोग द्वेष से जाते हैं, यह सोचकर कठिनाई मालूम होगी, लेकिन यही है सच। वहां भी ईर्ष्या है। हम दूसरे को धनी तो देख ही नहीं सकते, दूसरे को ज्ञानी भी नहीं देख सकते। हम, दूसरा कुछ पा ले यह देख ही नहीं सकते।
तो ऋषि कहता हैः "हम किसी से द्वेष न करें।"
यह असंगत नहीं, बहुत संगत है। क्योंकि जो द्वेष से जा रहा है परमात्मा
की तरफ, वह द्वेष से और कहीं भी पहुंच जाये, परमात्मा तक नहीं पहुंच पायेगा। द्वेष से धन तक पहुंचा जा सकता है। कोई कठिनाई नहीं है। सच तो यह है कि बिना द्वेष के धन तक पहुंचा ही नहीं जा सकता। संसार में कोई भी यात्रा करनी हो तो प्रतिस्पर्धा अनिवार्य है। और जितना जहर हो आपकी प्रतिस्पर्धा में, उतने शायद आप सफल हो जायें। दूसरे से जितनी ज्यादा गहन ईर्ष्या हो, जलन हो, उतनी ही आपके पैरों में ताकत आ जाती है। लेकिन परमात्मा की तरफ नहीं... क्योंकि जिसे अभी दूसरा दूसरा दिखाई पड़. रहा है उसे परमात्मा दिखाई नहीं पड़ सकेगा। और जो अभी दूसरे के ज्ञान से आनंदित नहीं होता, उसे अभी ज्ञान की प्यास भी पैदा नहीं हुई।
एक और तरह का आदमी भी है जो बुद्ध के पास जाकर इस फिकर में नहीं पड़ता
कि इसको मिला या नहीं मिला। जो इस चिंता में-जो इस चिंता मे नहीं पड़ता कि इसको मिला या नहीं मिला, वह इस चिंता में भी कभी नहीं पड़ता कि इसको अगर मिला है तो मुझे मिलना चाहिए। नहीं, वह बुद्ध की सुगंध से आह्लादित होता है; वह बुद्ध के संगीत से प्रभावित होता है; वह बुद्ध को देखकर आश्वस्त होता है, ईर्ष्या से नहीं भरता। बुद्ध को देखकर वह आश्वस्त होता है। वह कहता है कि ठीक है, जो प्यास मेरे भीतर थी, इस आदमी में वह सागर तक पहुंच गयी। तो मैं अपनी प्यास का पीछा कर सकता हूं भरोसे के साथ। वह बुद्ध को देखकर एक श्रद्धा को उपलब्ध होता है-इस श्रद्धा को कि असंभव भी संभव है; इस श्रद्धा को कि जो बहुत दूर है, वह भी बहुत पास है। बुद्धत्व तो बहुत दूर है, लेकिन बुद्ध तो बहुत पास हैं, उनके चरण तो हाथ में लिये ही जा सकते हैं। और अगर बुद्ध के चरण हाथ में लिये जा सकते हैं तो आज नहीं कल, बुद्धत्व भी पास आ सकता है-इस श्रद्धा को।
तब द्वेष नहीं है कोई, तब सिर्फ धन्यवाद है, अनुग्रह है-इसमें भी कि किसी का फूल खिल गया तो वह अनुगृहीत होता है, क्योंकि उसे अपनी कली का भी ख्याल आ गया, स्मरण आया अपना; अपनी सुध आयी, सुरति जगी। तब जो यात्रा है वह द्वेष की यात्रा नहीं है। वह बड़े आनंद की, बड़े प्रेम की, दूसरे से असंबंधित यात्रा है।
इसलिए ऋषि कहता है, हम किसी से द्वेष न करें।
दूसरे से द्वेष न हो, अपनी ही प्यास हो, तो मनुष्य अत्यंत सरलता से उस जगह पहुंच जाता है, जहां जाकर वह कह सके-"ओमशांति।"

... जहां वह कह सके कि सब शांत हुआ; सब विराम को उपलब्ध हुआ; सब आनंद हुआ। यह उपनिषदका सूत्र...
कल सुबह के लिए दोत्तीन-चार सूचनाएं आपको दे दूं, फिर हमारी रात की बैठक पूरी हो।
एक तो पहली सूचना पूरे शिविर के लिए। इन आनेवाले सात दिनों मे आपको इस भांति जीना है कि आपकी जीवन-ऊर्जा कम से कम व्यय हो।... कम से कम व्यय हो, क्योंकि हम यहां जिस दिशा में खोज करने आये हैं उसके लिए इतनी जीवन-ऊर्जा चाहिए कि आप अगर व्यर्थ व्यय करें तो आपके पास शि7 नहीं होगी उस खोज में जाने के लिए। तो आपके दीये का तेल कहीं और जल जाये, तो फिर जिस ज्योति को जलाने के लिए आप इकट्ठे हुए हैं, वह न जल पायेगी; आपके दीये का तेल बचना चाहिए।
तो इन सात दिनों के लिए बिल्कुल ही जितनी ऊर्जा संरक्षित कर सकें, करें। इस ऊर्जा के संरक्षण के लिए अपनी इंद्रियों के द्वार जितने बंद कर सकें, कर लें; क्योंकि वे ही आपकी शि7 की ऊर्जा, ऊर्जा की क्षय करने की व्यवस्थाएं हैं। जितनी ज्यादा आंख बंद रख सकें, आंख बंद रखें।
तो आप, कल सुबह आपको पट्टियां मिल जायेंगी या शायद अभी मिल जायेंगी।
तो आप चौबीस घंटे... जब आपको चलने के लिए.जरूरत हो तो थोड़ी सी आंख से पट्टी हटा लें और उतना ही देखें चार कदम, जितना काफी है... पांचवां कदम भी मत देखें, बस चार कदम जमीन देखकर चलते हुए आ जायें। जैसे ही आ जायें जगह पर, आंख बंद कर लें, पट्टी नीचे सरका लें। पूरे दिन सुबह से दिन भर आपकी आंख पर पट्टी होनी चाहिए। आपकी आंख आपकी शि7 का अधिकतम व्यय करती है; उसे भीतर इकट्ठा करें। और आंख की शि7 सर्वाधिक इकट्ठी करनी.जरूरी है, क्योंकि जिस चीज को हम देखने चल रहे हैं, उसमें भीतरी आंख का उपयोग करना है। और शि7 वही है... जो बाहर की आंख के काम में आती है, वही भीतर की आंख के काम में आती है-द सेम इनर्जी हे.ज टू बी यूज्ड़।
इसलिए तो हम कहते हैं ऋषि को द्रष्टाः देखनेवाला। इसलिए हम उस अनुभूति को कहते हैं दर्शन। भीतरी आंख को वह शि7 मिल जानी चाहिए जो आपकी बाहरी आंख को मिल रही है, इसलिए आंख को बंद कर लें। सात दिन आंख की सारी शि7 भीतर जा रही है। आंख को बंद करें और दिन भर यह ख्याल करें कि आपके दोनों आंखों की जो शि7 है वह दोनों आंखों के बीचत्तीसरी आंख की तरफ, दोनों भोहों के बीच में, माथे में-उस तरफ बह रही है। जब भी आपको ख्याल आ जाये... आंख बंद है, आप खाली बैठे हैं, ख्याल करें कि दोनों आंखों की शि7 भीतर, तीसरी आंख की तरफ, दोनों आंखों के मध्य में बह रही है-उस तरफ जा रही है; दोनों तरफ से बहती हुई तीसरी आंख में प्रवेश कर रही है। तो आपके ध्यान में अभूतपूर्व गति हो सकेगी-एक।
जहां तक बने कान बंद रखें, कुछ मत सुनें; क्योंकि जिसे भीतर की ध्वनियां सुननी हैं, उसे बाहर के सुनने से थोड़ा विश्राम ले लेना.जरूरी है। नहींतो भीतर की ध्वनियां हैं बहुत सूक्ष्म, और बाहर का उपद्रव है भारी, वे सूक्ष्म ध्वनियां हमें सुनाई भी नहीं पड़तीं। तो थोड़ा ट्यून करना.जरूरी है।
तो बाहर से कान बंद रखें, रूई डाल लें, कुछ भी डाल लें; कान बंद रखें,
दिन में जितने समय आपको कान की कोई.जरूरत नहीं-और मुश्किल से दो-चार मिनिट .जरूरत पड़ेगी कान की, बाकी कोई.जरूरत नहीं है आपको। मेरे अलावा आप जहां भी हैं, कान का उपयोग मत करें, बंद रख लें-और पूरे समय ख्याल रखें कि कुछ भीतर तो नहीं हो रहा है जो सुना जा सके-बस, जस्ट ए रिमेम्बरिंग... कि कुछ भीतर तो नहीं है जो सुना जा सके। और आपकी कान की ऊर्जा भीतर की तरफ बहनी शुरू हो जायेगी; और आपको ध्यान में भीतर की ध्वनियां सुनाई पड़ सकेंगी, और भीतर के दृश्य दिखाई पड़ सकेंगे।
कान, आंख और आपके ओंठ। तीसरी चीज... ओंठ बंद रखें; कम से कम बोलें। न बोलें, इससे बेहतर और कुछ नहीं-बिल्कुल न बोलें, चुप रहें; क्योंकि कान और आंख के मामले में तो आपको मैं कह सकता हूं, आप मु7 हैं-अगर चाहें तो आंख खुली रखें, और चाहें तो कान खुले रखें; नुकसान आपका ही होगा सिर्फ। लेकिन ओंठ के मामले में आप दूसरे को भी नुकसान पहुंचाते हैं। इसलिए ओंठ के मामले

में तो आप ट्रेसपास करते हैं। बोलें तो बिल्कुल नहीं, क्योंकि सुनना- देखना आपकी मर्जी है। जिसको जहां जाना हो, जो करना हो, कर सकता है। अगर आप ध्यान करने आये हैं, तो तो बंद रखें। अगर आप ऐसे ही भूले-भटके गलती से आ गये हैं, तो आपकी मर्जी। लेकिन अगर आप भूले-भटके भी आ गये हैं तो भी बोलने की आज्ञा आपको नहीं है; क्योंकि उसमें आप दूसरे पर हमला करते हैं-जब आप बोलते हैं तो दूसरे को भी नुकसान पहुंचाते हैं। तो कृपा करके बोलना तो बिल्कुल नहीं है।
यहां कई लोग इसीलिए आ गये होंगे कि उन्हें बहुत सी बातचीत जो वे अपने गांव में नहीं कर पाते होंगे, या शिकार नही मिलते होंगे-विक्टिम्स्-वे उनको इधर मिल जायेंगे; उनसे वे बातचीत कर लेंगे। यहां बातचीत बिल्कुल नहीं चलेगी। कैम्पस बिल्कुल चुप और सन्नाटे में होना चाहिए-आप जहां हैं, आपके कमरे में सन्नाटा होना चाहिए-न गाना, न गीत, न बात, न चीत, कुछ भी नहीं; सात दिन चुप रहें।
जिंदगी भर बात की है, क्या पा लिया? फिर सात दिन के बाद जिंदगी भर करना है। या और ज्यादा जिंदगी का इरादा हो तो बहुत ज्यादा जिंदगी करते रहना; लेकिन सात दिन मेरी मान लें, और बातचीत बंद कर दें। हो सकता है जो बोल-बोलकर नहीं जाना जा सका, वह अबोल में झलक मिल जाये। और शि7 इकट्ठी हो तो हम ध्यान में गहरे उतर सकें। ये तीन तो बिल्कुल बंद रखने हैं आपको-और चौथाः ध्यान में हम यहां काफी श्रम करेंगे, इसलिए बाहर आप जितना शारीरिक श्रम कम करें उतना अच्छा है। घूमने-घामने मत जायें कि इस स्पॉट को देखना है, उस स्पॉट को। आप थककर यहां लौटेंगे, फिर मुझसे आकर कहते हैं कि इस ध्यान में कुछ हुआ नहीं। यहां आप बिल्कुल ताजे लौटें, क्योंकि यहां काफी श्रम करना है। तो आप कहीं और न जायें; चलने-फिरने का काम अभी मत करें।
इन तीन बैठक के अलावा जितना समय आपके पास हो, वृक्षों की छाया में कहीं लेट जायें, चुपचाप पड़े रहें-विश्राम करें। ज्यादा से ज्यादा विश्राम, ज्यादा से ज्यादा इंद्रिय-निरोध।
भोजन कम से कम लें; क्योंकि बहुत ऊर्जा आपके भोजन के पचाने में ही व्यय होती है। और उस भोजन को पचाने में व्यय होती है जो सिवाय बीमारी के और कुछ पैदा नहीं करता। कम भोजन लें, हलका पेट रखें, ताकि ऊर्जा ऊपर की तरफ जा सके। जितना पेट भारी हो, ऊर्जा नीचे की तरफ बहती है, क्योंकि उसे पेट में जाना पड़ता है। इसलिए खाने के बाद नींद मालूम पड़ती है, क्योंकि मस्तिष्क को अपनी ऊर्जा पेट को दे देनी पड़ती है। तो मस्तिष्क सुस्त हो जाता है, सो जाता है। इसलिए भूखे अगर हों, उपवास अगर किया हो तो रात नींद नहीं आती। उसका कुल कारण इतना है कि ऊर्जा ऊपर की तरफ बहती रहती है और मस्तिष्क के तंतु जगे रहते हैं, क्योंकि उनमें ऊर्जा भरी रहती है। पेट की तरफ ऊर्जा ज्यादा बहे, तो चैतन्य की तरफ बहुत काम करना मुश्किल हो जाता है; इसलिए कम भोजन लें। सात दिन कम भोजन लेने से कुछ भी नुकसान नहीं होगा; फायदे.जरूर बहुत हो सकते हैं... शरीर को भी हो सकते हैं। कम भोजन लें, हलका भोजन लें। ऐसा लगे कि जैसे कुछ खाये नहीं हैं, बस इतना लें। तो... ऐसा नहीं कह रहा हूं कि बिल्कुल मत लें; क्योंकि बिल्कुल न लेनेवाला दिन भर भोजन की सोचने लगता है। लें.जरूर; कम लें।
और यह बड़े मजे की बात है कि जो ज्यादा खानेवाले हैं, उनसे अगर कहो, कम लो, तो उनको ज्यादा कठिनाई होती है; उनसे कहो, बिल्कुल मत लो तो वे जल्दी राजी हो जाते हैं। उसका कारण हैः एक अति से दूसरी अति पर जाना हमेशा आसान होता है; बीच में रुकने में मुश्किल होती है। आपसे कहो कि मिठाईबिल्कुल मत खाओ, तो आप कहेंगे, अच्छा, चलो, देखेंगे नहीं उस तरफ। लेकिन मिठाई थाली में रखी है और आपसे कहें कि बस दो चमच खा लो; तब असली कठिनाई आती है। यह तो हद हो गयी। क्योंकि टेम्पटेशन सामने है।
भोजन आप करें कम।
यह आपके सात दिन के लिए सामान्य व्यवस्था।
यहां सुबह पंद्रह मिनट कीर्तन होगा शुरू में। उस कीर्तन में सबको खड़े होकर नाचना है आनंद से। आंख पर पट्टियां रहेंगी कीर्तन में भी; दूर-दूर फैल जाना है, आंख पर पट्टियां रहेंगी और नाचना है-आनंद भाव से कीर्तन करना

है, नाचना है। पंद्रह मिनट तक आनंद में, कीर्तन में प्रवाहित होना है, वह मैं सुबह सारी बात आपको समझा दूंगा।
फिर पंद्रह मिनिट सिर्फ धुन बजती रहेगी, कीर्तन बंद हो जायेगा, फिर आपको मु7, अकेले नाचते रहना है। और फिर तीस मिनिट लेटकर मुर्दे की तरह विश्राम में पड़ जाना है। वह सुबह का ध्यान होगा।
दोपहर और रात्रि के ध्यान के संबंध में कल सुबह आपको समझाऊंगा।
एक विशेष प्रयोग और इस शिविर में जोड़ना है, वह रात आप जब बिस्तर पर सोयेंगे उस समय के लिए, वह आपको मैं समझा दूं; क्योंकि वह आज रात से शुरू करना है, और वह अनिवार्य है। क्योंकि उसे आप करेंगे तो आप इतनी ऊर्जा जगा लेंगे कि कल आपकी ऊर्जा का हम उपयोग कर सकेंगे। एक तो मैंने आपसे कहा कि ऊर्जा बचानी है, व्यर्थ खर्च न हो, वह एक बात हुई; अब मैं आपसे कहता हूं ऊर्जा जगाने का उपाय-हाऊ टू क्रियेट इट। अभी मैंने आपसे कहा कि कैसे जो आपके पास है उसको खर्च न करें ताकि वह बच जाये; और अब आपको दूसरी बात कहता हूं कि कैसे उसे भीतर पैदा करें।
मनुष्य के पास जितनी भी ऊर्जा है, वह आमतौर से साधारण दैनंदिन कामों में खर्च होती है; अगर उसमें से कुछ बच जाती है, तो वह बची हुई ऊर्जा आपके सेक्स-सेंटर पर, आपके काम-केंद्र पर इकट्ठी हो जाती है। वही बची हुई ऊर्जा आपको कामवासना में जगाती है, उत्प्रेरित करती है।
इसलिए बहुत से लोग कम भोजन करें तो ब्रह्मचर्य को साधना आसान हो जाता है; क्योंकि ऊर्जा ज्यादा पैदा नहीं होती, इसलिए काम-केंद्र को अतिरि7 ऊर्जा पैदा न होने के कारण मिलती ही नहीं। लेकिन वह ब्रह्मचर्य का धोखा है। उस में ब्रह्मचर्य में कोई बहुत सार नहीं है। वह केवल.जरूरी ऊर्जा से नीचे के तल पर जीने के कारण होता है। तीस दिन आप भोजन न करें तो आपको, परुष हैं तो स्त्री में रस चला जायेगा; स्त्री हैं तो पुरुष में रस चला जायेगा। लेकिन वह रस इसलिए नहीं चला गया कि आप बदल गये, वह रस केवल इसलिए चला गया कि जो ऊर्जा उस रस के लिए काम में आती थी वह अब पैदा ही नहीं हो रही। तीस दिन बाद आपको तीन दिन भोजन दिया जाये, तो तीस दिन का उपवास जो पैदा कर पाया वह तीन दिन का भोजन मिटा देगा; आप वापस अपनी जगह खड़े हो जायेंगे।
काम-केंद्र पर आपकी अतिरि7 ऊर्जा इकट्ठी होती है, एक बात; और दूसरी बातः काम-केंद्र ऊर्जा पैदा करने का डायनेमो है-मनुष्य के भीतर, समस्त प्राणियों के भीतर। जो सेक्स सेंटर है, काम-केंद्र है, वह हमारे भीतर शि7 को पैदा करने का यंत्र है। आप चाहें तो उस यंत्र से और भी शि7 पैदा कर सकते है। हम तो केवल उस यंत्र का उपयोग शि7 को व्यर्थ उलीचने में करते हैं, पैदा करने में नहीं करते। इस काम-केंद्र से जो ऊर्जा पैदा हो सके, और ऊपर की तरफ प्रवाहित हो सके, तो वही कुंडलिनी बन जाती है।
तो यह रात का प्रयोग आपको कुंडलिनी का प्रयोग है, और इसको अगर आपने किया तो ये सात दिन आपके अभूतपूर्व हो जायेंगे; इन्हें फिर जीवन में भूलना असंभव हो जायेगा।
रात जब आप अपने बिस्तर पर सोयें आज... और रोज... तो जैसे ही आप बिस्तर
पर सोयें जाकर-सब निपट गये हैं, अब आप नींद में जाने को हैं, संभव हो तो सारे वस्त्र अलग करके चादर ओढ़कर या कंबल ओढ़कर अंदर लेट जायें। पीठ पर लेटना आसान हो तो पीठ पर, पेट पर लेटना आसान हो तो पेट पर-वह आप तय कर लेंगे एक-दो दिन दो प्रयोग करके। सारे शरीर को ढीला छोड़ दें, आंख बंद कर लें और अपने ध्यान को सेक्स सेंटर पर ले जायें, काम-केंद्र पर ले जायें-और अनुभव करें कि काम-केंद्र आपका भीतर सक्रिय हो रहा है और उसमें शि7 परिभ्रमण कर रही है। जैसे कि पानी में कभी आपने भंवर देखे हों, जोर से पानी की लहर घूम रही है, भंवर बन गयी है। कोई भी चीज भंवर में फेंक दें तो गोल चक्कर काटने लगे, ठीक ऐसा ही भीतर अनुभव करें कि आपके काम-केंद्र पर जोर से शि7 घूम रही है। अगर उसमें एक फूल फेंक दें तो वह गोल चक्कर खाकर बीच में डूब जायेगा। ऐसा ख्याल करें। एक तीन मिनिट के ऐसे ख्याल में आपके भीतर कंपन शुरू हो जायेंगे।
वे कंपन प्राथमिक रूप से ठीक वैसे ही होंगे, जैसे कि संभोग में होते हैं; शरीर कंपने लगेगा। जब शरीर कंपने लगे तो शरीर को आप पूरा कंपन दें,

कोआपरेट करें, सहयोग करें। आप बिल्कुल ऐसा ख्याल करें कि जैसे कि आप संभोग में ही उतर रहे हैं और पूरा शरीर कंपित हो रहा है। पूरे शरीर को कंपने दें। पूरा शरीर गर्म हो जायेगा।
और जैसे ही आपको लगे कि पूरा शरीर कंपने लगा और काम-केंद्र पर ऊर्जा तेजी से चक्कर लगाने लगी, तत्काल अपने को ढीला छोड़ दें और एक ही ख्याल करें कि काम-केंद्र से ऊर्जा ऊपर की तरफ उठनी शुरू हो गयी। जैसे एक आग की लपट नीचे से चले ऊपर की तरफ। और उस ऊर्जा को मस्तिष्क के उसी केंद्र पर ले आना है, दोनों आंखों के बीच में-भ्रूमध्य मेंः थर्ड आइ सेंटर पर... नीचे से उठकार ऊपर ले आना है। वह ऊर्जा ऊपर बहने लगेगी। आप इतना ही ख्याल करें कि दोनों आंखों के बीच में आकर इकट्ठी हो गयी और अब वहां उसने घूमना शुरू कर दिया।
फिर काम-केंद्र को बिल्कुल भूल जायें और इसी आंख पर ख्याल रखे-रखे चुपचाप सो जायें। सुबह जब नींद खुले तो पहला ख्याल यही करें-दोनों आंखों के बीच में इस केंद्र का; और आप पायेंगे कि वहां सेन्सेशन हो रहा है; वहां तेजी से गति हो रही है। वहां स्पष्ट गति मालूम पड़ेगी।
यह आपको रोज रात्रि में कर लेना है-पूरे सात दिन। तो यह आपकी अतिरि7 ऊर्जा, जो कामवासना में प्रवाहित होती है, उसको ऊपर भेज देगा; और काम-केंद्र जो ऊर्जा पैदा कर सकता है, उसे पैदा कर देगा। और वह सारी ऊर्जा आपकी तीसरी आंख को मिल जायेगी। उसी तीसरी आंख पर हम सुबह के प्रयोग में काम करेंगे। इसलिए रात इस प्रयोग को कर लेना अनिवार्य है।

यह आज के लिए सूचना। अभी हम एक पांच-सात मिनट कीर्तन करेंगे। सब लोग उसमें खड़े होकर नाचेंगे, कीर्तन कर लेंगे और फिर हम विदा होंगे।

सर्वसार उपनिषद
दूसरा प्रवचन

जिज्ञासाः प्रार्थना के बाद

कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का।.विद्येति।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयं च कथम
अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमय आनंदमयकोशाः कथम।
कर्ता जीवः पन्चवर्गः क्षेत्रज्ञः साक्षी कूटस्थो।.न्तर्यामी कथम। प्रत्यगामा परमात्मा माया चेति कथम।। 1।।

बंधन क्या? मोक्ष क्या? विद्या और अविद्या क्या?
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय--ये चार अवस्थाएं क्या हैं?
अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय, ये पांच कोश क्या हैं? कर्ता, जीव, पंचवर्ग, साक्षी, क्षेत्रज्ञ, कूटस्थ और अन्तर्यामी का अर्थ क्या है?
इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा और माया--ये तत्व क्या हैं?

परमात्मा से प्रार्थना के बाद जिज्ञासा का प्रारंभ।
प्रार्थना के बाद ही जिज्ञासा हो सकती है। प्रार्थना ह्नदय को उस स्थिति में ला देती है, उस ग्राहक और संवेदनशील मनोदशा को पैदा कर देती है, जहां जिज्ञासा मात्र कुतूहल नहीं रह जाती, मुमुक्षा बन जाती है। प्रार्थना से रहित जो जिज्ञासा है वह केवल बोद्धिक खिलवाड़ है। और जिसने प्रार्थना नहीं की और पूछा है, उसने पूछा ही नहीं। जिसके घर का द्वार बंद है, अंधेरे में बैठकर जो पूछ रहा है, सूर्य क्या है, प्रकाश क्या है, वह पूछता रहे, उत्तर उसे नहीं मिल पायेगा।
और आदमी के मन का बड़े से बड़ा खेल यह है कि जब उत्तर नहीं मिलता तो आदमी खुद अपने उत्तर बना लेता है--अंधेरे में ही, बिना सूर्य को जाने ही--या तो कहने लगता है कि सूर्य नहीं है... इसलिए नहीं कि उसने जान लिया कि सूर्य नहीं है, इसीलिए चूंकि वह नहीं जान पाया, और जिसे वह नहीं जान पाया उचित है कि वह उसे इनकार कर दे; क्योंकि जिसे हम नहीं जान पाते, अगर हम उसे इनकार न कर पायें तो मन में एक बेचैनी खड़ी ही रह जाती है। इनकार करते से बेचैनी भी खो जाती है; हम अपने अंधेरे में ही आश्वस्त हो जाते हैं। लेकिन जिसने घर के द्वार नहीं खोले वह कितना ही पूछे कि सूर्य क्या है, प्रकाश क्या है, उत्तर उसे नहीं मिल सकता। नहीं मिले उत्तर तो वह यह भी कर सकता है कि इनकार भी न करे, अपने ही मन का सूर्य गढ़ ले, और कहने लगे... सूर्य है--और अपनी ही मनोरचना कर ले, अपने ही सिद्धांत निर्मित कर ले। वे सिद्धांत उतने ही झूठे हैं, जितना इनकार करना झूठा है।
अंधेरे में खड़ा नास्तिक भी उतना ही झूठा है, जितना अंधेरे में खड़ा आस्तिक झूठा है। नहीं जिसने जाना, उसका यह कहना भी व्यर्थ है कि ईश्वर नहीं है, उसका यह कहना भी व्यर्थ है कि ईश्वर है; ये दोनों बातें ही व्यर्थ हैं। और बड़ा मजा है कि अंधेरे में बड़ी कलह और बड़ा विवाद चलता है उनके बीच, जिन दोनों को ही पता नहीं है।
अज्ञात बहुत विवादग्रस्त है। अज्ञान जानता नहीं लेकिन मुखर बहुत है। विवाद तो किया ही जा सकता है, मतवाद तो खड़े किए ही जा सकते हैं। वस्तुतः अंधेरे में ही मतवाद खड़े होते हैं; प्रकाश में कोई वाद नहीं है। प्रकाश काफी है, वाद की कोई जरूरत नहीं। सब सिद्धांत अंधेरे में निर्मित होते हैं, प्रकाश में सिद्धांतों की कोई भी जरूरत नहीं। जहां सत्य प्रगट है वहां शब्द खो जाते हैं; और जहां सत्य ही समस्त है वहां सिद्धांत को बनाने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। सिद्धांत सब्स्टीट्यूट है, परिपूरक है; सत्य का पता नहीं है तो सिद्धांत बनाकर हम सत्य की जगह उसे खड़ा कर लेते है। ठीक जिज्ञासा प्रार्थना से शुरू होती है--जब मैं ऐसा कहता हूं तो उसका अर्थ यह है... कि जो सूर्य को जानने चला है, कम से कम एक शर्त पूरी कर दे कि

अपने मकान के द्वार खोल दे; सूर्य को जानने की आकांक्षा जगी है तो कम से कम अपने द्वार-दरवाजे तो खोल ले ताकि सूर्य उत्तर देना चाहे तो उत्तर दे सके। सूर्य की शक्ति विराट है, लेकिन फिर भी आपका द्वार तोड़कर भीतर प्रवेश नहीं करेगी; आपके दरवाजे पर थपकी भी सूरज नहीं देगा। इस जगत में सत्य किसी के जीवन में ट्रेसपास नहीं करता, किसी के जीवन का अतिक्रमण नहीं करता; सत्य किसी के जीवन में किसी भी भांति की गुलामी नहीं लाता, बंधन नहीं लाता, इसलिए सत्य मुक्ति है। सत्य जबरदस्ती आरेपित नहीं होता। जब तक आप ही तैयार न हों, सत्य आपके द्वार पर खड़ा रहेगा, लेकिन थपकी भी नहीं देगा, द्वार को, खटखटायेगा भी नहीं। आपकी तैयारी, आपका ह्नदय से दिया गया निमंत्रण ही उसका आगमन बन सकता है।
लेकिन आपके निमंत्रण का क्या अर्थ है, जब तक आपका द्वार खुला न हो! जिस अतिथि को आप पुकारते हैं, उसके लिए द्वार पर बैठकर प्रतीक्षा भी तो करनी चाहिए। इसलिए प्रार्थना से प्रांरभ है।
प्रार्थना है ह्नदय के व्दार को खोलने की विधि।
अगर प्रार्थना से रहित जिज्ञासा है, तो वह जिज्ञासा खोज की कम, संदेह
की ज्यादा होती है। वह इसलिए नहीं होती है कि हम खोजने निकले हैं, वह इसलिए होती है कि हम संदेह करने निकले हैं। और जो संदेह करने ही निकला है, उसका संदेह रुग्ण हो जाता है, बीमार हो जाता है। लेकिन जो प्रार्थनापूर्ण ह्नदय से खोलता है द्वार, ऐसा नहीं कि उसे संदेह करने का हक नहीं रह जाता, सच तो यह है कि उसे ही संदेह करने का हक मिलता है; क्योंकि अब संदेह केवल समाधान की आकांक्षा का हिस्सा है; अब संदेह विनाशक नहीं है, सृजनात्मक है; अब संदेह इसीलिए है कि मार्ग के सब कंटक कैसे दूर हो जायें; अब प्रश्र इसीलिए है कि उत्तर कैसे निकट आ जाये। अब प्रश्न किसी बीमार चित्त की भागदौड़ नहीं, अब संदेह किसी रुग्ण चित्त का रोग नहीं, अब एक स्वस्थ व्यक्ति की खोज है।
श्रद्धापूर्ण संदेह--शब्द बहुत उलटा दिखाई पड़ेगा। लेकिन हम एक तर्क
से समझें तो ख्याल में आ जायेगा; संदेहपूर्ण श्रद्धा से समझें तो ख्याल में आ जायेगा।
हम श्रद्धा भी करते हैं तो वह संदेहपूर्ण होती है। हम किसी पर श्रद्धा भी करते हैं तो वह संदेहपूर्ण होती है; उसमें संदेह होता ही है। असल में हम श्रद्धा ही इसलिए करते हैं कि भीतर संदेह होता है, उसे दबाने के लिए श्रद्धा करते हैं। और भीतर संदेह हो, और ऊपर श्रद्धा हो, तो श्रद्धा कमजोर होती है; क्योंकि जो भीतर है वही शक्तिशाली है; जो ऊपर है वह कमजोर होगा--जो परिधि पर है वह कमजोर होगा, जो केंद्र में है भीतर ह्यदय के वही शक्तिशाली है।
तो भीतर तो संदेह होता है, श्रद्धा ऊपर से थोप लेते हैं वस्त्रों की भांति। जैसे वस्त्र आपकी नग्नता को नहीं मिटाते, केवल छिपाते हैं, ऐसे ही वस्त्रों की भांति थोपी गयी श्रद्धा भी संदेह को मिटाती नहीं, सिर्फ छिपाती है।
इससे उलटा भी होता है, जिसको मैं कह रहा हूं, श्रद्धापूर्ण संदेह। श्रद्धा तो होती है ह्नदय के केंद्र पर, परिधि पर संदेह होता है। वह संदह श्रद्धा को और प्रगाढ़ करने की यात्रा का हिस्सा है; क्योंकि जिसने संदेह ही नहीं किया वह श्रद्धा कैसे कर सकेगा? लेकिन है वह अति श्रद्धापूर्ण। बुद्ध से मौलिंकपुत्त ने कहा है--उनके एक शिष्य ने--पूछता हूं आपसे, इसलिए नहीं कि आप पर संदेह है, इसलिए कि अपने पर संदेह है; पूछता हूं आपसे, इसलिए नहीं कि आप जो कहते हैं उस पर संदेह है, बल्कि इसलिए कि आप जो कहते हैं उसे मैं समझ पाता हूं, इस पर संदेह है; पूछता हूं आपसे इसलिए नहीं... कि आप जहां पहुंच गये हैं उस पर मुझे संदेह है, पूछता हूं सिर्फ इसीलिए कि इतनी दूर की यात्रा, इतना विराट स्वप्न! मुझे अपने पैरों पर संदेह है; पूछता हूं इसलिए कि मेरा भरोसा बढ़े; पूछता हूं इसलिए कि मेरी श्रद्धा प्रगाढ़ हो।
प्रार्थना से जब भी कोई पूछता है, तो उसके ह्नदय के द्वार होते हैं खुले; संदेह लेकर वह नहीं आता, सिर्फ प्रश्न लेकर आता है।

प्रश्रों के उत्तर हो सकते हैं, संदेहों के उत्तर नहीं हो सकते; क्योंकि जिसे संदेह ही करने हैं वह आपके हर उत्तर का संदेह किए चला जाता है।
संदेह जो है, इनफाइनाइट रिग्रेस है। आप एक उत्तर देते है, उस पर उसे संदेह है; आप दूसरा देते हैं, उस पर उसे संदेह है; संदेह उसकी भूमिका है। आप जो भी कहते हैं, उस पर उसे संदेह है। तब तो कोई उपाय नहीं है; लेकिन संदेह अगर केवल खोज का हिस्सा है--जस्ट ए मेथॉडालॉजी--एक विधि... अंत नहीं, लक्ष्य नहीं, साध्य नहीं; संदेह अगर भूमिका नहीं है, भूमिका जिज्ञासा है, तो संदेह बड़ा सहयोगी है।
तो श्रद्धापूर्ण संदेह।... प्रार्थनापूर्ण जिज्ञासा।
पहला ही प्रश्र पूछता है--पहला ही प्रश्र पूछा गया है सर्वसार मेंः "बंधन क्या?"
ख्याल करें! हम भी पूछते हैं तो पूछते हैं... ईश्वर क्या? ईश्वर है या नहीं? मोक्ष क्या? ... मुक्ति है या नहीं?
आत्माक्या? ... आत्मा है या नहीं?
हम वहं से शुरू करते हैं जहां अंत होना चाहिए। बीमार आदमी पूछता है, स्वास्थ्य क्या? लेकिन समझदार सदा पूछेगा... बीमार है तो... कि बीमारी क्या है? निदान तो बीमारी से शुरू होगा। यह सर्वसार पहला प्रश्र उठाता है, बंधन क्या?
वही है रोग, वही है बीमारी; बंधे हैं हम। कारागृह में पड़ा है कोई-- जंजीरों से कसा, बेड़ियों में बंधा... वह पूछता है, स्वतंत्रता क्या? उसने कभी स्वतंत्रता जानी नहीं, समझें कि सदा से बंधा है, जन्म से ही बंधा है--जब से उसने जाना है अपने को तब से बंधा है; उसका जानना और बंधन दोनो साथ-साथ जुडे हैं; पूछता है, स्वतंत्रता क्या? समझ में शायद उसे न आ पाये; ठीक सवाल उसने उठाया नहीं। जो वह समझ सकता है, अभी उसे वही पूछना चाहिए।
बुद्धिमान खोजी वह है, जो उस सवाल को पूछता है, जिसके जवाब को अभी वह, अभी समझा सकेगा। और शायद उसे समझ ले तो दूसरी बात भी समझ में आ जाये। इसलिए पहला सवाल है, बंधन क्या? कहां मैं बंधा हूं? क्योंकि जो आदमी सदा से बंधा है उसे यह भी पता नहीं होता कि बंधन क्या है! बंधन को पहचानने के लिए भी स्वतंत्र होने का कोई अनुभव चाहिए ही। आपके हाथों में जंजीरें डाल दी जायें, आप पहचान जायेंगे कि जंजीरें डाल दी गयीं। लेकिन अगर एक बच्चा पैदाइश के साथ जंजीरों को लेकर पैदा हो, तो क्या कभी पहचाना पायेगा कि ये जंजीरें हैं? वह उसके शरीर का हिस्सा होगा। और अगर आप उसकी जंजीरें तोड़ने लगें तो वह चीखेगा, चिल्लायेगा कि मुझे मिटाना चाहते हो! ये जंजीरें उसका प्राण हैं; ये जंजीरें अलग नहीं, ये जंजीरें उसका होना हैं।
और हम ऐसे ही हैं। जब से हम हैं, जब से हमने जाना है कि हम हैं, हमारे होने का बोध और हमारा कारागृह एक साथ हैं। हमें स्वतंत्रता का कोई अनुभव ही नहीं; हमने कभी आकाश में उड़कर देखा ही नहीं; हमारे पंख कभी खुले आकाश में खुले नहीं; हमने उन्हें सदा बंद ही जाना है। हमारे पंख उड़ने के काम में भी आ सकते हैं, इसका भी हमें कोई पता नहीं। हम कारागृह में ही पैदा हुए और बड़े हुए; कारगृह ही हमारा जीवन है।
तो जो सम्यक जिज्ञासा है, वह शुरू होगी कि बंधन क्या? अभी तो हमें यह
भी पता नहीं कि गुलामी क्या है? इतने गहरे हैं हम गुलामी में, गुलामी ही हैं हम? और कैसे पहचानें कि गुलामी क्या है? एक व्यक्ति पैदा हुआ है और उसके सिर में दर्द रहा है जीवन भर, तो सिर-दर्द ओर सिर में वह फर्क नहीं कर सकता; उसने सिर को सदा दर्द के साथ ही जाना है।
पश्चिम की एक बहुत विचारशील महिला सीमान वेल ने लिखा है कि तीस साल की उम्र तक उसे पता ही नहीं था कि सिर दर्द क्या है? इसलिए नहीं कि उसे कभी सिर दर्द नहीं हुआ, इसलिए कि उसे सदा ही सिर दर्द रहा; उसने कभी जाना ही नहीं कि सिर भी बिना दर्द के हाता है। तो दर्द और सिर में कोई फर्क नहीं हो सका। तीस साल की उम्र में जब पहली दफा उसका सिर दर्द ठीक हुआ, तब उसे पता चला कि वह सिर दर्द था, सिर नहीं था।

जिसके साथ हम बड़े होते हैं, उसे हम अलग नहीं जान पाते। इसीलिए तो हम शरीर को भी अलग नहीं जान पाते, क्योंकि हम उसी के साथ बड़े होते हैं। इसलिए तादात्म्य हो जाता है, आइडेन्टिटि हो जाती है; उसी के साथ एक हो जाते हैं। इसलिए हम मन के साथ अपने को पृथक नहीं जान पाते, क्योंकि हम उसी के साथ बड़े होते हैं, तादात्म्य हो जाता है।
ऋषि पहला सवाल इस उपनिषद में उठा रहा है, वह यह कि बंधन क्या है?
ऐसा समझेंः कि ऋषि से पूछा जा रहा है, शिष्य पूछ रहा है कि बंधन क्या है? यह उपनिषद एक बहुत गहरा डायलॉग है, एक संवाद है। बंधन समझ में आ जाये... तो ही... जो सदा से बंधा है; उसे स्वतंत्रता के संबंध में कोई दर्शन, कोई स्वप्न, कोई आकार पैदा हो सकता है।
जो आदमी सदा बीमार रहा है उसके स्वास्थ्य की परिभाषा नकारात्मक ही हो सकती है। वह यही समझ सकता है कि स्वास्थ्य का अर्थ होगा, जहां यह बीमारी नहीं है। जो आदमी कारामृह में रहा है, जंजीरों में रहा है, वह स्वतंत्रता की कोई पॉजिटिव, विधायक परिभाषा नहीं समझ सकता। वह इतना ही समझ सकता है कि स्वतंत्रता का अर्थ है जहां ये जंजीरें नहीं होंगी; जहां ये कारागृह की दीवालें नहीं होंगी, जहां मुझे रोकने वाला द्वार पर कोई संगीन पहरेदार नहीं होगा; जहां मैं जहां जाना चाहूं, जो करना चाहूं, कर सकूंगा। यह नकारात्मक परिभाषा ही उसकी समझ में आ सकती है। लेकिन इस परिभाषा के पहले जेलों की दीवाल को, कारागृह को, द्वार पर खड़े संतरी की व्यवस्था को, हाथ में पड़ी जंजीरों को ठीक से समझ लेना.जरूरी है।
कॉकेशस का एक बहुत अदभूत फकीर गुरजिएफ कहा करता था कि मैंने सुना है
एक जादूगर के संबंध में उसने बहुत सी भेडें पाल रखी थीं। और रोज एक भेड़ को वह काटता और अपना भोजन तैयार करवाता। सैकडों भेड़ें यह देखती रहतीं, लेकिन फिर भी भेड़ों को याद न आती यह बात कि आज नहीं कल, हम भी काटे जाने को हैं। उस जादूगर के पास एक मेहमान ठहरा हुआ था, उस मेहमान ने कहा कि ये भेड़ें बड़ी अद्भूत मालूम होती हैं। इनके सामने ही तुम रोज भेड़ो को काटते रहते हो, फिर भी ये भेड़ें मस्त घूमती रहती हैं; इन्हें ख्याल नहीं आता कया कि हम भी कल काटे जाने को हैं? किसी भी दिन यह छुरी हमारी गर्दन पर भी पड़ेगी? उस जादूगर ने कहा कहा मैंने इन भेड़ो को बेहोश करके सभी को एक सुझाव दे रखा है, और वह यह--प्रत्येक के कान में मैंने उसकी बेहोशी में कह दिया है कि तुम भेड़ नहीं हो, बाकी सब हैं--तुम भेड नहीं हो, बाकी सब भेड़ें हैं; सब कटेंगी, तुम भर नहीं कटोगी। इसलिए ये निश्चिंत है; और ये किसी को कटते देखकर भागती नहीं हैं।
उस मेहमान ने पूछा, और भी हैरानी की बात है कि तुम इन्हें कभी बांधते नहीं! ये कभी भटक नहीं जातीं, खो नहीं जातीं? उसने कहा, मैंने इन्हें यह भी कह रखा है कि तुम परम स्वतंत्र हो, तुम बंधी हुई नहीं हो; क्योंकि बंधन से तो कोई भागता है, जब कोई स्वतंत्र ही हो तो भागने का कोई सवाल ही नहीं। बंधन हो तो भागने को ख्याल भी पैदा होता है--भाग जाओ, लेकिन बंधन हो ही न, परम स्वतंत्र हो, भागने की जरूरत ही नहीं।
गुरजिएफ कहा करता था कि आदमी करीब-करीब ऐसी ही स्थिति में है; वह अपने कारागृह को अपना महल मानता है। तो उससे छूटने का सवाल ही नहीं है--बल्कि कोई छुड़ाने आ जाये तो वह सुरक्षा का इतंजाम करेगा कि तुम हमारे दुश्मन हो, महल से छुड़ाना चाहते हो। आदमी अपनी जंजिरों को आभूषण मानता है; वह उसका श्रृंगार हैं। अगर उसके आभूषण छीनने जाओगे तो तलवार निकालकर खड़ा ही हो जायेगा।
तो हम जीसस को ऐसे ही थोड़े ही सूल पर लटका देते हैं। और सुकरात को हम ऐसे ही बेकार थोड़े ही जहर पिला देते हैं। इसीलिए कि हमारे आभूषण ये लोग छीनने की कोशिश करते हैं; ये हमारे दुश्मन हैं। जिसे वे हमारी जंजीरें कहते हैं, वे हमारे श्रृगांर हैं। और जिसे वे कहते हैं, तुम्हारा कारागृह वह हमारा राजभवन है; और जिसे वे कहते हैं, तुम्हारी गुलामी, वह हमारा जीवन है; जिसे वे कहते हैं, दुख, उनमें ही हमारा सारा सुख छिपा है।
इसलिए पहली बात, गुरजिएफ कहता था, जान लेनी.जरूरी है--अगर किसी कैदी
को मुक्त होना हो, तो पहली बात जाननी जरूरी है कि वह कैदी है; बाकी नंबर दो

की बातें हैं। किसी गुलाम को मुक्त होना हो तो उसे पहली बात जाननी जरूरी है कि वह गुलाम है। यह उसकी चेतना में इतनी गहराई से घुस जानी चाहिए, प्रवेश कर जानी चाहिए कि उसके प्राण पीड़ित हो उठें और मुक्त होने की आकांक्षा से भर जायें।... क्या है बंधन?
दूसरा प्रश्न... ठीक दूसरा तब उठ सकता है, "क्या है मोक्ष?"
"कथं बंधः--क्या है बंधन; कथं मोक्षः--क्या है मोक्ष?"
बुद्ध के पास जाकर यदि आप पूछते कि क्या है मोक्ष, तो बुद्ध कभी उत्तर नहीं देते थे; अगर आप पूछते, क्या है बंधन, क्या है मोक्ष, तो उत्तर मिल सकता था; क्योंकि जिसने अभी ठीक सवाल ही नहीं पूछा उसे ठीक जवाब नहीं दिया जा सकता। गलत सवालों के ठीक जवाब नहीं होते। और आप कया पूछते हैं, यह आपकी मनोदशा की खबर देते हैं। बंधन को समझकर ही मोक्ष को समझा जा सकता है।
और तब प्रश्र है, "विद्या कया, अविद्या क्या?"
बंधन क्या, मोक्ष क्या? विद्या क्या? क्या है ज्ञान? ठीक होता... जैसा पहला प्रश्र हैः बंधन क्या, मोक्ष क्या; हमें लगेगा, पूछना था--अविद्या क्या, विद्या क्या? लेकिन वैसा नहीं पूछा है। और यह सांयोगिक नहीं है। पहले पूछना था, अज्ञान क्या, ज्ञान क्या? वैसा नहीं पूछा है; क्योंकि यहां विद्या से प्रयोजन ही दूसरा है। यहां विद्या से मतलब है... बंधन क्या, मोक्ष क्या? और जब पूछता है, उपनिषद विद्या क्या? तो उसका मतलब हैः मुक्त होने का उपाय क्या? विद्या का मतलब ही यह होता है। विद्या का मतलब होता है, मुक्त होने का उपाय क्या। विद्या का अर्थ कभी भी यह नहीं होता, जैसा हम समझते हैं।
साधन क्या? समझ लिया, समझा कि बंधन क्या, और समझा कि मोक्ष क्या? लेकिन साधन कया?
मान लिया कि कारागृह में पड़े हैं, और मान लिया कि इस कारागृह के बाहर
एक मुक्त गगन है, और गगन में उड़ा जा सकता है; और माना कि अंधेरे की दीवालों के पार एक सूर्य भी है, और उस सूर्य के साथ एक हुआ जा सकता है; और माना कि इस देह के पार अमृत का वास है--लेकिन, मार्ग क्या? विधि क्या?
यह भी पता चल जाये कि बंधन कया है, और मोक्ष क्या है, और यह पता न हो कि द्वार कहां, मार्ग कहां निकलेंगे कैसे, पहुंचेंगे कैसे? क्या करें? तो कुछ भी नहीं हो सकेगा।
बुद्ध ने चार आर्य सत्य कहे हैं--द फोर फाउंडेशनल टरूथ्स--चार बुनियादी सत्य। और बुद्ध ने कहा है, चार को जो जान ले वह सबको जान लेता है। पहला कि आदमी दुख में है; पहला आर्य सत्यः दुख। दूसरा... कि आदमी के दुख में होने के कारण हैं अकारण दुख में नहीं है; क्योंकि अगर अकारण दुख में हो तो छुटकारे का कोई उपाय नहीं हो सकता। और तीसराः क्योंकि कारण भी हो, आदमी दुख में भी हो, लेकिन अगर कोई मार्ग और विधि न हो, तो भी दुख के बाहर नहीं हो सकता।
तो बुद्ध ने कहा, पहला सत्य, "दुख", दूसरा सत्य दुख के कारण"; और तीसरा सत्य, दुख-मुक्ति का उपाय।"
लेकिन दुख भी हो, दुख के कारण भी हों, दुख-मुक्ति का उपाय भी हो, लेकिन दुख-मुक्ति से छूटने की संभावना न हो... ऐसी कोई अवस्था ही न होती हो जहां आदमी दुख के बाहर हो जाये, तो हम एक दुख से छूटकर दूसरे दुख में पहुचं जायेंगे। तो बुद्ध ने चौथा आर्य सत्य कहा है, "दुख-मुक्ति की अवस्था है। बुद्ध ने कहा--बस, ये चार काफी हैं।
यहां विद्या से... जब पूछा जा रहा है, विद्या क्या? कैसे मुक्त हो जायें? इसका मार्ग क्या, इसकी विधि क्या, इसका उपाय क्या?
कहीं ऐसा तो नहीं है कि बंधन हैं, कारागृह है, दुख है और आदमी निरुपाय है--कोई उपाय नहीं! तो फिर संघर्ष क्या? फिर हम जहां हैं वही संतुष्ट हो जाना उचित है; फिर जो है उसी को नियति मान लेना चाहिए--वही भाग्य है; उससे बाहर होने का कोई कारण नहीं है। इसलिए फिर कारागृह को महल मानना ही उचित है--जिसमें रहना ही हो, और जिसके बाहर जाना हो ही न सकता हो, फिर उसको कारागृह मानकर अकारण दुख पाना व्यर्थ है।

ऐसे विचारक हुए हैं, जो कहते हैं--मानते हैं कि दुख है, लेकिन दुख-मुक्ति का कोई उपाय नहीं है; दुख ही जीवन का स्वभाव है; इसके पार जाया ही नहीं जा सकता।
यूनानी विचारक हुआ है डायोजनिज। यूनान के सम्राट ने डायोजनिज से मुलाकात ली है, और डायोजनिज से पूछा है-- कहो मुझे, जीवन का सबसे श्रेष्ठ सत्य क्या है।
टेल मी अबाउट द हायस्ट, द सुप्रीम मोस्ट ट्रुथ? सबसे श्रेष्ठ, सबसे महान सत्य क्या है? डायोजनिज ने कहा, अब उस सर्वश्रेष्ठ सत्य को पाने का, जानने का कोई उपाय नहीं, उसे छोड़ो; और नंबर दो का सत्य पूछो। सम्राट थोड़ा हैरान हुआ; उसने कहा, फिर भी नंबर एक का कहो तो। उसने कहा, नहीं, उसको जानने का कोई उपाय नहीं--बिकॉ.ज द सुप्रीम मोस्ट ट्रुथ इ.ज नॉट टू बी बॉर्न एॅट ऑल। और अब तो तुम पैदा हो ही गये! श्रेष्ठतम सत्य यह है, पैदा होना ही नहीं। यह पहला सत्य है। लेकिन अब तो कोई उपाय नहीं, तुम पैदा हो ही गये-निरुपाय है। तो नंबर दो का सत्य तुमसे कहता हूं, वह यह है कि पैदा होकर मर जाना।... पैदा होकर मर जाना!
क्यों? सम्राट ने पूछा। डायोजनिज ने कहा, जीवन और दुख एक ही हैं; मिटे बिना, बिल्कुल मिटे बिना दुख रहेगा ही। होना ही दुख है। इसके बाहर जाने का उपाय नहीं। स्वभावतः, ऐसी अगर स्थिति हो तो सिवाय आत्मघात के कोई साधना नहीं।
ऐसे विचारक हुए हैं, जो मानते हैं, दुख के बाहर जाने को उपाय नहीं; कारागृह के बाहर के बाहर जाने का उपाय नहीं क्योंकि अस्तित्व कारागृह है; इसके बाहर कोई जगह ही नहीं है।
इसलिए प्रश्न सार्थक है, विद्या क्या? मार्ग है कोई, उपाय है कोई? निरुपाय तो नहीं हैं हम? अन्यथा उचित है कि हम स्वप्न ही देखते रहें, सोये रहें, कारागृह को महल समझें, जंजीरों को आभूषण समझें। यही बुद्धिमानी है। बहुत लोग इसी बुद्धिमानी में जीते भी हैं--भुलाए रखते हैं अपने को, ताकि कारागृह का और दुख का पता न चले; क्योंकि बाहर जाने का कोई उपाय तो दिखाई नहीं पड़ता है।
"विद्या क्या और अविद्या क्या?"
अविद्या का अर्थ यहां अज्ञान नहीं है। अगर विद्या का अर्थ है विधि, उस
तक पहुंचने का मार्ग, तो अविद्या का अर्थ क्या होगा? अविद्या का अर्थ है, ऐसी विधि जो विधि मालूम पड़ती है और पहुंचाती नहीं--फाल्स मेथड्स। निश्चित ही, फाल्स मेथड्स भी हैं, मिथ्या विधियां भी हैं; ऐसे दरवाजे भी हैं, जो हैं नहीं और दिखाई पड़ते हैं कि दरवाजे हैं; और ऐसी चाबियां भी हैं, जो बिल्कुल चाबियां मालूम पड़ती हैं लेकिन कोई ताला नहीं है जिनमें वे लगें; वे लगनेवाली चाबियां नहीं हैं--उनसे आदमी जिंदगी भर खेल सकता है लेकिन कुछ खुलता नहीं।
जहां भी खोज होगी वहां झूठी तालियां और कुंजियां भी खोज ली जाती हैं; क्योंकि वे मुत मिलती हैं, सस्ती मिलती हैं, आसानी से मिल जाती हैं, बा.जार में खरीदी जा सकती हैं। जिसे हम धर्म कहते हैं, आमतौर से निन्यानबे प्रतिशत अविद्या है; क्योंकि सस्ती खोज, सस्ती चीजें पा लेने की आकांक्षा, बा.जार में झूठे मार्गों को पैदा करवा देती है।
बहुत मार्ग हैं। सबसे अधिक जो भ्रांत मार्ग हैं, वे विस्मृति के हैं... किसी भी तरह आदमी अपने को भूल जाये; तो कारागृह भी नहीं रह जाता। अगर कारागृह में एक आदमी को शराब पिला दें, तो कारागृह बचता है? नहीं, वह आदमी शराब पीकर... कारागृह भी नहीं रह जाता, वह आदमी भी नहीं रह जाता; बेहोशी में सब मिट जाता है। और शराब पिया हुआ आदमी कारागृह में सम्राट हो जाता है। और शराब पिया हुआ आदमी कारागृह के भीतर ही सोचता है, आकाश में उड़ रहा है। अब वह कुछ भी सोच सकता है, क्योंकि शराब के साथ ही स्वप्न की क्षमता मिल जाती है और सत्य का बोध खो जाता है। तो वह भगवान के दर्शन कर सकता है--जिसे अपना भी दर्शन नहीं हुआ, वह भी भगवान के दर्शन कर लेता है; जिसे अपना भी पता नहीं, वह भी परम का पता लगा लेता है। तरकीब हैं धोखा देने की।

और इस जगत में अज्ञानियों से उतना नुकसान नहीं होता, लेकिन उन ज्ञानियों से भारी नुकसान हो जाता है जो आपको झूठी चाबियां पकड़ा देते हैं। उन्हें भी चाबियां पकड़ाने का सुख है। आपको भी बड़ा सुख है--आपको भी बड़ा सुख है; क्योंकि आपको मुत में कुछ मिलता मालूम पड़ता है, जिसके लिए कुछ भी करने की.जरूरत नहीं। और अधिक लोग बिना कुछ किये पाना चाहते हैं।
आदमी का जो बड़े से बड़ा रोग है, वह आलस्य है--बड़े से बड़ा रोग--वह प्रमाद है... बिना कुछ किये मिल जाये, बिना चले मंजिल आ जाये--एक कदम भी न उठना पड़े, मंजिल ही चलती हुई आ जाये, तो इससे शुभ और क्या होगा? तो ऐसे लोगों के पास भीड़ इकट्ठी हो ही जायेगी। वह भीड़ उन्हें भी सुख देती है, क्योंकि अहंकार की तृप्ति होती है। तो एक म्युचुअल एक्सप्लायटेशन होता है, एक पारस्परिक शोषण चलता है। गुरु मिल जाते हैं, जिनके बास चाबियां हैं; शिष्य मिल जाते हैं जो इन चाबियों को खरीदने को तैयार हैं। और तब एक व्यवसाय चलता है। अविद्या का अर्थ हैः ऐसी सब विधियां, जिनसे द्वार खुलता नहीं लेकिन द्वार के खुले होने का भ्रम पैदा हो जाता है। इसीलिए पूछता है जिज्ञासु-- विद्या क्या? अविद्या क्या?
"जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय--ये चार अवस्थाएं क्या हैं?"
वस्तुतः विद्या और अविद्या का फर्क न समझा जा सकेगा, यदि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय की चार अवस्थाओं को न समझा जा सके।
भारत इस पृथ्वी पर पहला खोजी है जिसने मनुष्य के चित्त की चार दशाओं का, सर्वप्रथम, मनुष्य के चेतना के इतिहास में उल्लेख किया है। पश्चिम का मनसशास्त्र तो अभी तक जाग्रत के आसपास ही घूमता था-केवल पचास वर्ष पहले तक--उन्नीस सौ तक; जाग्रत के आसपास सारा मनोविज्ञान था। स्वप्न की बात नासमझी थी। स्वप्न की जो बात करे वह पागल था। स्वप्न में क्या रखा है? स्वप्न यानी स्वप्न ही है, उसमें रखा क्या है?
लेकिन, पिछले पचास वर्षों में जैसे-जैसे मनस्विद मनुष्य के मन को समझने में गहरे उतरे, उसके मानसिक रोगों की खोज में गहरे उतरे, वैसे-वैसे उन्हें पता चला कि जाग्रत के नीचे एक पर्त है स्वप्न की, जो जाग्रत से ज्यादा महत्वपूर्ण है, कम महत्वपूर्ण नहीं। ज्यादा! तब तक सदा यही ख्याल था कि स्वप्न यानी स्वप्न, व्यर्थ की बात है, आदमी की कल्पनाएं हैं; उन पर ध्यान देने की कोई भी.जरूरत नहीं। और पश्चिम के विचारशील लोग हंसते रहे थे पूरब पर... कि ये नासमझ स्वप्नों के संबंध में भी बातें करते हैं! लेकिन फ्रायड, जुंग और एडलर के प्रयासों का परिणाम पचास वर्षों में यह हुआ कि अब मनोवैज्ञानिक स्वप्न के अतिरिक्त और किसी की बात ही नहीं कर रहा है।
अगर आप मनस्विद के पास जाते हैं, तो वह पहले आपके स्वप्नों के संबंध में जानना चाहता है; क्योंकि वह कहता है कि आपके जाग्रत में जो घटित होता है वह बहुत ऊपरी है, उससे आपके बाबत सचाई का पता नहीं चलता; आपके स्वप्न से ही आपकी सचाई का पता चलता है। स्वप्न से और सचाई का पता! क्योंकि स्वप्न में आप धोखा नहीं दे पाते। आदमी धोखे में निष्णात हो गया है। दिन भर आप ब्रह्मचर्य की बातें कर सकते हैं, लेकिन स्वप्न आपका बता देगा कि ब्रह्मचर्य कितना गहरा है; दिन भर आप उपवास रख सकते हैं मजे से, लेकिन स्वप्न में पता चल जायेगा कि भोजन करने की वासना कितनी गहरी है।
अभी तक आदमी उपाय नहीं कर पाया कि स्वप्न में धोखा दे पाये। तो स्वप्न सचाई प्रगट कर देता है; स्वप्न में चोर चोर होता है, साधु साधु होता है। जागरण का भरोसा नहीं है; यहां चोर भी साधु होते हैं, और कभी-कभी साधु भी चोर मालूम पड़ते हैं। जागरण का भरोसा नहीं है। जागरण का कोई भरोसा नहीं, क्योंकि आदमी ने जागरण को सब भांति रंग दिया है, पोत दिया है।
तो आप जाग्रत में अपने को क्या बताते हैं, उससे ज्यादा झूठी और सपने जैसी बात दूसरी नहीं है। और सपने जैसा कोई सच नहीं है, क्योंकि अभी तक आपको कोई तरकीब नहीं मिली जिससे आप सपने में धोखा दे पायें। मिल जाये किसी दिन तो आदमी सपने भी झूठे देखने लगेगा; अभी तक मिली नहीं आपको। किसी दिन तरकीब मिल जाये तो आप सपने में भी साधु हो सकते हैं। लेकिन अभी तक आप सपने में प्रवेश नहीं कर पाते; अभी तक सपने को आप मेनेज नहीं कर पाते; अभी तक आप अपने में घुस ही नहीं पाते, आप बाहर ही खड़े रह जाते हैं। इसलिए सपना अगर आपका

पकड़ा जा सके तो आपकी ज्यादा गहरी सचाई का पता लगता है; वह दूसरी गहरी पर्त है।
आपके ऊपर एक पर्त है, वह जाग्रत है। सुबह से सांझ तक जो हम जागकर दुनिया में करते हैं वह--भजन करते, पूजा करते, प्रार्थना करते। नहीं, वह इतनी गहरी बात नहीं है। स्वप्न में क्या करते हैं आप, वह ज्यादा गहरी बात है; और आपके अंतस की स्थिति को प्रगट करती है। तो मनस्विद ने अभी माना कि स्वप्न भी एकदम स्वप्न नहीं है बल्कि जाग्रत से ज्यादा सच है।
प्रश्न है, क्या हैं ये चार? क्योंकि इन्हें समझे बिना भीतर प्रवेश असंभव है। लोग कहते हैं, आत्मा को जानना है। वे शायद सोचते हैं कि आत्मा को जान लेना सीधी कोई बात होगी। नहीं, पहले जानना पड़ेगा, जाग्रत क्या? जानना पड़ेगा, स्वप्न क्या? जानना पड़ेगा, सुषुप्ति क्या? जानना पड़ेगा, तुरीय क्या? तब... तब आत्मा में प्रवेश संभव हो सकेगा।
तुरीय ही आत्मा है।
यह बड़ी मनोवैज्ञानिक बात है। पश्चिम ने स्वीकार कर लिया कि स्वप्न महत्वपूर्ण हैं; और फ्रायड जैसे मनीषी का पूरा जीवन लोगों के स्वप्न अध्ययन करने में बीता। लेकिन अभी पश्चिम ने और तीसरी पर्त को स्वीकार नहीं किया है। अभी पश्चिम ने नहीं पूछा हैः "व्हॉट इ.ज ड्रीमलेस स्लीप?" क्योंकि उनका ख्याल है, नींद सीर्फ नींद है, जैसे उनका पहले ख्याल था कि स्वप्न सिर्फ स्वप्न है; अभी उनका ख्याल है, नींद तो सिर्फ नींद है; एक विश्राम की बात है--आदमी थक गया और सो गया। लेकिन शक पैदा होने शुरू हो गये हैं।
उन्नीस सौ पचास के बाद इन बीस वर्षों में शक पैदा हुए हैं... और ख्याल में आना शुरू हुआ है कि नींद भी सिर्फ नींद नहीं है। आज अमरीका में कोई दस बड़ी प्रयोगशालाएं काम कर रहीं हैं कि यह गहरी नींद क्या है?
इधर बीस वर्षों में उनको यह बात साफ हो गयी कि जब तक हम आदमी की नींद
को नहीं समझ लेते तब तक आदमी को समझना मुमकिन है; क्योंकि एक आदमी साठ साल जीता है तो बीस साल सोता है। यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है--बीस साल सोना, साठ साल जीने में! एक तिहाई हिस्सा सोना! तो सोने की कोई बहुत गहरी स्थिति होनी चाहिए। इसका उपयोग होगा। जीवन में यह अनिवार्य है। एक आदमी तीन महीने तक बिना भोजन के रह सकता है, लेकिन बिना नींद के नहीं; एक आदमी तीन महीने तक उपवास कर सकता है, लेकिन नींद का उपवास नहीं कर सकता।
और भी एक मजेदार बात अभी पश्चिम में उनको ख्याल में आनी शुरू हुई... कि आदमी बिना स्वप्न के भी पागल हो जायेगा, बिना स्वप्न के भी नहीं रह सकता; अगर आदमी को स्वप्न न देखने दिये जायें, सिर्फ नींद ही लेने दी जाये... तो अभी उन्होंने प्रयोग किये, क्योंकि अब यंत्र हैं उपलब्ध जिनसे पता चल जाता है कि भीतर आप कब स्वप्न देख रहे हैं, और कब गहरी नींद में हैं; वे बता देते हैं यंत्र। उनका कांटा जोर से घूमने लगता है जब आपके भीतर स्वप्न चलते हैं; क्योंकि मस्तिष्क काम करता है जब स्वप्न चलते हैं। आपकी आंख पर भी हाथ रखकर जाना जा सकता है कि रात में आप स्वप्न ले रहे हैं कि नहीं ले रहे इस वक्त, क्योंकि जब आप स्वप्न लेते हैं तो पुतली चलती है--ठीक वैसे ही चलती है जैसे कि देखने में चलती है, क्योंकि स्वप्न को देखना पड़ता है।
और धीरे-धीरे अब तो पकड़ में आता जा रहा है कि आंख की चलने की गति से तय
हो जायेगा कि आप किस तरह का स्वप्न देख रहे हैं। जब आप कोई "सेक्सुअल ड्रीम" देखते हैं कामवासना का, तो आपकी आंख की पुतली बहुत.जोर से चलती है। तो उसके वाइब्रेशंस अब ख्याल में आने शुरू हो गये... कि वह कितने तेजी से चलती है। तो बाहर बैठा आदमी भी... अब आप निश्चिंत न रहे कि आपके सपने का बाहर पता नहीं चल सकता; आपके कमरे में बैठा आदमी जान सकता है कि यह आदमी भीतर क्या कर रहा है? आज नहीं कल, हम तय कर लेंगे कि क्या... आंख की गति क्या- क्या होती है और आपके मस्तिष्क की नसों में कितने वाइब्रेशंस कब होते हैं। तो पता चल जायेगा कि इस वक्त महात्मा किस तरह का सपना देख रहा है।
तो अभी उन्हें पता चला है कि अगर आपको सपने न लेने दिये जायें, तो आदमी रात में कोई आठ-दस सपने लेता है--बीच-बीच में नींद होती है गहरी, फिर सपने आ जाते हैं। तो यंत्र बता देता है कि आप कब सपना ले रहे हैं, तभी आदमी को उठा

दिया जाता है--जैसे ही सपना लेना शुरू किया कि उसको जगा देते हैं; सपना टूट जाता है, उसे फिर सुला देते हैं--जब तक वह सपना नहीं लेता तब तक सोने देते हैं, जैसे ही सपना उसने देखना फिर शुरू किया उसे फिर जगा देते हैं। तो बड़ी हैरानी हुई कि उसे कितना ही सोने दिया जाये, लेकिन सपना न लेने दिया जाये, तो पंद्रह दिन के बाद पागलपन शुरू हो जाता है।
सपना भी इतना अनिवार्य है; नहीं तो आदमी पागल हो जाये। आप सोचते होंगे
कि सपना आपको बड़ी तकलीफ दे रहा है; आपके पागलपन का निकास है। अगर सपना रोक दिया जाये, आप पागल हो ही जायेंगे; क्योंकि वह जो भीतर रह जायेगा, फिर वह दिन में घूमने लगेगा; रात नहीं निकल पाया तो दिन में घूमेगा। अभी तो उचित है कि रात के अंधेरे में स्वप्न निकल जाता है, अगर दिन में निकला तो फिर अड़चन आयेगी।
जो क्रोध आप रात सपने में किसी की हत्या करके निकाल लेते हैं, अगर पंद्रह दिन न निकालने दिया जाये तो हत्या कर गु.जरेंगे--वह इतना इकट्ठा हो जायेगा भीतर कि फिर हत्या करनी पड़ेगी।
स्वप्न अनिवार्य है--जब तक जीवन तुरीय तक न पहुंच जाये तब तक स्वप्न अनिवार्य है। सिर्फ तुरीय पर पहुंचे हुए व्यक्ति के लिए न स्वप्न.जरूरी रह जाता है, न निद्रा.जरूरी रह जाती है, न जागृति.जरूरी रह जाती है--वह तीनों से गु.जरता है, लेकिन.जरूरी कुछ भी नहीं रह जाता; वह स्वप्न में भी जागा रहता है, वह गहरी निद्रा में भी जागा रहता है; वह जाग्रत में भी जागा रहता है। हम जाग्रत में भी स्वप्न देखते रहते हैं, और जाग्रत में भी बीच-बीच में झपकियां लेते रहते हैं।
क्या हैं ये अवस्थाएं?
इधर बीस वर्षों में उनको भी ख्याल में आना शुरू हुआ कि हमें गहरी सुषुप्ति को भी खोजना ही पड़ेगा। काश, हम आदमी की नींद को ठीक से समझ लें तो आदमी के व्यक्तित्व को और स्वभाव को समझना आसान हो जाये। नींद के भी गुण हैं, क्वालिटी.ज हैं। और सब आदमी एक सी गहरी नींद में नहीं सोते। लेकिन अभी उन्हें तुरीय का कोई ख्याल नहीं है। लेकिन जुंग ने कहा है कि हमें पूरब की सलाह माननी पड़ी कि स्वप्न मूल्यवान हैं, पूछने जैसे हैं, नहीं तो पहले पश्चिम में जब पहली दफा उपनिषदों का अनुवाद हुआ तो लोगों ने कहा, ये उपनिषद भी क्या हैं? स्वप्न क्या है, यह कोई अध्यात्म की बात है पूछना! पूछो--ईश्वर क्या है, मोक्ष क्या है, समझ में आता है... स्वप्न क्या है! यह क्या पूछ रहे हो? और यह वे हिंदू पूछ रहे हैं जो कहते हैं, जगत एक स्वप्न है! वे पूछ रहे हैं कि स्वप्न क्या है! पर जुंग ने कहा कि अब हमें स्वीकार कर लेना पड़ा है... नत मस्तक होकर... कि स्वप्न मूल्यवान हैं जागरण से भी ज्यादा।
लेकिन जुंग मर गया उसके पहले... उसे पता नहीं कि अब उनको स्वीकार करना
पड़ रहा है कि सुषुप्ति और भी मूल्यवान है। जो जितना गहरा है उतना मूल्यवान है। लेकिन अभी तुरीय का उन्हें कोई भी ख्याल नहीं है कि सुषुप्ति के पीछे भी एक अवस्था है--जो अवस्था नहीं है; जो स्वभाव है।
ये तीन अवस्थाएं हैंः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति; और चौथी अवस्था नहीं है--हमारा स्वभाव है, हमारा होना है।
तो पूछना कीमती है। इसके उत्तर फिर उपनिषद में हम एक-एक करके खोजेंगे।
"अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय-ये पांच कोष क्या हैं?" क्योंकि हम सुनते हैं कि आत्मा क्या है, खोजें--लेकिन जब तक हम यह न जान लें कि यह शरीर क्या है, तब तक हम आत्मा को न खोज पायेंगे। यह बड़ी वैज्ञानिक खोज है।
यह शरीर क्या है? और शरीर अगर एक ही होता तो आसान था, हमारे भीतर पांच शरीर हैं। उपनिषदों ने हमारे शरीर की पर्तों को पांच हिस्सों में विभाजित किया है। ऊपर जो दिखाई पड़ता है वह "अन्नमय" शरीर है; उसके पीछे छिपा हुआ-- जिसे पश्चिम के वैज्ञानिक अब "बायो-इनर्जी कहते हैं--जीव-ऊर्जा; उसे पूरब ने "प्राण" कहा है... शक्ति-शरीर है, ऊर्जा का शरीर है--इस शरीर के ठीक भीतर दूसरी पर्त पर। उसके पीछे "मनोमय" शरीर है--मन का। जिन्होंने भीतर प्रवेश-

26

यात्रा की है, वे जानते हैं कि मन भी एक शरीर है। शरीर का कुल मतलब इतना होता है कि उसकी भी एक पर्त से हम घिरे हैं--इम्बॉडिड; उसकी भी एक पर्त हमें घेरे हुए है। मन के भी पीछे एक और शरीर है, जिसे "विज्ञानमय" शरीर कहा है। जिसको हम "कांशसनेस" कहते हैं, "विज्ञान" कहते हैं। वह जो ज्ञान की क्षमता है भीतर, वह भी एक शरीर है। उसके पीछे और एक शरीर उपनिषद मानते हैं, उसे वे "आनंदमय" शरीर कहते हैं--ब्लिस बॉडी। तो वह जो हमें इस जीवन में सुख की झनकें कहीं से मिलती हैं, वह हमारे आनंदमय शरीर की घटनाएं हैं।
ये पांच शरीर हैं, इन पांच के पीछे हमारी अशरीरी आत्मा है। ये पांच घेरे हैं हमारे कारागृह के। ये पांच हमारा बंदीगृह है। ये पांच दीवालें हैं। इन पांच दीवालों के बाहर परमात्मा है और इन पांच दीवालों के भीतर भी परमात्मा है। ये पांच दीवालें गिर गयीं तो दोनों परमात्मा एक हो जाते हैं। इन पांच दीवालों के भीतर से प्रवेश करके भी हमको कभी-कभी बाहर के परमात्मा का संस्पर्श हो जाता है। और इन पांच दीवालों के भीतर प्रवेश करके भी कभी-कभी बाहर का परमात्मा हम तक भीतर अपनी किरण को पहुंचा देता है।
पर यह कभी-कभी घटता है; यह घटना कभी-कभी घट जाती है। कभी किसी के गहरे प्रेम में अचानक इन पांचों दीवालों को पार करके किसी के भीतर परमात्मा दिखाई पड़ जाता है। पर यह झलक की बात है। झलक आती है, खो जाती है। इसलिए जब हम किसी के प्रेम में होते हैं, दूसरा व्यक्ति व्यक्ति नहीं मालूम पड़ता, एकदम परमात्मा मालूम पड़ने लगता है। इसमें कहीं कोई भूल-चूक नहीं है, यह एक झलक है; लेकिन यह झलक ही है। यह पांच दीवालों को पार करके घटना घट गयी; एक थोड़ी सी सुगंध भीतर प्रवेश कर गयी। यह रोज-रोज नहीं होगी घटना। इसलिए प्रेमी पीछे बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं, क्योंकि पीछे मालूम पड़ता है, यह तो बिल्कुल साधारण आदमी है; यह तो बिल्कुल एक साधारण स्त्री है। कहां गयी वह झलक? खो गयी। वह एक क्षण की बात थी। वह कभी किसी बहुत संवेदनशील क्षण में वह झलक मिल जाती है--कभी-कभी किसी फूल को खिलते देखकर वह झलक मिल सकती है; कभी आकाश में उड़ते हुए किसी बादल को देखकर एक क्षण को आदमी पांचों शरीरों के पार झांक लेता है; कभी सुबह सूरज उगता है, और उसकी किरण शरीर को ही नहीं छूती, पांचों शरीरों को पार करके भीतर छू जाती है।
दुनिया में धर्मों की धारणाएं ऐसी ही झलकों में पैदा हुईं। कोई सुबह स्नान कर रहा है ऋषि नदी के तट पर--उगा सूरज, ताजा नहाया हुआ खड़ा है, और कोई किरण भीतर प्रवेश कर गयी... सूर्य देवता हो गया; सूर्य परमात्मा हो गया। उसके अनुभव में.जरा भी कमी न थी। लेकिन अब कोई आदमी जाकर हाथ जोड़कर खड़ा है क्योंकि सूर्य देवता है, उसे कुछ समझ में नहीं आता। विज्ञान की किताब में पढ़ता है कि सिर्फ एक आग का तपता हुआ गोला है और कुछ भी नहीं। यह समझ में आता है; यह देवता बिल्कुल समझ में नहीं आता।
तो समाजशास्त्री कहते हैं कि जो लोग सूरज को देखकर डर गये होंगे, उन्होंने समझ लिया होगा कि सूरज देवता है। ये सब धर्म भय से पैदा हो गये। आग को देखकर कोई डरा होगा, भयभीत हुआ होगा, तो उसको फुसलाने के लिए, आदर देने के लिए कि आग नुकसान न करे, सूरज नुकसान न करे, लोग हाथ जोड़कर घुटने टेककर खड़े हो गये। गलत है यह ख्याल।
ये पांच शरीर जाने जायें तो अंतर्यात्रा है।
"कर्ता क्या? जीव क्या? पंचवर्ग क्या? क्षेत्रज्ञ क्या? साक्षी क्या? कूटस्थ क्या? अंतर्यामी क्या? इनके क्या अर्थ हैं? इसी प्रकार, जीवात्मा परमात्मा और माया--ये तत्व क्या हैं?"
ये... ये प्रश्न उपस्थित किये हैं प्राक्कथन मे, फिर उपनिषद इनके उत्तरों में प्रवेश करेगा।
सुबह की इस चर्चा में तो हम प्रश्नों को ही ठीक से समझ लें; प्रश्न करनेवाले मन को समझ लें; प्रश्न की सम्यक दिशा को समझ लें। उत्तर इतने कठिन नहीं, असली बात प्रश्न है; क्योंकि प्रश्न करनेवाले में ही उत्तर को जन्म लेना होता है। उत्तर कहीं बाहर से नहीं आता; उत्तर कहीं बाहर नहीं है, उत्तर आपके भीतर है। अगर ठीक प्रश्न आप पूछ सकते हैं तो आपके भीतर का उत्तर जगना शुरू हो जाता है। ठीक प्रश्न को अर्थ है कि आप अपने भीतर उत्तर

को चोट देने लगते हैं। गलत प्रश्न का अर्थ है कि आपके भीतर उससे कोई चोट नहीं पड़ती; उत्तर कभी पैदा नहीं होता। और बाहर से वे ही उत्तर दिये जा सकते हैं, लेकिन वे कभी आपके भीतर तक नहीं पहुंचते। एक संयोग चाहिए--आपके भीतर उत्तर जगे और बाहर से उत्तर दिया जाये तो ही उत्तर आपको मिलता है, नहीं तो नहीं मिलता। जब तक आपके भीतर एक गहरा रिस्पॉन्स, एक प्रतिसंवेदन न हो, बाहर से छेड़े गये तार और आपके भीतर तक तार न हिल जायें, आपकी वीणा भीतर न बजने लगे, तो बाहर वीणा बजती रहे, कुछ प्रयोजन नहीं है।
उपनिषद में हम बाहर से उत्तर देंगे, लेकिन वह काफी नहीं; आपको भीतर एक संवेदना पैदा करनी पड़ेगी, तो वे उत्तर आप पर ठीक जगह पड़ने लगेंगे। और ठीक जगह पड़ना ही सब कुछ है। आपके भीतर संवेदनशील तरंगें हों तो बाहर के उत्तर भी सहयोगी हो सकते हैं; दोनों के मिलन-बिंदु पर उत्तर उपलब्ध होता है। और ऐसा तो हो सकता है कि बाहर की.जरूरत न पड़े और भीतर उपलब्ध हो जाये, ऐसा नहीं हो सकता कि बाहर से उपलब्ध हो जाये और भीतर की.जरूरत न पड़े। बाहर गौण है बात--उपयोगी है, पर गौण है; आवश्यक है, अनिवार्य नहीं।
तो ऐसा हो सकता है कि बाहर के बिना किसी उत्तर के भी उत्तर मिल जाये। अगर प्रश्न इतना अचूक हो, इतना हृदयपूर्ण हो, इतना गहरा हो कि सारे प्राण दांव पर लगे हों तो बाहर के बिना उत्तर के भी उत्तर मिल सकता है। लेकिन इससे विपरीत कोई उपाय नहीं। ऐसा नहीं हो सकता--बाहर बुद्ध भी खड़े हों, महावीर भी खड़े हों, और कृष्ण भी खड़े हों और क्राइस्ट भी खड़े हों, और सब चिल्ला-चिल्लाकर उत्तर दें, लेकिन भीतर अगर संवेदना जागी न हो, भीतर अगर प्यासा प्राण न हो, भीतर अगर कोई पुकार न हो, भीतर अगर कोई अभीप्सा न हो, तो कोई उपाय नहीं... कोई उपाय नहीं है--वे सब प्रश्न, वे सब उत्तर व्यर्थ चले जाते हैं।
तो उत्तर हम सांझ से समझना शुरू करेंगे। अभी हम ध्यान का प्रयोग करेंगे, उस भीतर की संवेदना को जगाने के लिए--वह हो... तो हम उत्तर में उतर सकेंगे।
तो दो-तीन बातें ध्यान के प्रयोग के संबंध में समझ लें। एक तो... अभी बैठे रहें, पहले समझ लें, फिर हम दूर-दूर हट जायेंगे। एकः ध्यान की पूरी प्रक्रिया के पंद्रह मिनट कीर्तन होगा, उसमें डूबना है पूरी तरह। उसमें अगर.जरा भी अपने को बचाया, तो पहला कदम ही नहीं उठेगा, दूसरे का सवाल ही नहीं है। तो जिसने थोड़ी सी भी कृपणता बताई, वह बिल्कुल नासमझ है। उससे तो बेहतर है कि वह बाहर ही हो जाये; वह बेकार मेहनत कर रहा है। यहां तो दांव पूरा या बिल्कुल नहीं; इसे ख्याल में ले लें। इससे बीच में नहीं चलेगा। या तो पूरा अपने को लगा दें, या लगायें ही मत, नाहक मेहनत न करें; क्योंकि कम मेहनत करने का दुष्परिणाम होता है--आपको लगता है, मेहनत भी की और कुछ न हुआ। इससे एक निराशा पैदा होती है। नहीं, फिर करें ही मत। तो कम से कम आशा तो बनी रहेगी। किसी जन्म में कभी करने की हिम्मत तो होगी। कुनकुने- कुनकुने नहीं, ल्यूक-वार्म बिल्कुल नहीं। उबलना है तो सौ डिग्री पर, तो भाप बनती है। ऐसा कुनकुने होकर फिर ठंडे हो गये, फिर कुनकुने हो गये, फिर ठंडे हो गये-तो जि.ंदगी भर होते रहें। धीरे-धीरे आशा ही मिट जायेगी कि हम भी कभी उबलकर और भाप बन सकते हैं।
तो पहली तो बात ध्यान में ले लें कि पहले पंद्रह मिनिट जो कीर्तन है, उसमें पूरी तरह लग जाना है--पूरी तरह लगने का मतलब है, पागल की तरह; उससे कम में नहीं चलता। आंख पर पट्टी रहेगी, आंख बंद रहेंगी, लोग दूर-दूर रहेंगे। यहां तो काफी जगह है इसलिए इतने दूर फैल जाना है कि आप पूरे मुक्त भाव से नाच सकें।
तो पंद्रह मिनिट कीर्तन में नाचते रहना है, फिर कीर्तन बंद हो जायेगा लेकिन धुन चलेगी। फिर उस पंद्रह मिनट धुन में आपको व्यक्तिगत रूप से नाचना है--जितनी भी आपके पास शक्ति हो, पूरी लगा देनी है। शक्ति का एक प्रवाह हो जाना है--नर्तक मिट जाये, नृत्य रह जाये; और धुन सब कुछ हो जाये। उसी धुन पर नाचने लगें। अगर आप इतनी तीव्रता से कर सकें तो आपको तत्काल पता चलेगा कि आप शरीर से अलग हो गये हैं। शरीर से अलग हो जाने में कठिनाई

नहीं है। शरीर से अलग हो जाना एकदम आसान है। पूरी शक्ति लगी हो तो शरीर से आदमी तत्क्षण अलग हो जाता है; यह उसका विज्ञान है।
तो पूरी तरह... पंद्रह मिनिट तो सामूहिक कीर्तन चलेगा, फिर कीर्तन बंद
हो जायेगा, फिर सिर्फ धुन रह जायेगी-फिर आपको मुंह से कुछ नहीं करना, सिर्फ नाचना है, कूदना है, पूरी शक्ति लगा देनी है। पंद्रह मिनट दूसरा स्टेप चलेगा। चिल्लाने का मन हो तो आप चिल्ला सकते हैं, लेकिन कीर्तन नहीं चलाना है; जो आपकी मौज में आये वह करना है। किसी को अगर मौज में कीर्तन ही आये तो वह अपना जारी रख सकता है, लेकिन सामूहिक कीर्तन छूट जायेगा--व्यक्तिगत आपको जो करना हो; लेकिन रुकना नहीं है, पंद्रह मिनट आपको पूरी ताकत लगा देनी है।
फिर तीस मिनट हम विश्राम करेंगे। तीस मिनट मुर्दे की भांति.जमीन पर
पड़ जाना है। आपको सीधे लेटना अच्छा लगे, सीधा; उल्टा लेटना अच्छा लगे, उल्टा--जैसा आपको लगे। किसी को खड़े रहना ही अच्छा लगे तो खड़ा रहे, बैठना अच्छा लगे तो बैठा रहे--लेकिन हो जाये मुर्दे की भांति। खड़ा ऐसा रहे कि अगर बीच में मुर्दा गिर जाये तो रुकावट नहीं डालनी है, गिर जाने देना है। उस तीस मिनट में मैं कुछ सुझाव आपको दूंगा। जब मैं आपको सुझाव दूं माथे पर हाथ फेरने का तब आपको पट्टी नीचे सरका लेनी है या ऊपर सरका देनी है, एक मिनट, दो मिनट के लिए--जब मैं आपको माथे पर हाथ से रगड़ने को कहूंगा। वह मैं सब सुझाव दूंगा, तीस मिनट में आपको क्या करना है। तीस मिनट आप करिये पूरा, तो फिर तीस मिनट में क्या करना है, वह मैं आपको कहता जाऊंगा और आपकी यात्रा भीतर हो जायेगी।
यह यात्रा हो सके तो ही उपनिषद के उत्तर समझ में आ सकेंगे, नहीं तो चूक जायेंगे।
हां, ऊपर किसी को नहीं आना है, मैदान में ही फैल जायें।

सर्वसार उपनिषद
तीसरा प्रवचन

अहंभाव, अविद्या और विद्या

आत्मेश्वर जीवो।.नात्मनां देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यते
सो।.भिमान आत्मन्ो बन्धः तन्निवृत्तिर्मोक्षः।। 2।।
या तदभिमानं कारयति सा अविद्या।
सो।.भिमानो यया निवर्तते सा विद्या।

आत्मा ही ईश्वर और जीवरूप है,
फिर भी जो आत्मा नहीं है,
ऐसे शरीर में जीव को अहंभाव हो जाता है;
वही जीव का बंधन है।
इस अहंभाव का निकल जाना ही मोक्ष है।
इस अहंभाव को जो उत्पन्न करती है, वह अविद्या है।
और जिससे यह अहंभाव निकल जाता है, वह विद्या कहलाती है।

बंधन क्या है? मोक्ष क्या है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर अब शुरू होते हैं।
जीवन को, अस्तित्व को, पहचानने की, खोजने की, अन्वेषण की दो विधियां हैं, दो संभावनांए हैं, एक विधि है विश्लेषण, एनालिसिस; और दूसरी विधि है संश्लेषण, सिन्थेसिस। एक मार्ग विज्ञान का है, एक धर्म का।
विज्ञान चीजों को तोड़ता है उनकी अंतिक ईकाई तक, आणविक ईकाई तक, एटॉमिक यूनिट तक। और उस तोड़ने से ही विज्ञान ज्ञान को संगृहीत करता है। विज्ञान चीजों को उनके अंतिक टुकड़ों में विभाजित करता है। उस विभाजन से ही विज्ञान के ज्ञान का जन्म होता है।
धर्म की प्रक्रिया ठीक उल्टी है। धर्म जोड़ता है प्रत्येक इकाई को अंतिमविराट से; टुकड़ों को उसकी परिपूर्णता में; खंड को अखंड के साथ। और जब सभी कुछ संयुक्त हो जाता है, तभी धर्म ज्ञान को उपलब्ध होता है। ऐसा समझें
:

एक फूल है, तोड़ सकते हैं उसे। वैज्ञानिक तोड़ेगा--फूल को समझने जायेगा
तो तोड़ेगा... उसके केमिकल्स में, उसके रासायनिक तत्वों में--खनिज कितना, पानी कितना, रसायन कितनी--वह तोड़कर विश्लेषण करेगा, और बता सकेगा फूल किन-किन चीजों का जोड़ है। लेकिन कोई कवि इससे राजी न होगा; कोई सौंदर्य का प्रेमी इस विश्लेषण को हत्या कहेगा--क्योंकि इस तोड़ने में ही फूल नष्ट हो गया; और जो हमने जाना वह फूल नहीं है; और तोड़कर जो हमें मिला, उससे भला फूल बनता हो, लेकिन फूल कुछ और ही चीज थी। जिन अंगों को काट-काटकर हमनें फूल को पहचाना, उससे हमें यह तो पता चला कि फूल किन चीजों से मिलकर बना था, लेकिन फूल क्या था, यह बिल्कुल भी पता नहीं चला; वरन तोडने में ही फूल खो गया।
तो जब वैज्ञानिक फूल को तोड़कर उसके अलग-अलग खंडों में लेबल लगाकर बोतलों में बंदकर दे, तब फिर कोई सौंदर्य दिखाई नहीं पड़ेगा--वह सौंदर्य फूल की परिपूर्णता में था, उसके पूरे होने में था; वह सौंदर्य उसके अंगों में नहीं हैं, उसके जोड़ में था।
इसे ऐसा समझेंः किसी ने एक गीत लिखा हो, तो गीत को हम उसके शब्दों में तोड़ सकते हैं? जो भाषाशास्त्री है, अगर उससे कहेंगे कि इस गीत को समझो, तो वह शब्दों को तोड़कर अलग-अलग रख देगा--बता सकेगा कि गीत कैसे बना, किन शब्दों के जोड़ से बना, कौन से नियम व्याकरण के काम में आये--लेकिन गीत खो जायेगा, क्योंकि गीत व्याकरण नहीं है। और गीत... गहरे में समझें तो शब्दों का जोड़ भी नहीं है? शब्दों के जोड़ से कुछ ज्यादा है-समथिंग प्लस। वह जो ज्यादा है वह खो जाता है।

तो विज्ञान अणु को उपलब्ध हो जाता है, सूक्ष्मतम को जान लेता है, अंतिम खंड को पहचान लेता है, लेकिन अखंड से वंचित हो जाता है? परमात्मा से खो जाता है।
धर्म कहता है, सब जुड़कर जो उस जोड़ से अविर्भूत होता है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है।
यह ज्ञान के दोनों ढंग बडे भिन्न हैं, बड़े विपरीत भी। ये दो मार्ग हैं जानने के।
विश्लेषण से हम कभी भी पदार्थ के पार नहीं पहुंच पाते; नहीं पहुंच सकेंगे। नहीं, कोई उपाय नहीं है। सब आशाएं व्यर्थ हैं कि विज्ञान किसी दिन परमात्मा को घाषित करेगा। वैज्ञानिक भला कहने लगें कि परमात्मा है, लेकिन वैज्ञानिक का वक्तव्य विज्ञान का वक्तव्य नहीं है।
आइन्स्टीन मरते समय अनुभव करने लगा था कोई दिव्य उपस्थिति। पर वह वैज्ञानिक का वक्तव्य है, विज्ञान का नहीं। वह वक्तव्य वैसे ही है, जैसे एक वैज्ञानिक प्रेम में पड़ जाये किसी के और कहने लगे, इस स्त्री से ज्यादा सुंदर और कोई स्त्री जमीन पर नहीं है--लेकिन यह कोई विज्ञान का वक्तव्य नहीं है, एक वैज्ञानिक का वक्तव्य है। और एक वैज्ञानिक फूल को देखकर आनंदित हो उठे और नाच उठे; लेकिन यह नृत्य विज्ञान का नृत्य नहीं है, यह वैज्ञानिक का नृत्य है।
लेकिन धार्मिक लोग अक्सर ऐसा सोच लेते हैं... अगर कभी कोई वैज्ञानिक
कह देता है कि हां, परमात्मा की प्रतीति मालूम पड़ती है--कभी कोई एडिंगटन, या कभी कोई ओलीवर लॉज, या कभी कोई आइंन्स्टीन अगर कह देता है, तो धार्मिक आदमी बड़े जल्दी सोचने लगता है कि विज्ञान भी अब परमात्मा की बात करने जा रहा है। बड़ी भूल है। ये व्यक्तव्य निजी हैं और वैयक्तिक हैं; इनका विज्ञान से कोई लेना-देना नहीं।
विज्ञान कभी भी परमात्मा की बात नहीं कह सकेगा, क्योंकि विज्ञान जिस विधि का उपयोग करता है वह विधि ही खंड पर ले जाती है, वह अखंड पर ले जाती नहीं। यह बात दूसरी है कि किसी दिन विज्ञान भी धर्म की विधि का उपयोग करे तो परमात्मा की बात कह सके, लेकिन उस दिन वह विज्ञान ही नहीं होगा, वह धर्म ही हो जायेगा।
ऋषि का उत्तर इस बात से ही शुरू होता है।
"आत्मा ही ईश्वर और आत्मा ही जीव है।"
वह जो मनुष्य के भीतर बोध की क्षमता है, चैतन्य है; वह जो चिदरूप; वह जो मनुष्य के भीतर जाननेवाला है--ज्ञाता है, द्रष्टा है; वह जो साक्षी है, उसे उपनिषद "आत्मा" कहते हैं।
लेकिन यह वक्तव्य बहुत अदभुत है। यह वक्तव्य कहता है, आत्मा ही ईश्वर। कोई ईश्वर इस आत्मा से अतिरिक्त नहीं। संश्लेषण की यह विधि है। आत्मा आपके भीतर है, और परमात्मा इस सारे अस्तित्व का नाम है।
बूंद है आपके पास... अगर हम वैज्ञानिक से पूछें कि सागर क्या है, तो वैज्ञानिक कहेगाः बूंदों के जोड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। और गलत नहीं कहता। अगर सागर को बांटने जायें तो बूंदों के सिवाय और क्या हाथ में लगेगा? लेकिन निश्चय ही क्या सागर बूंदों का जोड़ ही है? बूंद में न तो कभी तूफान उठते, बूंद में कभी लहरें नहीं उठतीं; बूंद का जोड़ ही नहीं है सागर, सागर कुछ और भी है--बूंद के जोड़ से भी ज्यादा। लेकिन विज्ञान कहेगा, कहां है वह सागर? हम सब बूंदें खींचकर निकाल लेते हैं, फिर सागर नहीं बचता। वे ठीक कहते हैं।
मेरा हाथ काट लें, मेरा पैर काट लें, मेरा सिर अलग कर दें, मेरे सारे अंगों को अलग कर लें, मैं कहां बचता हूं पीछे! फिर भी मैं हाथ और पैर के जोड़ से ज्यादा हूं; और जब मेरा पैर काटा जा सकता है, तब भी मैं इस बोध में थिर हो सकता हूं कि मैं नहीं काटा जा रहा हूं; और मेरी गर्दन कटती हो तो भी मैं इस चैतन्य से भरा हो सकता हूं... कि इस गर्दन को दूसरे लोग ही कटता नहीं देख रहे हैं, मैं भी कटता हुआ देख रहा हूं।
मंसूर काटा जा रहा है, और हंस रहा है... और भीड़ में एक आदमी पूछता है कि मंसूर तुम पागल तो नहीं हो? तुम काटे जा रहे हो और हंस रहे हो! मंसूर ने

कहा, पहले मैं पागल था, और कांटा भी चुभता था तो रोता था; मैं अब पागल नहीं हूं, कयोंकि जिस तरह तुम देख रहे हो कि गर्दन काटी जा रही है, उसी तरह मैं भी देख रहा हूं कि गर्दन काटी जा रही है--तुम बाहर से, मैं भीतर से; हम दोनों ही देखने वाले हैं... जैसे तुम दर्शक हो वैसा मैं भी दर्शक हूं; यह शरीर तुम बाहर से देखते हो, इसे मैं भीतर से देखता हूं।
अगर हम धार्मिक से पूछें कि बूंद क्या है, तो वह कहता है, सागर ही।...
वह कहता है, सागर ही!
वैज्ञानिक सागर को बूंद बना देता है, धार्मिक बूंद को सागर बना देता है। और यह बड़ा क्रांतिकारी फर्क है; यह फर्क छोटा नहीं। विज्ञान सभी चीजों को उनके शुद्रतम हिस्से के साथ जोड़ देता है, और सभी चीजों को उनके श्रेष्ठतम हिस्से के साथ जोड़ देता है।
यह बात साधारण नहीं है। यह केवल शब्दों का खेल नहीं है कि बूंद सागर
है कि सागर बूंद है, इसमें क्या फर्क पड़ता है? फर्क पड़ता है; क्योंकि विज्ञान विश्लेषण करता है, विश्लेषण करके जो निम्नम ईकाई उसकी पकड़ में आती है, उसी को वह समस्त जीवन के आधार को मान लेता है... कि यही आधार है। आदमी को काटते हैं तो पदार्थ हाथ लगता है, हड्डी हाथ लगती है, मांस हाथ लगता है, आत्मा हाथ नहीं लगती। इसलिए विज्ञान कहता है, आत्मा वगैरह कुछ भी नहीं है, हड्डी मांस-मज्जा का जोड़ है--सिर्फ जोड़; कुछ और ज्यादा नहीं। धर्म कहता है, निकृष्ट से श्रेष्ठ को नहीं समझाया जा सकता। उल्टा हो सकता है... बूंद से सागर को नहीं समझाया जा सकता, सागर से बूंद को समझाया जा सकता है; श्रेष्ठ से निकृष्ट को समझाया जा सकता है, निकृष्ट से श्रेष्ठ को नहीं समझाया जा सकता। इसके कारण हैं। इस बात को ठीक से समझ लें तो उपनिषद की भाषा समझ में आ सकेगी।
बच्चे से बूढ़े को नहीं समझाया जा सकता, लेकिन बूढ़े से बच्चे को समझाया
जा सकता है; क्योंकि बूढ़ा दोनों रह चुका--बच्चा भी और बूढा भी। बच्चा अभी सिर्फ बच्चा ही है, अभी बूढ़ा हुआ ही नहीं। सागर से हम बूंद को भी समझा सकते और सागर को भी, लेकिन बूंद से हम सागर को नहीं समझा सकते। पदार्थ से हम सिर्फ शरीर को और पदार्थ को ही समझा सकते हैं परमात्मा से हम दोनों को समझा सकते हैं। विराट जो है वह शुद्र को अपने भीतर समा लेता है, लेकिन शुद्र विराट को अपने भीतर नहीं समा पाता है। तो जितनी विराट की धारणा हो उतना हम सभी को उससे समझा सकते हैं, लेकिन क्षुद्र की धारणा से विराट को समझाना असंभव है।
तो मंजिल से हम पहले कदम को समझा सकते हैं, लेकिन पहले कदम को ही अगर
हम सब कुछ मान लें तो मंजिल तो समझाई ही नहीं जा सकती, पहला कदम भी नहीं समझाया जा सकता। साध्य से हम साधन को समझा सकते हैं, लेकिन साधन से साध्य को नहीं।
तो बूंद सागर को नहीं समझा सकेगी, लेकिन सागर बूंद को भी आत्मसात कर लेता है।
ऋषि कहता है: "आत्मा ही ईश्वर और आत्मा ही जीव।"
तीन शब्दों का उपयोग हैः ईश्वर... ईश्वर से अर्थ है, शुद्धतम चैतन्य--द प्योर कॉन्शसनेस।
फिर आत्मा। आत्मा और ईश्वर में क्या फर्क है?
ऋषि कहता हैः कोई भी फर्क नहीं। उतना ही फर्क है, जैसा सागर और बूंद में है। बूंद भी सागर ही है। सब कुछ सागर का उसमें समाया हुआ है। एक ही बात ध्यान रखना कि सागर सिर्फ बूंदों का जोड़ नहीं है। व्यक्ति के भीतर जब वह परम चैतन्य निवास करता है, तो उसे "आत्मा" कहा है।
जैसे सूरज निकला है आकाश में, और आपके आंगन में सूरज की किरणें भर गयी हैं। सूरज की किरणों में और आपके आंगन की किरणों में कोई भी फर्क नहीं, फिर भी आपके आंगन की किरणों की सीमा है... आपके मकान की दीवालें, आपके आंगन में पड़ती सूरज की किरणों को घेरती हैं--सीमा बन जाती है।
सीमा में ऐसा निवास करता हुआ ईश्वर आत्मा है। लेकिन क्या सच में ही जब आपके आंगन में सूरज की किरणें बरसती हैं, तो सूरज की किरणों पर कोई सीमा बनती है कि सीमा आपके आंगन की ही होती है? सूरज की किरणों पर आपकी दीवालें

क्या बाधा बनेंगी? सूरज की किरणों को आपकी दीवालें क्या बांधा पायेंगी। दीवालें आपके आंगन को ही बांधती हैं। लेकिन अगर आपके आंगन में पड़ती हुई धूप को यह वहम हो जाये, यह भ्रम हो जाये कि मैं भी बंध गया, तो इसका इसका नाम"जीव" है।
शरीर की सीमाओं में जो परमात्मा है उसका नाम आत्मा है, लेकिन अगर इस आत्मा को यह भ्रम हो जाये कि मैं यही शरीर हूं तो इसका नाम जीव है। अंतर कुछ भी नहीं है--चाहे भ्रम हो सूरज की किरण को कि मैं आंगन में बंधी हूं तो भी वह बंधती नहीं। किरण बंध ही नहीं सकती। न बंधा होना उसका स्वभाव है मुट्ठी बांधिएगा, किरण भीतर नहीं पकड़ में आएगी; न बंधा होना उसका स्वभाव है--वह उसकी स्वतंत्रता है, उसका जीवन है। सीमा उस पर नहीं है, सीमा आंगन की है; लेकिन भ्रम पैदा हो सकता है। वह भ्रम आत्मा को जीव बना देता है। भ्रम टूट जाये तो आत्मा ईश्वर हो जाती है। धर्म इतनी विराट व्याख्या में समस्त जीवन को पिरोता है।
यह जो चिंतन की सरणी है, इसे ठीक से ख्याल में ले लेना साधक के लिए बड़ा उपयोगी है; क्योंकि उसकी भी फिर यात्रा आंगन से, आंगन की दीवालों से, धूप और धूप से सूरज की तरफ है।
"आत्मा ही ईश्वर और जीवरूप है। फिर भी जो आत्मा नहीं है, ऐसे शरीर में जीव को अहंभाव हो जाता है। "
अहंभाव का अर्थ है, तादात्म्य; जो मैं नहीं हूं, उसके साथ मुझे ऐसा भाव पैदा हो जाये कि मैं हूं। आंगन में आई हुई किरणों को ख्याल हो जाये कि ये आंगन की दीवालें और यह आंगन, यही हमारा होना है। ऐसी आइडेंटिटि, ऐसा तादात्म्य ही अहंभाव है।
"अहंभाव का हो जाना बंधन और अहंभाव का निकल जाना, यही मोक्ष है। इस अहंभाव को जो उत्पन्न करती है वह अविद्या, और जिससे यह अहंभाव निकल जाता है वह विद्या कहलाती है।
इस अहंभाव को जो उत्पन्न करती है, वह अविद्या। जिस विधि से, जिस ढंग से, जिस प्रक्रिया से यह अहंभाव निर्मित होता है, उसे"अविद्या" कहा है। और जिस विधि से, जिस मार्ग से यह अहंभाव क्षीण होता, गलता, बिखर जाता, बिसर जाता है, उसे"विद्या" कहा है।
हम सब अविद्या में ही जीते हैं, क्योंकि हम सिवाय अहंकार निर्मित करने के और कुछ भी तो नहीं करते। चाहे हम धन कमाते हों, तो भी हम अहंकार निर्मित करने को ही कमाते हैं; और चाहे हम ज्ञान इकट्ठा करते हों, तो भी हम अंहकार को भरने को ही इकट्ठा करते है; और चाहे हम पदों की लंबी यात्रा पर निकलते हों, सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ते हों राजधानियों की, तब भी हम सिंहासनों पर पहुंचकर करते क्या हैं? सिंहासनों पर आप प्रतिष्ठित नहीं होते, अहंकार ही प्रतिष्ठित होता है; राजमुकुट आपके सिर पर नहीं रखे जाते हैं, राजमुकुट आपकी अस्मिता, आपके अहंकार के सिर पर ही बंधते हैं।
अहंकार के अतिरिक्त हम कुछ भी अर्जन नहीं करते। हमारे पूरे जीवन की सारी प्रक्रिया इतनी है कि कैसे मैं कुछ हो जाऊं? और कैसे मैं दूसरों के मैं को हटाऊं पीछे और आगे खड़ा हो जाऊं। एक थोथी दौड़!
लेकिन जीवन भर वही चलती है; खटोले से लेकर कब्र तक वही चलती है... वही दौड़! वही दौड़ ईर्ष्या की, प्रतिस्पर्धा की, प्रतियोगिता की।
क्या है ईर्ष्या? क्या है प्रतिस्पर्धा? क्या है प्रतियोगिता? किससे
है संघर्ष? और किसलिए है? एक ही आधार है सिर्फ... कि मैं पिछड़ न जाऊं; मैं छोटा न रह जाऊं; मैं दीन-हीन न रह जाऊं; मेरे ऊपर भी राजमुकुट बंधे; मेरे गले में भी फूलमालाएं हों; मेरे अहंकार में भी हीरे-जवाहरात जड़े; मैं भी चमकूं; मैं भी न कुछ न रह जाऊं--कुछ हो जाऊं।
छोटे से छोटे आदमी से लेकर बड़े से बड़ा आदमी एक ही दौड़ में है। और यह दौड़ इतनी अदभुत है कि कभी-कभी यह दौड़ विपरीत भी हो जाती है और फिर भी मूल आधार बना रहता है। एक आदमी धन कमाये चला जाता है इसलिए कि मैं चोटी पर पहुंच जाऊं... गौरीशंकर की... धन की चोटी पर। फिर एक आदमी धन को लात मारकर जंगल चला जाता है, तपश्चर्या करता है, और तब भी हो सकता है, कि मैं की अकड़ कायम हो और वह आदमी अब धन की जगह तप के सिक्के इकट्ठे कर रहा हो--और अब भी

अकड़ यही हो कि मेरा जैसा तपस्वी और कोई भी नहीं--कहां मैं... और कहां ये सारी दुनिया!
अहंकार ईश्वर की खेज तक से अपने को भर सकता है। अहंकार इसलिए भी ईश्वर
की चर्चा में पड़ सकता है कि मेरी मुट्ठी में छोटी-मोटी बातें नहीं, ईश्वर भी है।
अहंकार के अर्जन की प्रक्रिया अगर अविद्या है तो हम सब अविद्या में
जी रहे हैं। और जिसे हम विद्या कहते हैं, विद्यालय कहते हैं, जिन्हें हम विद्यापिठ कहते हैं, विश्वविद्यालय कहते हैं, अगर ऋषि की बात को समझें तो वे सब अविद्यालय हैं, अविद्यापीठ हैं; क्योंकि वहां सिर्फ अहंकार को भरने के अतिरिक्त और तो कोई कला सिखाई नहीं जाती। सारी शिक्षा अहंकार को जगाने का प्रयोग है; महत्वाकांक्षा, एम्बीशन को उठाने की कोशिश है। तो बाप बेटे से कह रहा है कि पिछड़ मत जाना-- अपनी क्लास में नंबर एक आना। बाप दुखी होता है, लड़का पिछड़ जाता है तो; लड़का नंबर एक आ जाता है तो बाप भी जैसे नंबर एक आ जाता है।
दौड़ना है सबको, एक ही खेल है। अगर यह अविद्या है तो हमारा सारा जीवन अविद्या है; तो विद्या का हमें कोई पता ही नहीं है; क्योंकि ऋषि कहता है, विद्या उस प्रक्रिया का नाम है, उस विधि का, जिससे मैं गलता, बिसर जाता, नहीं बनता--और एक घड़ी आती है कि अहंकार नहीं होता केवल आत्मा रह जाती है, केवल होना रह जाता है। उसे धर्म कहें, उस विद्या को; योग कहें, ध्यान कहें, प्रार्थना कहें, पूजा कहें--कोई भी नाम दें; हजार नाम दिये गये हैं।
लेकिन विद्या का सार-सूत्र एक ही हैः घटानी है वह घटना, जहां आप तो बच जायें, लेकिन आपा न बचे; जहां चेतना तो बच जाये, लेकिन चेतना के बीच में कोई मैं की घोषणा करनेवाला केंद्र न हो।
किसी भी द्वार से और किसी भी मार्ग से मैं अपने को खो पाऊं। खो पाऊं का अर्थ है, सो जाऊं नहीं; खो पाऊं का अर्थ है, विस्मण हो जाऊं नहीं; खो पांऊ का अर्थ है, भूल जाऊं अपने को नहीं; खो पाऊं का अर्थ है, बचूं पूरी तरह जागा, होश से भरा, स्मरणपूर्वक, फिर भी मैं न बंचू... वही बच जाये जिसके साथ मैं का कोई भी जोड़ नहीं है।
बुद्ध के चरणों में किसी ने आकर सिर रखा है एक सुबह। कोई संदेहशील व्यक्ति आया है, वह भी बैठा है पास में। उसने बुद्ध से कहा, आप इस व्यक्ति को रोकते नहीं कि आपके चरण न छुए, क्योंकि आपने ही तो हमें समझाया है कि किसी के शरण में जाने की जरूरत नहीं, स्वयं को खोजो। यह आदमी आपकी शरण में आ रहा है, आप इसे रोकते नहीं।
बुद्ध ने कहा: अगर मैं होता तो जरूर रोकता; यदि मैं होता तो जरूर रोकता। और बुद्ध ने कहा, अगर मैं होता, तो चाहे रोकता, और चाहे इसका सिर झुकाता, दोनों बराबर थे। चाहे इसका सिर पकड़कर चरणों में रखता तो, और चाहे इसका सिर रोकता कि नहीं, मत छुओ मेरे पैर, दोनों बराबर थे। लेकिन जो आदमी झुकाता इसका सिर और जो आदमी रुकाता इसका सिर, वह अब नहीं है। जैसे तुमने देखा कि इसने सिर झुकाया, मैंने भी देखा। जरा सा भूल हुई। तुमने देखा इसने मुझे सिर झुकाया, मैं सोच रहा हूं: इसने किसे सिर झुकाया? टू हूम ही हैज बोड डाऊन? कोई दिखाई तो नहीं पड़ता। इसने किसे सिर झुकाया?
ऐसी घड़ी जिस द्वार से आती है, उसे ऋषि"विद्या" कहते हैं।
यह जो विज्ञान है धर्म का, उसे ही मैं ध्यान कह रहा हूं। जब भी आपसे कहता हूं ध्यान, तो मैं इसी विद्या की बात कर रहा हूं। हम सब जीते हैं गैरध्यान में। हम ऐसे जीते हैं, जैसे सोये-सोये। कभी आपने अगर किसी व्यक्ति को हिप्नोसिस में, सम्मोहन में देखा हो... चलते हुए, या कभी आपने किसी व्यक्ति को निद्रा में चलते हुए देखा हो-- किसी सोमनाबुलिस्ट को... बहुत लोग रात नींद में उठते हैं और चलते हैं।
आपमें भी यहां बहुत लोग होंगे, क्योंकि सौ में से कम से कम सात लोग नींद में चल सकते हैं। कम से कम सात! पर उसको पता भी नहीं चलता, क्योंकि वह चल फिरकर वापस सो जाता है। आंखें खोलकर चल लेता है। लोगों ने हत्याएं तक की हैं नींद में चलकर, और सुबह उनको बिल्कुल पता नहीं है; वे केवल इतना ही कह सकते हैं कि हां, ऐसा कोई सपना देखा रात... कि किसी की हत्या की। लोगों ने

चोरियां की हैं, और जरा भी वे कसूरवार नहीं थे, क्योंकि वह सब नींद में हुआ।
लेकिन यह तो कुछ लोगों की बात कर रहा हूं जो नींद में चलते हैं। अगर हम अपनी तरफ बहुत गौर से देखें तो हम सभी थोड़े न बहुत नींद में चलते हैं। आप जो कर रहे होते हैं, उस पर आपका कहां होता है ध्यान, ध्यान तो कहीं और होता है। राह पर चलते हैं आप तब चलने में आपका ध्यान होता है? चलने को छोड़कर और कहीं भी होता होगा। जब आप भोजन कर रहे होते हैं तब भोजन करने में ध्यान होता हैं? भोजन को छोड़कर और कहीं भी होता होगा। हां, भोजन पर भी कभी-कभी होता है, लेकिन वह तब होता है जब भोजन नहीं कर रहे होते।
जहां होते हैं आप वहां ध्यान नहीं होता। तो वहां क्या होता होगा जहां
आप होते हैं; जब ध्यान नहीं होता? वहां नींद होती है। उसी नींद में सब उपद्रव होते हैं। जब आपने किसी पर क्रोध किया है तो आपने ख्याल किया... कि आपका ध्यान वहां था? क्योंकि ध्यान होता तो क्रोध करना असंभव है। ध्यान और क्रोध का कोई मेल ही नहीं बैठता। ध्यान हो तो क्रोध हो नहीं सकता। क्रोध के होने के लिए नींद.जरूरी है, नशा जरूरी है।
इसीलिए तो आदमी क्रोध के बाद पछताता है; कहता है कि कैसे मैंने किया?
और क्यों किया? क्या सार था? इसी ने किया है। और ऐसा भी नहीं है कि पहली दफे किया है; और ऐसा भी नहीं है कि पहली दफे पछता रहा है। बहुत दफे ऐसे ही पछताया है, ऐसे ही क्रोध किया है। और हर बार यही सोचा है, क्यों किया? क्या सार था? फिर किया क्यों, अगर सार नहीं था?
यह आदमी मौजूद ही नहीं था। यह तो जब क्रोध चला गया, तब ये वापस आये हैं घर। ये थे नहीं, तब हो गया। जब लौटे तो पछता रहे हैं। लेकिन अब पछताने से कोई फायदा नहीं; अब कोई भी अर्थ नहीं है; अब कोई भी सार नहीं है।
कुछ चीजें ध्यान में हो ही नहीं सकतीं। असल में जिसे पाप कहा है जाननेवालों ने, उसे ही पाप कहा है जो ध्यानपूर्वक नहीं हो सकता। पाप की यही परिभाषा है कि जो ध्यानपूर्वक न हो सके वह पाप है; और जो ध्यानपूर्वक हो सके वह पुण्य है। ध्यानपूर्वक चोरी नहीं हो सकती है; और ध्यानपूर्वक हत्या नहीं की जा सकती; और ध्यानपूर्वक क्रोध नहीं हो सकता; लेकिन ध्यानपूर्वक करुणा हो सकती है; और ध्यानपूर्वक प्रेम हो सकता है।
और ध्यानपूर्वक जो भी हो सकता है, वह सब धर्म है, और पुण्य है।
जो ध्यानपूर्वक हो ही न सके, जिसके लिए नींद अनिवार्य तत्व हो, जो नींद में ही फल सकता हो, वही पाप है।
तो हम ध्यान में जीते नहीं। कभी-कभी ध्यान करने बैठते हैं तो वहां भी नींद आती है--वहां भी! बल्कि और.जोर से आती है। उसका कारण है कि उसका हमें कोई ख्याल ही नहीं है, कोई अनुभव ही नहीं है। जिस ढंग से हम चलते हैं--उठते हैं, बैठते हैं, उस सबके हम अभ्यासी हैं--वह नींद में हो जाता है।
मैंने कहा कि हम सब कुछ नींद में कर रहे हैं। अभी मैं एक व्यक्ति का जीवन पढ़ रहा था, उसे हकलाने की आदत थी। लाख उपाय किये, हकलाना न गया। मनोवैज्ञानिकों ने मनोविश्लेषण किया-वर्षों, ह.जारों डॉलर उसकी चिकित्सा पर खर्च हुए। बड़े आदमी का लड़का था; कोई रास्ता न निकला। दवाएं चलीं, सब हुआ, लेकिन नहीं, हकलाना बंद नहीं हुआ। और एक मजेदार घटना घटी। गांव में एक नाटक चल रहा था, और उस नाटक में एक हकलाने वाले पात्र की.जरूरत थी। और जो पात्र अभ्यासी था सदा का, जो पार्ट करता था वह बीमार पड़ गया था; वह मंच पर आ नहीं सकता था। तो किसी ने खबर दी कि गांव मे फलां-फलां आदमी का लड़का जितनी कुशलता से हकलाता है, कोई क्या हकलायेगा! उससे प्रार्थना कर ली जाये। थोड़ा ही पार्ट है, और तत्काल मौजूद है। सिखाना बहुत मुश्किल मामला है। हकलानेवाले युवक को लाया गया, और चमत्कारों का चमत्कार हुआ कि उस दिन वह नाटक के मंच पर न हकला सका। बहुत कोशिश की उसने, लेकिन हकलाना था कि आया ही नहीं। क्या हो गया?
मैं एक गांव में था। एक युवक विश्वविद्यालय का मेरे पास आया। उसे एक अजीब सी आदत पड़ गयी है, स्त्रियों जैसा चलने की। तो बहुत उपाय हो गये हैं, लेकिन वह जाता नहीं; कभी भी वक्त-बेवक्त सड़क पर अचानक वह पाता है कि वह स्त्रियों जैसा चल रहा है। स्त्रियों जैसा चलने में कोई बुराई नहीं है,

क्योंकि स्त्रियां चलती ही हैं; लेकिन वह मुश्किल में पड़ गया है, और खुद ही दीन और हीन हो गया है।
असल में स्त्री और पुरुषों के मांस का विभाजन शरीर में अलग-अलग है। और स्त्रियां कुछ स्थानों पर चर्बी इकट्ठी करती हैं जहां पुरुष चर्बी इकट्ठी नहीं करते, इसलिए उनकी चाल में फर्क स्वाभाविक है; चर्बी का भेद है।
पर उसकी चर्बी में कोई ऐसी बात नहीं है कि वह स्त्रियों जैसा चले, क्योंकि कभी-कभी वह पुरुषों जैसा चलता ही है। और कभी-कभी एकदम बस स्त्रियों जैसा चलने लगता है। तो बड़ी मुसीबत में था। मैंने उससे कहा, तू एक काम कर; तू अब जानकर स्त्रियों जैसा चलने लग। उसने कहा, क्या कहते हैं आप? बिना जाने इस मुसीबत में पड़ा हूं, और जानकर चलने लगूं? मैं तो जानकर रोकने की कोशिश करता हूं दिन-रात; जब भी चूक जाता हूं, बस चल जाता हूं। मैंने कहा कि तूने जानकर कोशिश कर ली रोकने की, नहीं रुक पाया; अब मैं तुझसे कहता हूं, तू जानकर चलने की कोशिश कर-उठ और मेरे सामने चलकर बता दे। उसने बहुत कोशिश की, वह न चल पाया। उसने कहा, पता नहीं, क्या हो गया आज! आपने कुछ चमत्कार किया। कहा, यह तू किसी और को मत बताना। हाथ मेरा इसमें जरा भी नहीं है। तू ही चमत्कार कर रहा है; तुझे पता नहीं इस चमत्कार का।
कुछ चीजें जानकर की ही नहीं जा सकतीं-होशपूर्वक नहीं की जा सकतीं।
कुछ चीजें बस होश के साथ ही टूट जाती हैं।
ध्यान विधि है विद्या की। अहंकार भी होशपूर्वक नहीं किया जा सकता।
अहंकार होशपूर्वक करके देखें तो आपको पता चलेगा।
गुरजिएफ अपने साधकों के साथ एक खेल खेला करता था। वह अपने साधकों को ऐसी हालत में ला देता था कि उन्हें ख्याल ही न रहे कि वे अब क्रोध में भरे जा रहे हैं। कुछ ऐसी बात कर देता, कुछ ऐसी स्थिति पैदा कर देता कि किसी साधक को चिढ़ पैदा हो जाये, परेशान हो जाये, चिल्लाने लगे, गालियां बकने लगे, आगबबूला हो जाये-और यह सब आयोजित होता, और इसमें सब सहयोगी होते; यह खेल होता-सिर्फ उस आदमी को भर पता नहीं होता कि उसके साथ खेल खेला जा रहा है।
और जब वह अपने पूरे तूफान में आ जाता, अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर भागने के करीब हो जाता, और गालियां बकने लगता, तब गुरजिएफ कहता कि होश! इस वक्त होश ला कि तू क्या कर रहा है! और वह आदमी एकदम... भीतर सब खो गया, और चारों तरफ वह देखकर हंसने लगता; और वह कहता कि हद कर दी! तो यह सब खेल था? वह अहंकार को जगाने की कोशिश करता, और जब जग जाता किसी का अहंकार, तो
वह ऐन वक्त पर उसको जोर से आवाज दे देता कि इस वक्त देख भीतर "मैं" है? और वह आदमी जो आगबबूला हो रहा था अहंकार से, वह आंख बंद कर के भीतर देखता, शांत हो जाता... आंख खोलकर कहता कि नहीं, भीतर खोजता हूं, बिल्कुल नहीं है। फिर यह क्या था जो इतना तूफान मचा रहा था?
ना कुछ से भी बड़े तूफान उठ जाते हैं। प्यालियों में तूफान उठ जाते हैं! नाकुछ से बड़े तूफान उठ जाते हैं।
विद्या प्रयोग है इस बात का कि हमारे भीतर जो हमने व्यर्थ के झूठे आकार निर्मित कर लिए हैं उन्हें हम कैसे गिरा दें?
बहुत विधियां हैं विद्या की। कुछ विधियों पर हम यहां प्रयोग कर रहे हैं। आज रात की विधि पर थोड़ी बात आपको समझा दूं और कल के प्रयोगों के लिए थोड़ी बात आपको समझा दूं, फिर हम रात के ध्यान में उतरें।
रात की जो विधि है, जिसे हम अभी करने जानेवाले हैं, उस विधि में तीस मिनट तक मेरी तरफ आपको एकटक, बिना पलक झपकाये देखना है; जितनी आंख खोलकर आप मेरी तरफ देख सकें। आंख के द्वारा आपको मुझसे संबंधित हो जाना है। आंख द्वार है। तो आपको अपनी चेतना आंख से मेरे तक ले आनी है; मुझ तक फैला देनी है। इतनी अगर फैल सके तो फिर कितनी ही फैल सकती है, इसकी बहुत फिकर न करें। इतना अगर हो जाये कि मुझ तक आ जाये, तो आकाश तक ले जाने में कठिनाई नहीं होगी।
तो तीस मिनट आंख को झपकाना ही नहीं है। आप कहेंगे, बड़ा मुश्किल है।
जरा भी मुश्किल नहीं है। आपको पता नहीं रहता, फिल्म में आप बैठे रहते हैं

और घंटों आंख नहीं झपकती। इसलिए तो आंख थक जाती है; आपको ख्याल ही नहीं रहता और आंख नहीं झपकती। इसलिए आंख थक जाती है। जब भी आप कोई चीज गौर से देख रहे होते हैं, आंख का झपकना बंद हो जाता है।
कोई अड़चन नहीं है। अड़चन मन की बनाई हुई है; क्योंकि जैसे ही आपके मन को पता चलेगा कि यह तो खतरा हुआ जा रहा है, यह तो मेरी अविद्या टूटने का मौका आ गया, यह तो सारा जाल गिर जायेगा, अगर यह छलांग एक लग गयी तो मिटा! वैसे ही मन कहेगा, आंख बिल्कुल थकी जा रही है; पागल हो गये हो? बंद करो! झपकाओ! वे सब मन की तरकीबें हैं; उनसे सावधान होना जरूरी है। कोई फिकर नहीं, आंसू आयेंगे तो अच्छा ही है; थोड़ी आंखें साफ ही हो जायेगी; थोड़े आंसू हलके हो जायेंगे। कोई फिकर न करें; तीस मिनट आंखें नहीं झपकानी हैं--एक।
प्रयोग खड़े होकर होगा! आंख नहीं झपकानी है बिल्कुल, मेरी तरफ एकटक देखते रहना है। दोनों हाथ आकाश की तरफ ऊपर रखने हैं; क्योंकि पूरी चेष्टा यह है कि जो चेतना मेरी तरफ आपकी आ रही है, उसे किसी भी क्षण आकाश की तरफ गतिमान करना है। तो दोनों हाथ आकाश की तरफ उठे हुए रखने हैं। एकटक मेरी तरफ देखना है, नाचते रहना है, कूदते रहना है, और साथ में हू... हू... हू... की जोर से आवाज करते रहना है।
यह "हू" एक मंत्र की तरह प्रयोग किया जा रहा है। इस "हू" की चोट से आपके भीतर, जिसे कुंडलिनी कहें, उस पर चोट पड़ती है। जब आप "हू" जोर से कहते हैं तो आपको ख्याल में आयेगा... कि यह चोट ठीक आपके काम केंद्र पर पहुंच जाती है; ठीक मूलाधार पर पहुंच जाती है।
तो तीस मिनट एकटक आंख मेरी तरफ, चेतना मेरी तरफ दौड़ती हुई, "हू" की आवाज आपकी कुंडलिनी पर चोट करती हुई, हाथ आकाश की तरफ यात्रा को तत्पर; और आप नाचते हुए; क्योंकि वह जो आपका नाचना है, उस नाचने में चोट तीव्रता से पड़ेगी, और भीतर से ऊर्जा उठनी शुरू होगी, और आपकी रीढ़ से ऊपर की यात्रा पर निकलने लगेगी।
इस बीच मैं चुप ही रहूंगा, लेकिन कभी-कभी दोनों हाथ से इशारे करूंगा आपको ऊपर की तरफ जाने के। जब मैं यह हाथ का इशारा करूं तो आपको अपनी पूरी शक्ति लगा देनी है नाचने में, हुंकार करने में, आंखें फाड़कर देखने में, आपको बिल्कुल पागल हो जाना है। जितनी शक्ति आपके भीतर हो, लगा देनी है और उछलते जाना है। जब मैं हाथ बिल्कुल ऊपर ले जाऊं और रोक लूं तो आपको पूरी ताकत लगा देनी है। ऐसा मैं दस-पच्चीस बार आपको नीचे से ऊपर तक ले जाने के लिए इशारे करूंगा, उस वक्त आप जरा भी कंजूसी न करें, कृपण न हों, पूरी शक्ति लगा दें!
और जब मुझे... अभी बैठे रहें, अभी बैठे रहें, पूरी बात समझ लें... और जब मुझे ऐसा लगेगा कि आपकी रीढ़ में दौड़ने लगी ऊर्जा, और आपका शरीर एक नाचता हुआ शक्ति का प्रवाह हो गया, तब जब मुझे लगेगा कि बहुत लोग नाचकर उस जगह आ गये, जहां उनका परम मिलन परमात्मा की शक्ति से भी हो सकता है, तो मैं अपने हाथों को उल्टा दूंगा। जब मैं हाथ उल्टाऊं तब आपको और अपने भीतर खोज कर लेनी है कि थोड़ी बहुत शक्ति बची हो तो वह भी लगा दें। और मैं हाथों को नीचे की तरफ लाऊंगा। यह इशारा आपके लिए ही होगा कि अगर इस क्षण आप अपनी पूरी- पूरी शक्ति लगाते हैं तो ऊपर से परमात्मा की शक्ति भी आपके भीतर उतर सकती है।
और जहां इन दोनों का मिलन होता है वहीं आनंद है, और जहां इन दोनों का मिलन होता है वहीं विद्या फलित हो जाती है। जहां व्यक्ति की चेतना का मिलन शरीर से हो जाता है, वहीं अविद्या हो जाती है, अहंकार जन्म ले लेता है; और जहां व्यक्ति की चेतना का मिलन परमात्मा-चेतना से हो जाता है, वहीं विद्या फलित हो जाती है और व्यक्ति निर अहंकार अवस्था को उपलब्ध हो जाता है। जहां चेतना शरीर से जुड़ती है, वहां जीव निर्मित हो जाता है; और जहां चेतना परमात्मा से मिलती है, वहां आत्मा निर्मित हो जाती है। तो यह तो रात का प्रयोग।
दो-तीन सूचनाएं और। आज तो... आज के प्रयोग में मैंने थोड़ा सा, आप थोड़े अभ्यस्त हो जायें, इसलिए बहुत ताकत आपसे नहीं लगवाई, और प्रयोग को थोड़ा उदार रखा था, कल से प्रयोग गहरा होगा।

तो कल से जो प्रयोग की व्यवस्था पूरे कैम्प में चलेगी, शिविर में वह आपको समझा दूं।
सुबह, हमने आज जो प्रयोग किया था वह हम दोपहर को करेंगे-चार से पांच... कीर्तन पंद्रह मिनट, पंद्रह मिनट नृत्य, और तीस मिनट विश्राम। सुबह हम कल से दूसरा प्रयोग शुरू करेंगे-दस मिनट तीव्र श्वास; दस मिनट नृत्य, चींखना, चिल्लाना, हसंना, शरीर की सारी शक्तियों को बाहर उलीच देना; दस मिनिट "हू" के मंत्र का प्रयोग-जैसा रात करेंगे, ऐसा; और फिर तीस मिनट विश्राम।
सुबह यह प्रयोग होगा। सुबह वाला जो हमने आज किया, वह दोपहर होगा। और रात जैसा हम प्रयोग करते हैं, वह रात जारी रहेगा।

सर्वसार उपनिषद
चौथा प्रवचन

आत्मा की अवस्थाएं

मन आदि चतुर्दश करणैः
पुष्कलैरादित्याद्यनगृहीतैः
शब्दादीन विषयान स्थूलान्
यदोपलभते तदाऽऽत्मनो जागरणम्।
तद्वासनासहिर्तैÜ चतुर्दशकरणैः
शब्दाद्यभावेऽपि वासनामयान्छब्दादीन्
यदोपलभते तदाऽ मनः स्वप्नम्।
सूर्यादि देवताओं की शि7 यों द्वारा मन, बुद्धि, चित्त अहंकार और दस इंद्रियां-इन चौदह करणों द्वारा जिस अवस्था में आत्मा शब्द, स्पर्श आदि
स्थूल विषय को ग्रहण करती है, उसे आत्मा की जाग्रत अवस्था कहते हैं।

शब्द आदि स्थूल विषय न होने पर भी जाग्रत अवस्था की शेष रह गयी वासना
के कारण मन, बुद्धि आदि चौदह करणों द्वारा शब्दादि वासनामय विषयों को जीव ग्रहण करता है, उस अवस्था को आत्मा की स्वप्न अवस्था कहा जाता है। मनुष्य की चेतना की चार अवस्थाएं हैं, जाग्रत से उन पर विचार प्रारंभ करते हैं।
ऋषि ने कहा हैः "इंद्रियों और मन के द्वारा चारों ओर फैले हुए सूर्य आदि देवताओं के प्रति जो संवेदनशील बोध की अवस्था है, वह जाग्रत है। "सूर्य आदि देवताओं की शि7 यों के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और
दस इंद्रियों के द्वारा जिस अवस्था में आत्मा शब्द, स्पर्श आदि स्थूल विषय को ग्रहण करती है, उसे आत्मा की जाग्रत अवस्था कहते हैं।"
भीतर है चैतन्य का वास, बाहर है विराट का विस्तार। इस विराट से संबंधित होने के दो उपाय हैं। यह जो बाहर फैला हुआ है, और यह जो भीतर निवास कर रहा है, इन दोनों के मिलन की दो, दो यात्राएं हैं। एक यात्रा है परोक्ष, इनडायरेक्ट; वह यात्रा होती है इंद्रियों के द्वार से। एक यात्रा है प्रत्यक्ष-डायरेक्ट, इमिजियेट, माध्यमहीन; वह यात्रा होती है अतींद्रिय अवस्था से।
यदि बाहर जो जगत है उसे जानना है तो दो द्वार हैं, एक द्वार है कि मैं शरीर का उपयोग करूं और उसे जानूं; और एक उपाय है कि मैं समस्त माध्यम छोड़ दूं और उसे जानूं।
साधारणतः बाहर प्रकाश है तो हम आंख के बिना नहीं जान सकते हैं; और बाहर ध्वनि है तो कान के बिना नहीं जान सकते हैं; और बाहर रंग हैं तो इंद्रियों का उपयोग करना पड़े-इंद्रियों से हम जानते हैं कि बाहर क्या है; इंद्रियां हमारे ज्ञान के माध्यम हैं।
स्वभावतः, इंद्रियों से मिला हुआ यह ज्ञान वैसा ही है, जैसे कहीं कोई घटना घटे और कोई मुझे आकर खबर दे-मैं सीधा वहां मौजूद नहीं हूं, कोई बीच में खबर लानेवाला संदेशवाहक है। नि9 चत ही खबर मुझे वैसी ही नहीं मिलेगी जैसी घटी है, क्योंकि संदेशवाहक की व्याख्या भी सम्मिलित हो जायेगी।
जब मेरी आंख मुझे खबर देती है कि वृक्ष पर फूल खिला है... बहुत सुंदर, बहुत प्यारा; यह खबर मुझे मिलती है, यह वृक्ष के, फूल के संबंध में तो है ही, यह आंख के रुझानों के संबंध में भी है, आंख ने अपनी व्याख्या भी जोड़ दी; और वृक्ष पर जो फूल खिला है, उसमें जो रंग दिखाई पड़ रहे हैं, वे वृक्ष के फूल में तो हैं ही, उन रंगों के संबंध में आंख ने भी बहुत कुछ जोड़ दिया है जो वृक्ष के फूल पर नहीं है।
यह जानकर आपको हैरानी होगी कि कोई पांच हजार साल पहले आदमी तीन ही रंग देख पाता था। इसलिए पांच हजार साल पुराने ग्रंथों में तीन से ज्यादा रंगों के नाम उपलब्ध नहीं हैं। फिर आदमी की आंखें और संवेदनशील होती चली गयीं, तो वह अब सात रंग देख पाता है।

कोलन विलसन ने अपने एक बहुत अद्भुत ग्रंथ में घोषणा की है... कि शीघ्र,
ही दो-चार-पांच सौ वर्षों में आदमी ऐसे रंग देख पायेगा जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते; आंखे और विकसित होती चली जाती हैं।
आंख विकसित होती है तो रंग दिखाई पड़ते हैं। आंख न हो तो रंग दिखाई नहीं पड़ते हैं; रंगहीन हो जाता है जगत। जो आदमी अंधा ही पैदा हुआ है उसे रंग का कोई बोध ही नहीं होता; जो आदमी बहरा पैदा हुआ है उसे ध्वनि का कोई जगत नहीं होता-जगत उसके लिए शून्य है... ध्वनि से।
हमारा जानना इंद्रियों के माध्यम से है। फिर इंद्रियां हमें जो खबर देती हैं वही मानने के लिए हम मजबूर हैं, क्योंकि हमारे पास और खबर पाने का कोई उपाय नहीं। पर इंद्रियों कि खबर में इंद्रियों की व्याख्या संयुक्त हो जाती है। एक चेहरा आप देखते हैं, सुंदर मालूम पड़ता है। फिर एक खुर्दबीन से उसी चेहरे को देखें, तो बहुत घबड़ाहट होगी; वह चेहरा बहुत ऊबड़-खाबड़ गड्ढोंवाला... पहाड़ी और झीलें भी उसमें दिखाई पड़ने लगेंगी; उसके छिद्र बड़े- बड़े गड्ढे हो जायेंगे। क्या खुर्दबीन गलत कह रही है? नहीं, खुर्दबीन अपनी व्याख्या दे रही है; वह आपकी आंखों से ज्यादा गहरा देख पाती है।
फिर एक्सरे की मशीन से देखें उसी चेहरे को, तो चमड़ी खो जायेगी, हड्डियों का ढांचा भीतर रह जायेगा। क्या एक्सरे की मशीन गलत खबर दे रही है? नहीं, एक्सरे की मशीन अपनी व्याख्या दे रही है। फिर जो चेहरा आपने अपनी खाली आंख से देखा था वह सही था... कि जो खुर्दबीन से देखा वह सही है... कि जो एक्सरे से देखा वह सही है? वे सभी एक ही चेहरे की खबर दे रहे हैं। सभी सही हैं, लेकिन प्रत्येक व्याख्या आंशिक है, और जिस माध्यम से पायी गयी है उस माध्यम पर निर्भर है।
लेकिन क्या ऐसा भी हो सकता है कि हम बिना माध्यम के जगत को देख सकें? क्योंकि जब हम बिना माध्यम से जगत को देखेंगे तभी सत्य दिखाई पड़ेगा। इसलिए ऋषियों की जो गहनतम खोज है वह यह है कि जब तक इंद्रियों से हम जगत को जानते हैं, तब तक जिसे हम जानते हैं वह जगत के ऊपर इंद्रियों के द्वारा आरोपित प्रक्षेपण है; उसी का नाम माया है। जो आपने देखा है वह दृश्य ही नहीं है, देखनेवाला भी उसमें संयुक्त हो गया है।
जब मजनू किसी को कहता है कि लैला बहुत सुंदर है, तो यह सिर्फ लैला के संबंध में नहीं कहता है, यह मजनू के संबंध में भी कहता है। असल में यह मजनू की आंख है जो लैला को सुंदर देख पाती है। यह.जरूरी नहीं है कि लैला सभी को सुंदर दिखाई पड़े। जिनको नहीं सुंदर दिखाई पड़ती, उनकी व्याख्या भी लैला के संबंध में ही है; और जिसे सुंदर दिखाई पड़ती है उसकी व्याख्या भी लैला के संबंध में है-वे दोनों एक ही व्यि7 के संबंध में बोल रहे हैं, पर उन दोनों ने जिस माध्यम से... मन और इंद्रियों के जिस माध्यम से लैला को खोजा है, वह माध्यम भी संयु7 हो गया उनकी व्याख्या में।
तो जब कोई आदमी आपको किसी के संबंध में खबर देता है कि वह आदमी बहुत अच्छा है, तो वह सिर्फ उस आदमी के संबंध में खबर नहीं देता, अपने संबंध में भी खबर देता है। और जब कोई आदमी कहता है कि फलां आदमी बहुत बुरा है, तो वह उस आदमी के संबंध में ही खबर नहीं देता, अपने संबंध में भी खबर देता है। शायद दूसरे के संबंध में उसकी खबर गलत भी निकल जाये, लेकिन खुद के संबंध में गलत नहीं निकल सकती। हमारी इंद्रियां व्याख्या को संयु7 करती हैं। वे निष्क्रिय हैं-द्वार नहीं हैं, सक्रिय प्रक्षेपण भी हैं।
तो एक तो मार्ग है इंद्रियों के द्वार से, जो सत्य का विस्तार है, उसे जानने का। इस सत्य को जानने से जो ज्ञान हमारी पकड़ में आता है, जिन्होंने इंद्रियों के पार भी जगत को देखा है, वे कहते हैं, वह ज्ञान हमारा इलु.जरी है, माया है। जब शंकर जैसा व्यि7 कहता है, यह जगत माया है, तो आप यह मत समझना कि वह यह कहता है कि यह जगत नहीं है। ऐसे पागलपन की बात शंकर नहीं कह सकते कि यह जगत नहीं है। यह जगत बिल्कुल है, लेकिन जैसा आपको दिखाई पड़ रहा है, वैसा नहीं है। वैसा दिखाई पड़ना आपकी दृष्टि है, वही दृष्टि इस जगत को माया बनाये दे रही है; जैसा जगत आपको दिखाई पड़ रहा है, वह आपकी व्याख्या है।
और इसलिए ठीक होगा यह कहना... कि इस जगत में एक माया नहीं है, जितने इस जगत को जाननेवाले हैं, उतनी मायाएं हैं। हर आदमी अपना जगत निर्मित किए हुए

जी रहा है; हर आदमी के इर्द-गिर्द एक जगत है। आप अपने जगत में घिरे हुए जीते हैं, आपका पड़ोसी अपने जगत में घिरा हुआ जीता है; इन दोनों जगत का कहीं कोई तालमेल नहीं होता। और जब भी दो जगत को हम एकसाथ बांधते हैं तो कलह होती है, कोलि.जन होता है। एक पत्नी और पति के बीच जो संघर्ष है वह दो जगत का संघर्ष है; एक बाप और बेटे के बीच जो संघर्ष है वह दो जगत का संघर्ष है। बेटा अपना जगत निर्मित कर रहा है, बाप का जगत निर्मित है; इन दोनों के बीच कलह होना अनिवार्य है। कोई और उपाय भी नहीं है। हम अपनी ही व्याख्या में घिरे हुए जीते हैं।
ऋषि कहता है, इस जगत को इंद्रियों के द्वारा जानने की जो स्थिति है, वह जाग्रत है। इंद्रियों के माध्यम से इस जगत को जानने की जो अवस्था है, उसे जाग्रत कहेंगे। इसमें दोत्तीन बातें और ख्याल में ले लेनी.जरूरी हैं। ऋषि ने कहा हैः "सूर्य आदि देवताओं को।"
सूर्य केंद्र है। हम अपने चारों तरफ जो भी देखते हैं, अगर उस सबके केंद्र को हम खोजें, तो सूर्य केंद्र है। सूर्य बुझ जाये तो हमारा पूरा जगत अभी राख हो जाये। जीवन सूर्य है। चाहे वृक्ष पर हरे पत्ते आनंद में मग्न हों, नाचते हों; और चाहे आकाश में बादल सरकते हों; और चाहे जमीन पर कोई गीत गाता हो, बांसुरी बजाता हो; और चाहे बीज में अंकुर टूटता हो; और चाहे झरने पहाड़ से उतरकर सागर की तरफ बहते हों, इस सबके आधार में सूर्य है। सूर्य बुझ जाये तो सब जीवन बुझ जायेगा। इसलिए सूर्य आदि देवता कहा है, बाकी सब गौण हैं; सूर्य प्रमुख है। सूर्य यानी जीवन।
आपके भीतरश्वास चल रही है और खून में गर्मी है और हृदय में धड़कन है... सूरज का हाथ है। अगर सूरज बुझ जाये तो हमें यह भी पता न चलेगा कि वह कब बुझ गया, क्योंकि उसके बुझने के साथ हम बुझ गये होंगे। कोई इतिहास लिखने को बचेगा नहीं, जो लिखे... कि फलां तारीख को सूरज बुझ गया; क्योंकि सूरज के बुझने के साथ हम सब तत्काल बुझ जायेंगे।
इसलिए सूर्य को सदा ही केंद्र पर स्वीकृति मिली है-पर इसे "देवता" क्यों कहते हैं? विज्ञान इसे देवता नहीं कहता। और वैज्ञानिक को चिंता होती है... कि यह... यह पैंथीईज्म है; यह हर चीज में भगवान को देखने की क्या .जरूरत है? सूरज सूरज है, इसमें देवता को देखने की क्या.जरूरत है? लेकिन भारतीय मनीषा कुछ और ढंग से सोचती है।
भारतीय मनीषा के सोचने का ढंग यह है कि जिससे हमें कुछ भी मिले, उसके प्रति अनुगृहित होना अनिवार्य है; ही क्योंकि अनुग्रह के बिना हमारे भीतर जो श्रेष्ठतम है उसका आविर्भाव नहीं होता। मनुष्य के भीतर जो भी श्रेष्ठतम है वह अनुग्रह के भाव से ही विकसित होता है। जितना अनुग्रह का भाव भीतर होगा, उतनी ही मनुष्य की आत्मा विकासमान होती है।
तो सूरज सिर्फ सूरज है... जब हम ऐसा कहते हैं, ठीक हैत्तो अनुग्रह का कोई संबंध निर्मित नहीं होता। ऐसा नहीं लगता कि सूरज से हमें कुछ मिला है; ऐसा भी नहीं लगता कि हम सूरज की फैली हुई किरणें हैं; ऐसा भी नहीं लगता कि सूरज से हमारे ह्यदय की धड़कनों का कोई संबंध है; ऐसा नहीं लगता कि हम सूरज के ही फैले हुए हाथ हैं-दस करोड़ मील दूर, लेकिन हैं हम सूरज की ही किरणें। वही धड़कता है हमारे भीतर; वही जीता है। उसकी ही ऊष्मा है, उसकी ही गरमी है। तो कोई संबंध निर्मित नहीं होता। लेकिन यह बड़ी नासमझी की बात है; क्योंकि जिससे हमें जीवन मिलता हो, उसके प्रति अनुग्रह का भाव न हो, तो हमारे भीतर जो श्रेष्ठतम है उसक विकास न हो सकेगा।
अनुग्रह का भाव धार्मिक चित्त का आधारभूत लक्षण है। उसी अनुग्रह के भाव पर उसे प्रभु का प्रसाद उपलब्ध होता है। इसलिए सूर्य को, सिर्फ प्रभावित होकर... कि वह अग्नि का महापिंड है, किन्हीं ने हाथ जोड़कर नमस्कार कर लिए होंगे, ऐसा नहीं है। जिन्होंने नमस्कार किया था, वे सत्य को भलीभांति जानने और पहचानने लगे थे... कि उस नमस्कार से सूरज को कुछ भी नहीं मिलता, लेकिन नमस्कार करनेवाले को बहुत कुछ मिलता है। वह अनुग्रह की संवेदना पैदा होनी शुरू होती है, वह ग्रेटिट्यूड! और उसमें ही सरलता जन्म जाती है, उसमें ही निर्दोष चित्त हो जाता है।

और यह सवाल सूरज के प्रति ही नहीं है, यह फिर सवाल तो बड़ा है। इसलिए जिन्होंने सूरज को नमस्कार किया था, उन्होंने नदियों को भी नमस्कार किया था, उन्होंने वृक्षों का भी नमस्कार किया था।
कभी-कभी बहुत मजे की घटनाएं घटती हैं। बौद्ध पच्चीस सौ वर्ष से बोधिवृक्ष की पूजा करते आ रहे हैं। कोई भी कहेगा, नासमझी की बात है। संयोग की बात थी कि बुद्ध उस वृक्ष के नीचे बैठे थे, इसमें पूजा जैसा क्या है; कहीं और भी बैठे हो सकते थे! लेकिन अभी बीस वर्षों में विज्ञान ने कुछ खोजें की हैं तो बड़ी हैरानी का तथ्य प्रगट हुआ है। वह तथ्य यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क में, जिसे हम योग में थर्ड आई, तीसरा नेत्र, या शिवनेत्र कहते रहे हैं, विज्ञान और भौतिकवादी चिंतक इस पर हंसते रहे थे कि तीसरी आंख जैसी कोई चीज आदमी के भीतर नहीं है; ये सब कल्पनाएं हैं।
लेकिन इधर पचास वर्षों में, दोनों आंखों के बीच में, एक ग्रंथि को विज्ञान खोज पाया है, जो कि शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य के भीतर जो भी चैतन्य का आविर्भाव हुआ है, वह उसी ग्रंथि में पैदा होनेवाले रसों से होता है। और वह ग्रंथि वही है जिसे सदा से पूरब के मनीषी तीसरा नेत्र कहते रहे हैं। उस ग्रंथि से जिस रस का आविर्भाव होता है, और जिस रस के बिना मनुष्य के भीतर चेतना पैदा नहीं होती, बुद्धि का आविर्भाव नहीं होता, बड़ी हैरानी की बात है कि वह रस वटवृक्ष में सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध है... सारे जगत की वनस्पतियों में।... सर्वाधिक!
तो कॉलन विलसन ने अपनी अभी नयी किताब में "दि आकल्ट" में लिखा है... कि कुछ हैरानी न होगी कि बुद्ध का उस वृक्ष के नीचे बैठना और बोधि को उपलब्ध होना, इसमें उस वृक्ष का भी हाथ हो! इस वृक्ष का भी हाथ हो, यह वृक्ष सिर्फ सांयोगिक नहीं है। इस वृक्ष का हाथ हो सकता है।
वटवृक्ष की ही जाति के पीपल वृक्ष को भारत सदा से पूजता रहा है। पीपल अकेला वृक्ष है पूरी पृथ्वी की वनस्पतियों में-सारे वृक्ष इस अर्थ में पीपल से बिल्कुल भिन्न हैं। रात को वृक्षों के नीचे सोना या बैठना-पीपल को छोड़कर-खतरनाक है। दिन भर वृक्ष ऑक्सीजन छोड़ते हैं, तो उनके पास होना जीवन के लिए हितकर है। और रात वृक्ष कॉर्बन डायऑक्साइड छोड़ते हैं, उनके पास रहना खतरनाक है; वे जीवन को हानि पहुंचाते हैं।
सिर्फ पीपल अकेला वृक्ष है जो चौबीस घंटे ऑक्सीजन छोड़ता है। उसके पास किसी भी समय रहें, वह जीवनदायी है।
तो जिन्होंने इतने वृक्षों के बीच पीपल को अचानक पूजा के लिए चुन लिया होगा, किसी अनुग्रह के भाव के कारण। और बुद्ध का इस वृक्ष के नीचे बैठकर बोधि को उपलब्ध होना, सिर्फ संयोग नहीं है, यह भी चुनाव है। इस वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का हिस्सा है।
इस जगत में जिन्होंने अनुग्रह की किरणें खोजनी चाही हैं, उन्हें कण-
कण से वे किरणें मिलती हुई मालूम पड़ी हैं। जहां से भी अनुग्रह का संबंध जुड़ जाता है, हमने उसी जगह को देवता कहा है।
देवता का अर्थ हैः जिसने हमें दिया ही है और हमसे लिया नहीं। देवता का अर्थ हैः जिससे हमें मिला ही है, सदा मिलता रहा है; नहीं मांगा है तो भी मिलता रहा है; हमने धन्यवाद नहीं दिया तो भी मिलता रहा है। उसका मिलना, उससे मिलना बेशर्त है, तो हमने देवता कहा है। और हम उसे और कुछ भी नहीं दे सकते लौटाकर लेकिन धन्यवाद तो दे ही सकते हैं।
यह जो चारों तरफ फैला हुआ प्रभु का विस्तार है, और इससे हमारे तारत्तार जुड़े हैं, इस जोड़ का बोध जब इंद्रियों के द्वारा चेतना को होता रहता है, तो उसे जाग्रत कहा है।
इस अवस्था को जाग्रत कहना सिर्फ प्रतीकात्मक है; क्योंकि हमने और बड़ी जागृति नहीं जानी इसीलिए इसे जाग्रत कहते हैं। तो रिलेटिव, सापेक्ष है; क्योंकि हम तीन अवस्थाएं जानते हैं। यह अवस्था इंद्रियों के द्वारा जगत से संबंधित होना; दूसरी अवस्था हम जानते हैं स्वप्न की, और तीसरी अवस्था हम जानते हैं सुषुप्ति की। चौथी अवस्था का हमें कोई पता नहीं। जिस दिन हमें चौथी अवस्था का पता चलता है, उस दिन हमें यह भी पता चलता है कि जिसे हमने जाग्रत समझा था, वह भी स्वप्न की और निद्रा की ही एक अवस्था थी।

श्री अरविंद ने कहा है कि जब मैं जागा तब मुझे पता चला कि अब तक मैं सोया ही हुआ था; और जब मैंने वास्तविक जीवन जाना तब मुझे पता चला कि जिसे मैं जीवन समझता था वह तो मृत्यु थी। लेकिन स्वाभाविक है कि जिसे हम नहीं जानते उसका हमें कोई ख्याल भी नहीं हो सकता; और उससे हम कोई तुलना भी नहीं कर सकते।
इसे जाग्रत कहते हैं आपकी बाकी दो अवस्थाओं की तुलना में। तीन अवस्थाओं से हम परिचित हैं-स्वप्न, सुषुप्ति, जाग्रत। इन तीनों में यही अवस्था जाग्रत कही जा सकती है। जिस दिन हम चौथी से परिचित होते हैं उस दिन ये तीनों अवस्थाएं निद्रा की अवस्थाएं हो जाती हैं; उस दिन फिर हमें दूसरे ढंग से कहना पड़ता है-उस दिन हमें कहना पड़ता हैः गहरी सुषुप्ति, कम गहरी सुषुप्ति और कम गहरी सुषुप्ति। जिसे अभी हम जाग्रत कहते हैं वह सब से कम गहरी सुषुप्ति है; जिसे हम स्वप्न कहते हैं वह और गहरी सुषुप्ति; और जिसे हम सुषुप्ति कहते हैं वह पूरी गहरी सुषुप्ति। ये तीनों नींद की ही अवस्थाएं हैं, लेकिन अभी इसे हम जाग्रत कहेंगे।
दूसरी अवस्था है स्वप्न।
"शब्द आदि स्थूल विषय न होने पर भी जाग्रत अवस्था की शेष रह गयी वासना
के कारण मन इंद्रियों द्वारा शब्द आदि वासनामय विषयों को ग्रहण करता है, उस अवस्था को स्वप्न अवस्था कहते हैं।"
कभी-कभी बहुत हैरानी होती है। कहते तो हैं हम कि जगत अब एक बड़ा गांव भर
हो गया है। मारशल मॅकलुहान कहता है, "ए ग्लोबल विलेज"; यह सारी.जमीन एक बड़ा गांव हो गयी है। लेकिन यह बात बहुत गहरी नहीं मालूम पड़ती। हम करीब मालूम पड़ते हैं, क्योंकि यात्रा के साधन बढ़ गये हैं; लेकिन फिर भी चेतना अभी भी बहुत करीब एक-दूसरे के मालूम नहीं पड़ती।
इस उपनिषद ने ह.जारों साल पहले यह स्वप्न की व्याख्या की है, और पिÜ चम अभी इन पचास सालों में इस व्याख्या को पूरा नहीं कर पा रहा है, अभी टटोल रहा है। हैरानी होती है यह बात जानकर कि मनुष्य की सभ्यताएं खोज लेती हैं किन्हीं बातों को, तो भी वे बातें स्थानिक और लोकल रह जाती हैं... सारी मनुष्य-चेतना तक नहीं फैल पातीं।
यह उपनिषद ह.जारों साल पहले कहता है कि हम उसे स्वप्न कहते हैं- इंद्रियां बंद हो गयीं, आंखें बंद हैं, फिर भी दृश्य देखे जा सकते हैं। सो गये, कान शिथिल पड़ गये, बाहर की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती, फिर भी भीतर ध्वनियां सुनी जा सकती हैं। हाथ निढाल पड़े हों मुर्दे की तरह, हाथ कुछ भी नहीं छूते, भीतर अब भी स्पर्श जाना जा सकता है।
तो ऋषि कहता है, जाग्रत में जो वासनाएं अपूर्ण रह गयीं, पूरी नहीं हो पायीं; जाग्रत में जो अधूरा छूट गया, स्वप्न उसे पूरा कर लेता है। तो स्वप्न जो है वह जाग्रत की पूर्ति है-सप्लीमेंट।
और दिन में बहुत कुछ अधूरा रह जाता है। राह से निकलते हैं, एक सुंदर स्त्री दिखाई पड़ती है लेकिन घूरकर नहीं देख सकते हैं; अशोभन है। मन की वासना रह जाती है देखने की शेष। रात स्वप्न में उसे देख लेते हैं। भोजन करने बैठे हैं, पूरा भोजन नहीं कर पाते हैं-भागदौड़ है, ह.जार काम हैं, संकोच है, शिष्टाचार है। रात स्वप्न भोजन को पूरा करवा देता है। जाग्रत में जो अधूरा रह गया-अनफुलफिल्ड; पूरा नहीं हो पाया-स्वप्न उस लीक को पकड़कर उसे पूरा कर देता है।
इसलिए जो आदमी अपने दिन में पूरी तरह जी लेगा, उसके स्वप्न खो जाते हैं। जो आदमी अपने दिन में पूरी तरह जी लेता है-पूरी तरह-जो भी करता है, पूरी तरह कर लेता है; अधूरा-अधूरा नहीं जीता, हर क्षण को पूरा जी लेता है, उसके स्वप्न खो जाते हैं।
बुद्ध जैसे व्यि7 को स्वप्न नहीं आयेंगे। न आने का कारण है, क्योंकि कुछ अधूरा बचता नहीं जिसे रात में चलाना पड़े।
ऋषि कहता हैः इंद्रियां जब बंद हों और तब भी चेतना इंद्रियों के ही रूपों को पुनः-पुनः देखती रहे, उसे स्वप्न कहते हैं।
स्वप्न और जाग्रत में एक फर्क हुआः जाग्रत में वस्तु बाहर होती है, रूप भीतर होता है; स्वप्न में वस्तु बाहर नहीं होती, लेकिन रूप भीतर होता

है। तो स्वप्न शुद्ध आकार है, कोई वस्तु नहीं है वहां। जिस व्यि7 को आप स्वप्न में देख रहे हैं वह बाहर मौजूद नहीं है, लेकिन उसकी आकृति भीतर मौजूद है। यह आकृति भी इंद्रियां ही पैदा करती हैं। ध्यान रहे, यह आकृति भी इंद्रियां ही पैदा करती हैं; यह भी इंद्रियजन्य ही है।
इंद्रियां इसे किस भांति पैदा करती हैं? प्रत्येक इंद्रिय अपने अनुभव को संगृहीत करती है। आपने जितने रंग देखे हैं अभी तक, जितनी बार देखे हैं, आपकी रंग की देखने की जो-जो स्मृतियां हैं वे आपकी आंख के पीछे संगृहीत हैं।
स्वप्न में वही संग्रह काम में आता है; आंख फिर से उन रंगों को भीतर खोल लेती है। आपने जिन-जिन को कभी छुआ है, स्पर्श किया है, वे सब स्पर्श संगृहीत हैं। मनुष्य की इस छोटी सी खोपड़ी के भीतर इस जगत का विशाल से विशाल संग्रह है; इस छोटे से सिर के भीतर कोई सात करोड़ सेल्स हैं। और एक-एक सेल, एक-एक बड़ी दुनिया को संगृहीत किये हुए है।
और यह संग्रह इस जन्म का ही नहीं है, यह संग्रह अनंत-अनंत जन्मों का है। इसलिए आप ऐसे रूप देख सकते हैं स्वप्न में, जो आपने इस जन्म में देखे ही नहीं; आप ऐसे चेहरे देख सकते हैं, जिनसे आपकी कोई मुलाकात ही नहीं, जिनका आपको कोई स्मरण नहीं; आप ऐसे दृश्य देख सकते हैं, जिनका आपकी इस जन्म की स्मृति से कोई लेना-देना नहीं। इसलिए स्वप्न बहुत भौचक्का कर जाता है कभी; बड़ी बिबूचन में डाल जाता है; कुछ सोच समझ में नहीं आता कि यह स्वप्न क्या है? यह कैसा है? जन्मों-जन्मों का संस्कार इकट्ठा है-जो भी जाना है आपने, वह सब इकट्ठा है। मन उसे फिर खोल लेता है; वह रिकॉर्डेड है।
संस्कार का अर्थ होता हैः संग्रहीत। संस्कार का अर्थ होता है, जो-- आपके मस्तिष्क के सेल्स में, कोष्ठों में इकट्ठा हो गया है।
अब तो वैज्ञानिकों ने ऐसे उपाय खोजे हैं कि आपके सिर के भीतर इलेक्ट्रोड डालकर आपके कोई भी भीतर के संग्रह को सक्रिय किया जा सकता है, आपकी बिना इजाजत के। आप कितना ही कहें कि मुझे रंग नहीं देखने, आप कुछ कर न पायेंगे। आपकी खोपड़ी के भीतर इलेक्ट्रोड डालकर, आपके रंग का जो संग्रह है, उसको बिजली से छुआ दिया जाये, तो आपके भीतर रंग ही रंग फैल जायेंगे। आप कितना ही कहें कि यह मैं नहीं देखना चाहता, आपके बस के बाहर की बात है, क्योंकि वह उस संग्रह को छू दिया। और एक और मजे की बात है कि उस संग्रह को जब भी छुआ जायेगा, पुनरु7 होगी वही रंगों की; क्योंकि वह तो सिर्फ रिकॉर्डेड है।
जैसे आप एक ग्रामोफोन रेकॉर्ड हैं, उसको आप कितनी ही बार बजायें, वह फिर वही गीत गा देगा। ठीक वैसा ही एक-एक सेल आपके मस्तिष्क का रेकॉर्ड है, उसको जब भी बिजली से छुएंगे, उस पर नीडल रख लीया आपने, अब फिर से सुई रख दी रेकॉर्ड की, वह फिर वही का वही बजा देगा-फिर वही का वही। ह.जार दफे ऐसा करिये, वह सेल जो उसमें रेकॉर्ड है, उसको फिर से दोहरा देगा। इसलिए अब एक बात सुनिÜ चत हो गयी है वैज्ञानिक अर्थों में भी... कि मस्तिष्क आपका एक संगृहित संस्कार, एक कंडिशनिंग है। स्वप्न में आप इसी संग्रह में से खोज-खोजकर चीजें फिर-फिर देखते रहते हैं। वह जुगाली है।
भैंस घास चर लेती है दिन में, चबाने की फुर्सत नहीं होती, क्योंकि पता नहीं, जब वह इसे चबाने में लग जाये तो यह घास तब तक कोई और चर जाये। तो पहले वह उसे चर लेती है, फिर फुर्सत में बैठकर जुगाली करती है-फिर निकाल लेती, और फिर उसे चबा लेती।
दिन भर हम संग्रह करते रहते हैं-जन्म भर, जन्मों हम संग्रह करते रहते हैं, फिर स्वप्न में जुगाली चलती है। जहां-जहां मन पूरा नहीं हो पाया था, उसको हम फिर खोल लेते हैं-उस रेकॉर्ड को हम फिर खोल लेते हैं; उस संस्कार को हम फिर पर्दे पर फैला देते हैं।
ऐसा समझें कि स्वप्न हमारे संस्कारों को बिना इंद्रियों की सहायता के, बिना जगत की सहायता के फिर से प्रक्षेपित कर लेने का, प्रोजेक्ट कर लेने का इंतजाम है। यह हमारी निजी संपदा है। हम अपने भीतर फिर एक जगत को फैला लेते हैं। पूरा जगत आप निर्मित कर ले सकते हैं। इसलिए स्वप्न में कभी भी पता नहीं चलता कि मैं स्वप्न देख रहा हूं। स्वप्न में पता चलता है कि जो

मैं देख रहा हूं वह सत्य है। स्वप्न से जागकर ही पता चलता है कि वह स्वप्न था। स्वप्न के भीतर पता नहीं चलता है कि वह स्वप्न है।
जिसको स्वप्न के भीतर पता चल जाये कि वह स्वप्न है, समझना कि स्वप्न टूट गया। क्योंकि यह पता चलनेवाला जो है, इसके मौजूद होते ही रेकॉर्ड वापस अपने खोहों में छिप जाते हैं; क्योंकि आदमी जाग गया; जागृति शुरू हो गयी, स्वप्न की अवस्था टूट गयी।
स्वप्न की अवस्था का अर्थ हैः इंद्रियों ने संग्रह किया है भीतर, हम बिना जगत की सहायता के भी अपने भीतर फिल्म की एक दुनिया पैदा कर सकते हैं; वह हम रोज करते हैं। यह हमारे चित्त की दूसरी अवस्था है। यह हमारी गहरी अवस्था है; क्योंकि जाग्रत में तो हमें चुनाव भी करने पड़ते हैं-समाज है, सभ्यता है, संस्कृति है-हमें हजार तरह की रुकावटें डालनी पड़ती हैं। लेकिन स्वप्न में हम मुक्त हैं। अब तक थे, पता नहीं, भविष्य में हम हो सकेंगे कि नहीं हो सकेंगे; क्योंकि धीरे-धीरे मनुष्य के स्वप्नों में भी प्रवेश करने की क्षमता वैज्ञानिक को मिलती चली जाती है।
तो जैसा अभी पिछले दो सौ वर्षों में सारी दुनिया में राजनैतिक चिल्लाते थे कि विचार की स्वतंत्रता चाहिये; कोई आश्चर्य न होगा कि इस सदी के बाद दुनिया में क्रांतियां खड़ी हों और लोग कहें कि स्वप्न की स्वतंत्रता चाहिये, हमारे स्वप्नों को मत छेड़ो; क्योंकि आज नहीं कल, सरकारों के हाथ में यह ताकत आ जायेगी कि वे जो स्वप्न आपको दिखाना चाहें वहीं दिखायें, और जो न दिखाना चाहें उस पर रुकावट डाल दें।
अणुबम से भी बड़ा खतरा जो है, वह यह है कि मनस्विवद वैसी व्यवस्थाएं किये दे रहे हैं, और विधियां खोजे ले रहे हैं कि आपके भीतरी मन पर भी बाहर से नियंत्रण किया जा सके। अणुबम आदमी के शरीर को नष्ट कर सकता है, लेकिन ये जो विधियां हैं, ज्यादा खतरनाक हैं; क्योंकि उससे मन की गहरी गुलामी पैदा कर सकते हैं। और किसी दिन आश्चर्य न होगा कि आपको पुलिस के दफ्तर में बुलाया जाये और पूछा जाये कि रात यह स्वप्न आपने क्यों देखा? सरकार इसके बिल्कुल खिलाफ है। यह स्वप्न बिल्कुल ही अराष्ट्रीय है; तुम देशद्रोही मालूम पड़ते हो; क्योंकि स्वप्न जांचे जा सकते हैं। और कोई हैरानी न होगी कि तानाशाही सरकारें उसका उपयोग करना शुरू करें। और आदमी के स्वप्नों को भी गतिमान किया जा सकता है। छोटा-मोटा गतिमान तो आप भी कर सकते हैं, अगर आपको थोड़ी तरकीब ख्याल में आ जाये।
कोई बहुत बड़े यंत्रों की.जरूरत नहीं है। एक आदमी सो रहा है, आप उसके पैरों के पास थोड़े बर्फ के टुकड़े रख दें थोड़ी दूरी पर, उसके पैरों में ठंडक शुरू हो जाये। उस आदमी के भीतर स्वप्न शुरू हो जायेगा कि वह नदी में चल रहा है... या करीब ऐसा कोई स्वप्न शुरू हो जायेगाः वर्षा हो रही है जोर से और पैर भीगे जा रहे हैं। स्वप्न देखना शुरू कर देगा। यह बाहर से जो पैर में ठंडक मिली, यह भीतर उसके मस्तिष्क के ठंडक के जो-जो संग्रह हैं उनको सक्रिय कर देगी।
आप अक्सर... जब भी नाईटमेयर होता है, कभी बहुत दुख- स्वप्न होता है, तो उसका कुल कारण होता है कि आप अपनी छाती पर हाथ रखे होते हैं, और कोई कारण नहीं होता। छाती पर हाथ रखे होते हैं तो भीतर सपना होता है, कोई छाती पर चढ़ गया। फिर स्वप्न शुरू हो गया। तो एक आदमी की छाती पर एक तकिया रख दें, तो आप उसके भीतर स्वप्न को थोड़ा सा मैनेज कर सकते हैं-थोड़ा सा! आप उसको, उसके स्वप्न को दिशा दे सकते हैं।
यह तो बहुत सामान्य है। लेकिन यंत्र अब खोज लिये गये हैं जिनसे गहरी दिशा दी जा सकती है; क्योंकि सीधे आपके मस्तिष्क के कोष छुए जा सकते हैं, और उनसे कुछ निकाला जा सकता है।
इंद्रियों के बिना ही, बाहर जो विराट जगत है, उससे संबंधित हुए बिना ही, अतीत संबंधों के आधार पर मनुष्य अपने भीतर जो जगत निर्मित कर लेता है, उस अवस्था का नाम स्वप्न है।
ये दो अवस्थाएं-जाग्रत, स्वप्न।
स्वप्न को समझ लेना और पार कर लेना.जरूरी है। स्वप्न से मुक्त हो जाना जरूरी है, तो ही जाग्रत में हमारी आंखें निर्दोष, निष्पक्ष, साफ,

धूम्ररहित हो पाती हैं। जानवरों की आंखों में एक निर्दोषता दिखाई पड़ती है जो आदमी की आंखों में नहीं दिखाई पड़ती। उसका कुल कारण इतना है कि जानवर स्वप्न कम देखते हैं, करीब-करीब नहीं देखते हैं। जो जानवर आदमियों के पास रहते हैं वे स्वप्न देखने लगते हैं-जैसे कुत्ते और बिल्लियां देखने लगते हैं; क्योंकि आदमी के पास रहकर आदमी की बीमारियां जानवरों को भी लग जाती हैं।
स्वप्न एक सतत बेचैनी है... आपके भीतर-एक सतत बेचैनी, एक सतत परेशानी है, एक तनाव; वह आपकी आंखों को प्रभावित करता है। एक गाय की आंखों में झांकें, ये आंखें बिल्कुल ही धूम्ररहित हैं। ये आंखें वैसी हैं, जैसे कोई शांत नीली झील होती, जिसमें नीचे तलहटी में पड़े हुए पत्थर भी दिखाई पड़ जाते हैं। तो इस गाय की आंख में उतरें, तो कितना ही उतरते चले जाएं, ये बिल्कुल खाली हैं; इसमें कहीं कोई पर्त नहीं है। पर आदमी की आंख! ... आदमी की आंख में बड़ी पर्त है। वे सब पर्तें स्वप्न से निर्मित हैं।
इसलिए जितना महत्वाकांक्षी आदमी होगा उतनी उथली आंख हो जायेगी; क्योंकि जितना महत्वाकांक्षी होगा उतने सपने देखेगा। क्योंकि मैंने कहा कि जो अधूरा रह जाता है उससे सपना पैदा होता है। और महत्वकांक्षा तो कभी पूरी होती ही नहीं; वह सदा ही अधूरी है। तो वह अधूरी महत्वाकांक्षा सपनों से भर देती है आदमी को। वे सपने इतने गहन हो जा सकते हैं कि उस आदमी को जगाना मुश्किल हो जाये।
जैसे हिटलर जैसे आदमी को, जिसे हमने जाग्रत कहा है, शायद वैसा जाग्रत
भी नहीं होता हिटलर जैसे आदमी के पास; वैसी अवस्था भी नहीं होती। यह तो अनुभव पीछे हुआ... हिटलर के दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के करीब-करीब मनोवैज्ञानिकों को यह अनुभव हुआ... कि जिस आदमी से हम लड़ रहे थे, वह मालूम होता है, नींद में है, जागा हुआ नहीं है। क्योंकि बर्लिन पर बम गिरने लगे और बर्लिन की सड़कों पर युद्ध हो रहा है, और हिटलर सब तरफ हार चुका है और अब कोई बचने का उपाय नहीं है, और हिटलर जिस बंकर में छिपा है, उसके सामने गोलियां बरस रही हैं, और हिटलर रेडियो से घोषणाएं कर रहा है कि हम मास्को में जीत रहे हैं।
यह आदमी सपने में रहा होगा; इस आदमी को... इस आदमी को, ये गोलियां जो इसके दरवाजे पर बरस रही हैं, नहीं सुनाई पड़ रही हैं। नहीं तो यह, यह कोई उपाय नहीं समझ में आता; यह कह रहा है कि हम जीत रहे हैं! हिटलर के सेनापति ने आकर उसे खबर दी कि हम हार रहे हैं तो उसने कहा, इसे गोली मार दो, यह पागल हो गया है; हम हार ही नहीं सकत हैं। यह सवाल ही नहीं। घड़ी दो घड़ी की बात है... हिटलर ने कहा कि मास्को सरेंडर कर चुका होगा, समर्पण कर चुका होगा। वह सब जगह हार चुका है-लेकिन स्वप्न में है; जागा हुआ आदमी नहीं है। महत्वाकांक्षी शायद स्वप्न में ही होता है जितनी महत्वाकांक्षा उतना गहरा स्वप्न। इसलिए अगर सबसे उथली आंख देखनी हो तो राजनैतिक के पास मिल सकती है। सबसे गहरी आंख देखनी हो तो वह संन्यासी के पास मिलती है; क्योंकि संन्यासी का मतलब ही यह है कि अब कोई महत्वाकांक्षा नहीं, अब कोई स्वप्न नहीं। अगर कोई एकाध स्वप्न बचा भी है आखिरी तो वह यही है कि कैसे स्वप्न से पार हो जायें! कैसे सपने से हट जायें और अलग हो जायें! अगर कोई एकाध महत्वाकांक्षा बची भी है तो वह यह कि महत्वाकांक्षा से कैसे छुटकारा... बस।
स्वप्न को बिखेर दें तो जाग्रत सजग हो जाता है। या जाग्रत को सजग कर लें तो स्वप्न बिखरने लगता है। जाग्रत होकर जीने लगें तो सपने कम हो जायेंगे, सपने कम कर लें तो जागृति बढ़ जायेगी; ये सब जुड़ी हुई, संयु7 घटनाएं हैं।
और अगर स्वप्न कम हो जायें, और जाग्रत गहरा हो जाये, तो ही आपको पहली बार पता चलेगा, सुषुप्ति क्या है; नहीं तो सुषुप्ति का पता नहीं चलेगा। गहरी सुषुप्ति क्या है?
हम सोते हैं.जरूर, लेकिन सुषुप्ति का हमें पता नहीं; क्योंकि जो जागने तक में सोया हुआ है, वह सोने में कैसे जाग सकेगा? जो जागने में नहीं जाग पा रहा है, वह सोने में कैसे जाग सकेगा? तो सुबह हम उठकर इतना ही कह

सकते हैं कि खूब अच्छी नींद आई, लेकिन हमें कोई भी पता नहीं कि वह नींद क्या थी?
आप जिंदगी भर से सो रहे हैं, लेकिन आपकी नींद से कभी मुलाकात नहीं हुई। आपने कभी नींद को उतरते देखा? जैसे रात उतरती है सांझ, सूरज ढल जाता है, और अंधेरा पर्त-पर्त जमीन को घेरने लगता है, ऐसा कभी आपने अपनी चेतना पर नींद को उतरते देखा? नहीं देखा। क्योंकि नींद जब उतरती है, तब आप मौजूद ही नहीं होते। और जब तक आप मौजूद होते हैं तब तक नींद उतरती नहीं।
तो सोते हैं रोज, लेकिन सोने से कोई परिचय नहीं है। और जो अपनी नींद से
ही परिचित नहीं हो पाया, वह स्वयं से क्या परिचित हो पायेगा? जिसके भीतर इतना बड़ा अंधेरा छाया हुआ है, इतना बड़ा महाद्वीप नींद का... आठ घंटा रो.ज सोता है, और सब होश खो देता है, वह आदमी कैसे उस गहरे तल पर पहुंच पायेगा जहां होश कभी खोया नहीं जाता? नहीं पहुंच सकेगा।
स्वप्न तोड़ना पड़े। साधना कि प्रक्रिया है स्वप्नों को तोड़ना, बिखेरना, ताकि जाग्रत और जाग्रत हो, और एक घड़ी आ जाये कि जाग्रत इतना जाग्रत हो जाये कि स्वप्न विलीन हो जायें। जिस दिन जाग्रत इतना जाग्रत हो जाता है कि स्वप्न विलीन हो जाते हैं, उसी दिन पहली बार सुषुप्ति का अनुभव होता है; सुषुप्ति का दर्शन होता हैत्तब हम सोते भी हैं और जानते भी हैं कि सोये हैं।
और जिस दिन कोई आदमी सोते में भी जानता है कि मैं सो रहा हूं, अब इस आदमी को सुलाने का कोई उपाय न रहा; अब इसको बेहोश नहीं किया जा सकता। अब क्रोध असंभव है। अब यह हत्या नहीं कर सकता, अब यह चोरी कर नहीं सकता, अब यह झूठ नहीं बोल सकता। अब यह सब असंभव है; क्योंकि अब वह, वह निद्रा का स्त्रोत ही टूट गया... जिससे यह बेहोश हो सकता था; वह जहर समाप्त हुआ... जिसमें मूर्छा पकड़ती थी, तंद्रा आती थी।
जब कोई व्यि7 सुषुप्ति में जागता है... तभी तुरीय को उपलब्ध हो पाता है-चौथी अवस्था को। सोने में जो जाग गया, वह तुरीय में पहुंच गया।
अब हम सुबह के ध्यान के लिए तैयार हों। दोत्तीन बातें समझ लें।
एकः थोड़े-थोड़े श्रम से नहीं कुछ होता; श्रम पूरा लेना.जरूरी है।
स्वप्न मजबूत हैं, जन्मों-जन्मों के हैं; तोड़ना है तो गहरा प्रहार करना पड़े।
आंख पर पट्टी रहेगी, और दस मिनट फास्ट ब्रीदिंग, तेजश्वास लेनी है। तेज... जैसे कि धौंकनी चलती है लोहार की। यह चोट करनी है भीतर कुंडलिनी पर कि वह जागे। दस मिनट पागल की तरहश्वास लेनी है। नाचना, कूदना जारी हो जायेगा, क्योंकि इतनी जोर सेश्वास चलेगी, शि7 जगेगी। फिर दूसरे चरण में दस मिनट नाचना है, कूदना है, चिल्लाना है, हंसना है-जो भी करने का हो, पूरी ताकत से करना है; खाली खड़े नहीं रहना है, कुछ न कुछ करना ही है-जो भी ख्याल में आ जाये, वह करना है। और फिर तीसरे चरण में "हू" का हुंकार करना है... और "हू" के द्वारा चोट करनी है। और चौथे चरण में हम विश्राम करेंगे।

सर्वसार उपनिषद
पांचवां प्रवचन

चेतना की घनी नींद और तुरीय

चतुर्दशकरणोपरमाद्विशेष विज्ञानभावाद्यदा
शब्दादीन्नोपलभते
तदाऽऽत्मनः सुषुप्तम्।
अवस्थात्रय भावाभावसाक्षी
स्वयंभावरहितं नैरंतर्यं चैतन्यं यदा
तदा तत्तुरीयचैतन्यमित्युच्यते।। 4।।

इन चौदह इंद्रियों के शांत बन जाने पर जिस अवस्था में विशेष ज्ञान नहीं होने से शब्दादि विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं, उस समय की आत्मा की अवस्था को सुषुप्ति कहा जाता है।
इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से निरंतर परे रहने वाला ऐसा जो नित्य साक्षी चैतन्य है, वही तुरीय चैतन्य है और उसकी अवस्था का नाम तुरीय है।

जाग्रत है पहली अवस्था, स्वप्न है दूसरी, और तीसरी है सुषुप्ति। सुषुप्ति का अर्थ हैः न तो बाहर के जगत का कोई बोध हो, न वस्तुओं का कोई अनुभव हो, और न ही वस्तुओं के द्वारा निर्मित आकृतियां, संगृहीत मन के संस्कार, और उनसे निर्मित स्वप्नों की कोई प्रतीति हो--चेतना पूरी तरह सो गई हो; कोई भी बोध शेष न रह जाए... चेतना हो लेकिन बोध न हो; जीवन हो लेकिन बिल्कुल सुप्त हो जाए--किसी तरह की कोई प्रतीति न होती हो; ऐसा हो जाए व्यक्ति जैसे कि जड़ है--जीवित रहते हुए जड़ जैसा हो जाए।
दो अवस्थाएं हमने समझीं... आंख खोलते हैं, बाहर का जगत दिखाई पड़ता है; आंख बंद कर लेते हैं तो भी बाहर जो देखा है, उसका भीतर स्वप्न दिखाई पड़ता है--कुछ दिखाई पड़ता ही रहता है--न हो जगत, तो जगत से बनी हुई आकृतियां पुनः- पुनः मन के पर्दे पर दौड़ने लगती हैं। लेकिन कोई दृश्य बना ही रहता है। जहां सभी दृश्य खो जाते हैं, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। न तो बाहर
की वस्तुओं का पता चलता और न भीतर के विचारों का--सभी चित्रों का प्रवाह बंद हो जाता है; पर्दा खाली हो जाता है; शून्य हो जाता हैं; कोई बोध नहीं रह जाता, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है।
अब यहां कुछ बातें समझ लेना बहुत ही जरूरी हैं। पहली बात तो यह समझ लेना जरुरी है कि हमें अपना कोई भी बोध नहीं है। अगर हमें अपना कोई बोध होता, तो जगत खो जाए, स्वप्न खो जाए, कम से कम एक बोध तो बना ही रहता है कि मैं हूं--न दिखाई पड़े चांद, तारे, सूरज; बंद कर लूं आंख; न चले कोई स्वप्न, तो भी मैं तो हूं। लेकिन हमें स्वयं का कोई बोध नहीं, हमारा सब बोध पर-केंद्रित है; हमें दूसरे का पता है, अपना कोई पता नहीं।
तो जब सभी दूसरे खो जाएंगे, तो बोध भी खो जाएगा, होश भी खो जाएगा। हमें
जो भी होश है वह दूसरे का है, अपना तो कोई होश है ही नहीं। पैर में पत्थर लगता है तो हमें पता चलता है पत्थर का, और पता चलता है मन में बनी हुई दर्द की प्रतीति का, अपना कोई पता नहीं चलता; जिसको पता चलता है उसका हमें कोई पता नहीं चलता।
मैं बोल रहा हूं अभी, आप सुनते हैं, तो आपको मेरे शब्दों का पता चलता है, और आपके कान पर जो झनकार बनती है उसका भी पता चलता है, लेकिन इन सबके भीतर छिपा जो सुनने वाला है, उसका कोई पता नहीं चलता। तो अगर बोलना बंद हो जाए, और कान में पड़ने वाले शब्द खो जाएं, और भीतर भी ध्वनि न उठे, तो फिर आपको कोई होश नहीं रह जाएगा।
इसलिए कुछ विचारक तो यहां तक भी कहते हैं... और उनका कहना सौ में निन्यानबे मौके पर सच है--वे कहते हैंः चेतना जैसी कोई चीज ही नहीं है;

केवल दूसरी उपस्थित चीजों के प्रति जो प्रतिसंवेदना है, वही केवल चेतना है।
यह जो तीसरी अवस्था है अचेतन हो जाने की, सुप्त हो जाने की, यह बड़े गहरे रहस्य खोलती है। पहला तो यह रहस्य खोलती है कि हम बड़े भ्रम में हैं कि हमारे पास चेतना है; हमारे पास चेतना नहीं है। इसलिए जब आप खाली-खाली होते हैं, तत्काल नींद पकड़ लेती है। खाली जागे रहना बहुत मुश्किल मालूम पड़ता है। व्यस्त नहीं हैं आप तो तत्काल नींद उतरनी शुरू हो जाती है। इसलिए व्यस्त होना जरूरी है। और इसका दूसरा परिणाम भी होता हैः जब आप बहुत व्यस्त होते हैं, तो लाख कोशिश करें नींद नहीं आती। रात है, बिस्तर पर पड़े हैं, लेकिन विचार आए ही चले जाते हैं, तो नींद नहीं आती; क्योंकि जब विचार आए ही चले जाते हैं तो आपको चेतन रहना ही पड़ता है, आप सो नहीं सकते; विषय मौजूद है--न सही बाहर का।
अगर कोई आपके पास में बैंड-बाजे बजा रहा है, तो आप नहीं सो पाते हैं, क्यों? क्योंकि वह बैंड-बाजे की चोट आपको चेतन बनाए रखती है, वह नींद में नहीं जाने देती। लेकिन कोई बैंड-बाजे भी न बजा रहा हो, आप आंख बंद करके पड़े हैं, लेकिन आपके मन में बड़े खयाल चल रहे हैं, बड़े स्वप्न चल रहे हैं, तो भी नींद नहीं आती। अगर नींद लाने का विचार भी चल रहा हो तो भी नींद नहीं आती। अगर यह भी खयाल चल रहा हो कि कैसे नींद आ जाए, क्या करूं कि नींद आ जाए, तो भी नींद नहीं आती; क्योंकि जब तक कोई ऑब्जेक्ट, कोई विषय बना रहता है तब तक आप चेतन बने रहते हैं। विषय खो जाएं, आप तत्काल अचेतना में डूब जाते हैं। तो हमारी यह चेतना वस्तुओं पर निर्भर है; इसके हम मालिक नहीं हैं। ठीक
से समझें तो यही है बंधन... गहरे में। दिस इ.ज दि बांडेज। कोई हमें जगाए तो हम जगे रह सकते हैं; अगर कोई न जगाए तो हम तत्काल बेहोश हो जाएंगे। इसलिए आदमी रोज-रोज नई-नई संवेदनाएं खोजता है; नहीं तो जिंदगी बेहोश होने लगती है।
एक ही पत्नी! ... तो जिंदगी बेहोश होने लगती है; तो आदमी पत्नियां बदलना चाहता है। एक ही मकान! ... तो जिंदगी बेहोश होने लगती है; तो आदमी मकान बदलना चाहता है। एक ही भोजन! ... तो जिंदगी बेहोश होने लगती है; तो आदमी रोज भोजन बदलना चाहता है। यह बदलाहट इसलिए ताकि हम जगे रहें, नहीं तो हम सो जाएंगे-- अगर बदलाहट बिल्कुल न हो तो हम सो जाएंगे। इसलिए सोने की सब तरकीबें एक काम, एक तरकीब को उपयोग में लाती हैं।
सोने की जितनी भी तरकीबें हैं, जिन लोगों को नींद नहीं आती उनके लिए सरलतम उपाय यह है कि वे कोई एक चीज को दोहराए चले जाएं, तो थोड़ी देर में ऊब जाते हैं; क्योंकि नया नहीं होता तो जगने का कोई कारण नहीं रह जाता। तो आप अगर राम-राम, राम-राम, राम-राम, राम-राम भी दोहराते रहें तो भी नींद आ जाएगी। इसलिए जप करने वालों को जो नींद आ जाती है, मंदिर में पूजा- प्रार्थना करने वालों को जो नींद आ जाती है, उसका कारण यह है कि एक ही शब्द में नवीनता न होने से चुनौती नहीं रहती; जागने का कोई कारण नहीं रह जाता। बच्चे को मां माथे पर थपकी दे देती है दस-पांच--वही थपकी... वही थपकी... वही थपकी... वह सो जाता है। थपकी में कुछ और नहीं है, ऊब जाता है; उसमें कुछ नयापन नहीं है, सो जाता है।
इसलिए आपको अपने कमरे में नींद जल्दी आ जाती है, दूसरे के कमरे में देर लगती है, क्योंकि दूसरे का कमरा थोड़ा नया है; आपको अपने ही तकिए पर, अपने ही बिस्तर पर नींद जल्दी आ जाती है, दूसरे के बिस्तर पर, दूसरे के तकिए पर नींद जल्दी नहीं आती; कुछ नया है जो जगाए रखता है। इसलिए सभी लोगों के सोने का एक रिचुअल होता है, क्रियाकांड होता है।
छोटा बच्चा है, परेशान है, वह अपना अंगूठा ही मुंह में ले लेता है। थोड़ी देर में उससे ऊब जाता है, कुछ नया नहीं है, सो जाता है। छोटे बच्चे और बड़े लोगों में कोई बहुत फर्क नहीं है। कोई आदमी है, जो कि रात जब तक सिगरेट न पी ले तब तक सो न सकेगा। तो वह सिगरेट पी लेता है--अंगूठा चूसने का सब्स्टीट्यूट है; फिर उसको नींद आ जाती है। फिर उसको नींद आ जाती है! नियमित क्रम है, वह ऊबा देता है जल्दी। नई जगह में, नये लोगों के बीच, नये

मकान में नींद मुश्किल से आती है, क्योंकि बहुत कुछ मौजूद है चारों तरफ जो आपको जगाए रखता है--कहता है, मुझे देखो, जगो; कुछ नया है।
पश्चिम में जो नींद टूट गई है उसका कारण यह है कि पश्चिम इतने जोर से बदल रहा है कि रोज वहां नया मौजूद हो जाता है। पूरब अभी भी नींद के लिहाज से सुखी है--ज्यादा दिन रहेगा नहीं।
एक गांव का आदमी गहरी नींद सोता है, शहर का आदमी उतनी गहरी नींद नहीं
सो पाता। कारण कुछ भी नहीं है, गांव का आदमी पुराने में ही जीता है, ऊबा हुआ ही जीता है; उसमें नया कुछ होता नहीं जो जगा दे। शहर के आदमी को रोज-रोज सब-कुछ नया है--नई फिल्म चलती है, नया अखबार छपता है, नये लोग मिलते हैं, नये सामान बाजार में आ जाते हैं, दुकानों की शो-विन्डो.ज पर नई चीजें टंग जाती हैं, नई फैशन हो जाती है--रोज नया है। उस नये के कारण जागना सतत हो जाता है, नींद मुश्किल हो जाती है। गांव में सब पुराना है--वही गांव है, वही रास्ता है--सब वही है; वे ही लोग हैं।
मैं अपने गांव कभी जाता हूं साल भर बाद, दो साल बाद, सब वही का वही है।
तो गांव में प्रवेश करते हुए मैं जानता हूं, स्टेशन पर कौन सा कुली मुझे दिखाई पड़ेगा, वही दिखाई पड़ता है--एक ही कुली है; फिर कौन सा तांगे वाला मुझे मिलेगा, और वह तांगे वाला मुझसे क्या बातें करेगा; क्योंकि वह सालों से वही बातें, जब भी मैं जाता हूं, मुझसे करता रहा है। फिर गांव की सड़कों पर से तांगा जाता है तो मैं जानता हूं कि कौन आदमी घर के बाहर सोकर खांस रहा होगा... क्या हो रहा होगा गांव में वह प्रिडिक्टेबल है; वह मुझे पहले से पता है कि यह हो रहा होगा; उसमें कोई न के बराबर फर्क होता है। कभी कोई घटना घटती हैः गांव में कोई मर जाता है, कोई जन्मता है--कभी, बाकी सब वैसा ही चलता चला जाता है।
पूरब नींद के संबंध में बड़ा सुखी था, क्योंकि सब ठहरा हुआ था। पश्चिम नींद के संबंध में मुश्किल में पड़ गया; सब बदल रहा है--इतने जोर से बदल रहा है कि पांच साल बाद उसी गांव में जाकर खड़े होकर यह कहना मुश्किल है कि यह वही गांव है; सभी कुछ बदल गया है। तो नींद टूट गई है। नींद... अगर कोई विषय आपको उत्प्रेरित न करता हो, तो स्वभावतः फलित हो जाती है; और अगर कोई प्रेरणा बाहर बनी रहे तो आप जागे रहते हैं।
सुषुप्ति की यह व्याख्या बड़ी अदभुत है; यह व्याख्या यह कहती है कि बोध--स्व-बोध जैसी कोई चीज हमारे पास नहीं है; सेल्फ कांशसनेस जैसी कोई चीज हमारे पास नहीं है... दूसरों की चेतना है। दूसरे जगाते हैं तो हम जगे रहते हैं; दूसरे हमें खींचते हैं तो हम जगे रहते हैं; दूसरे चुनौती देते हैं, संघर्ष देते हैं तो हम जगे रहते हैं। अगर कोई हमें न जगाए तो हम तत्काल सो जाएंगे, गहरे में खो जाएंगे।
एक गांव में मैं ठहरा हुआ था, एक आदमी को सांप ने काट लिया था। कोई चिकित्सक गांव में नहीं है, और दूसरे गांव तक उसे ले जाना है, तो गांव के बुजुर्गों ने सलाह दी कि उसे सो मत जाने देना, जगाए रखना; क्योंकि अगर वह सो गया तो शायद उसका लौटना फिर मुश्किल हो जाए। तो दूसरे गांव उसे लोग ले जा रहे हैं, उसे जगाए रखे हुए हैं। उसे जगाए हुए हैं... उसे सोने नहीं देते, उसको पानी छिड़क रहे हैं, उसको उठा कर बिठाए हुए हैं, उसे हिला रहे हैं कि वह सो न जाए।
उस दिन उस गाड़ी में उनके साथ थोड़ी दूर मैंने भी यात्रा की और तब मुझे अचानक खयाल आया कि यह आदमी तो सांप का काटा हुआ है, लेकिन हम सब की भी हालत ऐसी ही है। अगर हमें चारों तरफ जगाने वाले लोग न हों तो हम भी खो जाएं और सो जाएं। पूरे वक्त हमें कोई जगाए रखे है। नई उत्तेजना चाहिए तो थोड़ी रौनक आती है। इसलिए देखते हैं, जब युद्ध छिड़ जाता है तो लोगों की आंखों में रौनक बढ़ जाती है; चेहरे पर ताजगी आ जाती है! नई घटना घट रही है! रोज नया अखबार सुबह! जो कभी ब्रह्ममुहूर्त में नहीं उठते, वे ब्रह्ममुहूर्त में उठ कर अखबार की राह देखने लगते हैं! क्या हो रहा है? हैरानी की बात है, युद्ध से उदासी आनी चाहिए, लेकिन युद्ध से खुशी आती है; युद्ध से पीड़ा होनी चाहिए, लेकिन युद्ध से ताजगी मालूम होती है! मरी-मराई कौमें भी जिंदा मालूम पड़ने लगती हैं कि जिंदा हैं... कुछ खून दौड़ रहा है! क्यों?

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जैसा आदमी है, ऐसे आदमी के रहते हुए हमें लड़ाई जारी रखनी ही पड़ेगी; क्योंकि नहीं तो यह बिल्कुल सुस्त... फिर इसको अच्छा ही नहीं लगता! कहीं न कहीं कुछ होते रहना चाहिए--कोई उपद्रव, नहीं तो हम सो जाएंगे। हम सांप-काटे हुए हैं।
यह जो अवस्था है तीसरी--सुषुप्ति, इस अवस्था का अर्थ हैः जब कोई भी विषय हमें आंदोलित करने को नहीं होता--न बाहर, न भीतर; न वस्तुओं के जगत में, न विचार के जगत में, तब जो स्थिति फलित होती है उसे भारतीय सुषुप्ति कहते हैं--जीवित हम होते हैं लेकिन अचेतन होते हैं।
इस चौथी अवस्था का नाम हैः "तुरीय।" जब कोई इस तीसरे को तोड़ डालता है...
और सारा जगत मिट जाए, कोई न हो तो भी जागा रह सकता है--चांद-तारे बुझ जाएं, जमीन खो जाए, सब नष्ट हो जाए, कुछ भी न बचे, मैं अकेला ही बचूं और फिर भी जागा रहूं, फिर भी मुझे होश हो... चारों तरफ शून्य छा जाए, सब रिक्त हो जाए, खाली हो जाए... अकेला मैं ही बचूं, जानने को कुछ भी न बचे, जानने वाला ही बच रहे--कोई ज्ञेय पदार्थ न रह जाए, केवल ज्ञाता ही रह जाए; कोई शब्द न सुनाई पड़े, सिर्फ सुनने वाला बचे; कोई दृश्य न दिखाई पड़े, केवल देखने वाली क्षमता रह जाए--उस समय भी अगर मैं होश में रह जाऊं, तो उस अवस्था को भारतीय मनीषा कहती हैः वह चतुर्थ अवस्था ही वास्तविक अवस्था है; वही "तुरीय" है। उसे जो पा लेता है वह सब-कुछ पा लेता है; जिसने उसे नहीं पाया, वह केवल वस्तुओं को या विचारों को संगृहीत करता रहता है... और धोखे में रहता है, धोखे में रहता है कि मैं जानता हूं कि मैं कौन हूं। छीन लो उसके विषय और छीन लो उसके विचार... और वह खो गया नींद में और कुछ भी नहीं बचा उसके पास।
एक आदमी के पास बहुत धन है, जब हम उसका धन छीनते हैं तो उसे जो तकलीफ होती है वह तकलीफ सिर्फ धन के छिनने की नहीं है; धन के छिनने के साथ-साथ उसकी आत्मा भी छिनती है; क्योंकि आत्मा तो उसके पास है नहीं; वह धन के संबंध में ही थी। जब हम किसी आदमी से उसका महल छीनते हैं तो महल ही नहीं छिनता, उसकी आत्मा भी छिनती है, क्योंकि आत्मा तो उसके पास थी ही नहीं; जितना बड़ा महल था उतनी ही बड़ी आत्मा का वहम था। वह महल छिन गया, उतनी ही आत्मा छिन गई।
इसलिए संन्यास ने एक अदभुत प्रयोग किया... हजारों साल में इस पृथ्वी पर, इस भूमि में संन्यास का एक अनूठा प्रयोग हुआ; वह प्रयोग मैं आपको इस संदर्भ में कहूं। वस्तुतः वह त्याग की बात नहीं है, वह वस्तुतः इस बात की कोशिश है कि एक व्यक्ति सब-कुछ छोड़ कर देखता है कि फिर भी मैं बचता हूं या नहीं?
सवाल यह नहीं है कि संसार बुरा है इसलिए छोड़ दो; और सवाल यह नहीं है कि
घर बुरा है इसलिए छोड़ दो; और सवाल यह नहीं है कि पत्नी पाप है इसलिए छोड़ दो; संन्यास का जो अनूठा प्रयोग प्राथमिक रूप से हुआ, वह इस चेष्टा में था कि क्या मैं सब छोड़ कर भी बचता हूं? अगर नहीं बचता हूं तो मैं नहीं ही था--धोखे में था। अगर सब छोड़ कर भी बच सकता हूं--पत्नी नहीं मेरी, बेटा नहीं मेरा, मित्र नहीं मेरे, घर नहीं मेरा, धन नहीं मेरा--निपट नंगा, अकेला खड़ा हूं राह पर--फिर भी क्या मैं बचता हूं? अगर बच सकता हूं तो ही मेरे पास आत्मा है, अगर नहीं बचता हूं तो मुझे आत्मा की खोज करनी चाहिए।
यह इसलिए नहीं था छोड़ना कि चीजें बुरी हैं; यह इसलिए था छोड़ना कि चीजों के साथ रहने पर खयाल आना मुश्किल होता है कि मैं भी हूं या केवल चीजों का जोड़ ही है।
जंगल छोड़ कर जाता था साधक, इसलिए नहीं कि शहर कुछ बुरा है; और इसलिए भी नहीं कि गांव में सत्य नहीं मिल सकता है; इसलिए भी नहीं कि परमात्मा कुछ भयभीत है गांव में आने को। वहां भी आ सकता है। छोड़ कर जाता था एकांत में सिर्फ इसलिए कि क्या अकेले में भी मैं बचता हूं कि सो जाता हूं? अकेले में भी मुझे होश रहता है कि खो जाता है? जब मैं सबको छोड़ देता हूं फिर भी मैं होता हूं या नहीं होता? अगर होता हूं तो ही मेरे पास आत्मा की कोई छोटी- मोटी संपदा है, अन्यथा नहीं है। अगर नहीं है तो खोज पर निकलूं, अगर है तो उसे बड़ा करूं।

इसलिए जब बुद्ध या महावीर अपनी आत्मा को पा लेते है, तो गांव वापस लौट आते है; अब कोई बहुत डर नहीं है; अब कोई चिंता भी नहीं है; अब वे जानते हैं कि वे हैं।
हम बिल्कुल नहीं हैं, इसलिए हमें वस्तुओं से इतना मोह होता है; वह मोह वस्तुओं का नहीं है, वे हमारी आत्माएं हैं। जब कोई आपसे आपकी कमीज छीनता है, तो कमीज नहीं छीन रहा है, आपके प्राण छीन रहा है। वह कमीज नहीं है सिर्फ! कमीज ही होती तो इतने परेशान होने की बात न थी।
जीसस ने कहा है अपने अनुयायियों कोः अगर तुमसे कोई तुम्हारा कोट छीने
तो कमीज भी उसे दे देना, पता नहीं, जरूरत हो और संकोचवश न छीनता हो। इसलिए नहीं, इसीलिए कि तुम इतने जोर से कमीज को मत पकड़ लेना कि ऐसा लगे, तुम्हारी आत्मा है। और अगर कोई तुमसे कहे कि एक मील तक बोझ को ढोओ, तो तुम दूसरे मील तक ढो देना, सिर्फ इसीलिए कि ताकि तुम कह सको कि इस शरीर को मैं अपना ही नहीं मानता, यह तुम्हारा भी उतना ही है।
चैतन्य पैदा होता है, सुषुप्ति को तोड़ने से।
मैंने गुरजिएफ का नाम लिया। गुरजिएफ अपने साधकों को कहता था कि अपनी घड़ी पर नजर रखो--सेकेंड का कांटा घूम रहा है, तुम एक छोटा सा प्रयोग करो, सेकेंड के कांटे को याद रखो और देखते रहो कि सेकेंड का कांटा घूम रहा है-- और साथ ही यह भी याद रखो कि मैं इसको याद रख रहा हूं। सिर्फ छोटी सी बात है, लेकिन इतनी छोटी नहीं। करेंगे तो पता चलेगा, बड़ा कठिन है। एवरेस्ट पर चढ़ जाना आसान है; यह बहुत छोटा सा प्रयोग, बहुत दुस्तर! यह घड़ी का कांटा घूम रहा है सेकेंड का, यह साठ सेकेंड में एक मिनट का चक्कर पूरा करेगा, गुरजिएफ कहता थाः अगर तुम पूरे एक मिनट भी इतना याद रख सको, तो मैं कहूंगा, तुम्हारे पास थोड़ी बहुत आत्मा है। इतना भी--एक मिनट--कि कांटा घूम रहा है यह भी याद बना रहे, और यह भी याद बना रहे कि मैं याद रख रहा हूं--डबल एरोड कांशसनेस; दोहरा तीर--इधर कांटे को भी देखते रहो और इधर स्वयं को कि मैं देख रहा हूं। और आप हैरान होंगे कि तीन-चार सेकेंड भी नहीं चल पाता कि झपकी आ जाती है! तीन-चार सेकेंड नहीं चल पाता--या तो कांटा भूल जाता है या खुद को भूल जाते हैं--दो में से एक भूल जाते हैं।
एक मिनट याद रखना मुश्किल है कि मैं हूं। तो सुषुप्ति बड़ी गहरी होगी। अगर कांटा भूलता है, तो भी सो गए... कांटा कब भूलता है? कांटा तब भूलता है जब कोई और विचार बीच में आ जाता है और ध्यान वहां खिंच जाता है--कांटा भूल जाता है। अगर कांटा नहीं भूलता और जबर्दस्ती रोक कर कांटे पर ध्यान रखते हैं तो भीतर से ध्यान खिसक जाता है कि मैं ध्यान रख रहा हूं।
अत्यंत दयनीय मालूम पड़ती है आदमी की स्थिति कि एक मिनट भर याद न रख सके कि मैं हूं! लेकिन इसका कारण है। और इसका कारण है, सुषुप्ति की धारा को हमने कभी छुआ ही नहीं; हम गहरे में सोए ही हुए हैं। थोड़ी बेचैनी बाहर होती है... एक आदमी सो रहा है आप उसकी टांग खींच देते हैं तो वह करवट लेकर जरा सी आंख खोलता है और कुछ बड़बड़ा कर फिर सो जाता है--बस, ऐसी हमारी जागृति है। मजबूरी है, भूख लगती है, इसलिए सुबह उठना पड़ता है। मजबूरी है, नौकरी करनी पड़ती है, बच्चों को भोजन जुटाना पड़ता है, इसलिए दफ्तर जाना पड़ता है। चले जा रहे हैं खिंचे हुए, जैसे कोई टांग खींच रहा है नींद में से। और जैसे ही फुर्सत मिलती है, छोड़ कर आदमी सो जाता है।
अगर आपको कोई मौका दे चौबीस घंटे सोने का, आप जगना चाहेंगे? कोई अगर व्यवस्था कर दे कि सोओ चौबीस घंटे, आप जगना चाहेंगे? जगना मजबूरी है। इसलिए जिनके पास सुविधा हो जाती है वे शराब पीकर सोने लगते हैं; क्योंकि अब जगने की कोई जरूरत नहीं रही। जिन्हें और सुविधा हो जाती है, एल एस डी है, मारीजुआना है, मेस्कलीन है, उनमें डूब जाते हैं।
जब भी कोई समाज थोड़ी सी सुविधा जुटाता है तो पहला खर्चा शराब पर करता है। समाज की छोड़ दें, एक आदमी भी थोड़ी सी सुविधा जुटा लेता है, तो पहला खर्चा शराब पर कर देता है। क्यों? बेहोश होने की इतनी आकांक्षा क्यों? क्या होश इतना दुखद है? जिस होश को हम जानते हैं, वह बड़ा दुखद है--वह ऐसे ही है, जैसे जबर्दस्ती कोई खींच कर जगाए रखे और मौका मिले और आप तत्काल नींद में खो जाएं और गिर जाएं।

सुषुप्ति की पर्त हमारे भीतर भरी है; नींद हमारे भीतर भरी है। यह तीसरी अवस्था है और साधक को जान लेनी ठीक से जरूरी है, क्योंकि इसको तोड़े बिना चौथे तक पहुंचने का कोई उपाय नहीं है।

ऋषि ने कहा हैः "सब इंद्रियों के शांत बन जाने पर, विशेष ज्ञान न होने पर, विषय जब ग्रहण नहीं होते तब, उस समय आत्मा की अवस्था को सुषुप्ति कहा जाता है।"
"और इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से निरंतर परे, ऐसा जो नित्य साक्षी चैतन्य है, वही तुरीय है।"
ये हैं तीन अवस्थाएंः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति; लेकिन किसकी हैं ये अवस्थाएं? कौन है जो इन तीनों में चलता है? कौन है जो जागता, और कौन है जो स्वप्न देखता, और कौन है जो सोता है? निश्चित ही वह अलग होगा। निश्चित ही वह अलग होगा!
मैं एक स्टेशन से गुजरता हूं, फिर दूसरी स्टेशन से गुजरता हूं, फिर तीसरी स्टेशन से गुजरता हूं--ये तीनों स्टेशन हैं; निश्चित ही यात्री अलग होगा। मैं स्टेशन नहीं हूं, नहीं तो दूसरी स्टेशन पर कैसे पहुंच पाता! दूसरी स्टेशन भी मैं नहीं हूं, क्योंकि मैं तीसरी पर पहुंच जाता हूं; और तीसरी भी मैं नहीं हूं, क्योंकि मैं फिर दूसरी पर, फिर पहली पर चला आता हूं।
आदमी जागता है, स्वप्न देखता है; सोता है, फिर सोता है, फिर जागता है, फिर स्वप्न देखता है--तीनों में डोलता रहता है। इसलिए ऋषि कहते हैं कि जो इन तीनों में डोलता रहता है वह चौथा होना चाहिए, वह तीन में से कोई भी नहीं हो सकता।
क्या करें? कैसे संभव होगा? इस सुषुप्ति को कैसे तोड़ पाएंगे? सब तरफ घेरे हुए है नींद। चलते हैं सोए हुए, उठते हैं सोए हुए, बैठते हैं सोए हुए... जो भी कर रहे हैं, सोए हुए।
बुद्ध गुजरते हैं एक राह से। तब की है बात जब वे बुद्ध न थे। एक मित्र साथ है; एक मक्खी बुद्ध के कंधे पर आकर बैठ गई। बुद्ध ने इस मित्र से बातें जारी रखीं, राह पर चलते रहे, मक्खी को हाथ मार कर उड़ा दिया... फिर ठिठक कर खड़े हो गए। मित्र ने पूछाः क्या मक्खी ने काटा? लेकिन बुद्ध ने आंखें बंद कर लीं। मित्र को जवाब न दिया, हाथ को उठाया, वापस उस जगह ले गए जहां थोड़ी देर पहले मक्खी थी--अब नहीं थी, उड़ाया उस मक्खी को जो अब वहां नहीं थी, वापस हाथ को नीचे लाए।
मित्र ने कहाः पागल हो गए हैं? मक्खी तो उड़ गई पहली ही चोट में, अब क्या उड़ाते हैं?
बुद्ध ने कहाः अब मैं इस तरह उड़ाता हूं, जिस तरह मुझे पहले उड़ाना चाहिए था; मैंने बेहोशी में उड़ा दिया। यह हाथ ऐसे उठ गया जैसे नींद में... मुझे पता ही न चला; मैं तुमसे बात करने में लगा रहा, हाथ उठ गया, मक्खी उड़ गई तब मुझे पता चला कि मैंने मक्खी उड़ाई और मुझे पता ही नहीं था कि मैं उड़ा रहा हूं। यह नींद थी। इसे तोड़ने के लिए अब मैंने कोशिश करके देखी कि मुझे मक्खी कैसे उड़ानी चाहिए थी। यह हाथ उठा, इसके साथ चेतना उठी, यह हाथ होशपूर्वक गया कंधे पर, इसने मक्खी को उड़ाया। जब मैंने इस मक्खी को उड़ाया तब मैं जान रहा था कि मैं क्या कर रहा हूं। तब मैं यह भी जान रहा था कि मैं क्या कर रहा हूं, और मैं यह भी जान रहा था कि मैं जान रहा हूं कि मैं क्या कर रहा हूं। दिस इ.ज डबल एरोड कांशसनेस; यह है दोहरा तीर चेतना का। बुद्ध ने कहाः अब दुबारा मक्खी बैठे, तो ऐसे मैं उड़ाऊंगा, इसका थोड़ा अभ्यास किया; आगे चलें।
अगर हम ऐसा सोचें तो हमारे... हमारे सारे के सारे काम नींद में मालूम पड़ेंगे। अब जो आदमी मक्खी भी नहीं उड़ा सकता बेहोशी में, क्रोध कर सकेगा? गाली दे सकेगा? ईर्ष्या कर सकेगा? द्वेष कर सकेगा? सभी कुछ नींद में होता है; होश के साथ गिरना शुरू हो जाता है।

आनंद बुद्ध के साथ वर्षों था। एक दिन बुद्ध से उसने पूछा कि और तो सब ठीक है, एक बात भर मेरी समझ में नहीं आती, रात में सोते हैं आप कि नहीं? बुद्ध ने कहाः रोज तू जानता है कि मैं सोता हूं। आंनद ने कहाः वह तो मैं भी देखता हूं, लेकिन जहां पैर रखते हैं वहीं रखा रहता है रात भर; और जहां हाथ रखते हैं वहीं रखा रहता है। कल तो पूरी रात जाग कर मैं बैठा रहा कि देखें भी यह आदमी हाथ-पैर भी हिलाता, करवट भी बदलता है कि नहीं! तो वहीं के वहीं हाथ रखे रहे, रात भर सम्हल कर सोते हैं? तो क्या सो पाते होंगे! कैसे सोएंगे?
बुद्ध ने कहाः एक दफा भर जीवन में ऐसा हुआ था... कि मैंने करवट बदली थी
और मुझे पता नहीं था। उस दिन के बाद करवट ही नहीं बदली; उस दिन से करवट ही छोड़ दी। ऐसी चीजों से दोस्ती ही क्या रखनी! सोया रहता हूं, जागा हुआ। हाथ जहां रखा है वहीं रहना चाहिए, हाथ मेरा है; और बिना मेरी आज्ञा के हिले तो मैं गुलाम हो जाता हूं, मैं मालिक नहीं हूं।
तो जागरण से जागना शुरू करना पड़े... जिसे अभी हम जागरण कहते हैं, उसमें जागना शुरू करना पड़े। जागते जाएं--कोशिश करें... कोशिश करें... और जागें। फिर धीरे-धीरे जब जागने में जागना पैदा हो जाता है, तो आप दूसरी तरफ प्रवेश कर सकते हैं। जो जागने में जाग गया, अचानक नींद में उसे सपनों का पता चलने लगता है कि यह रहा स्वप्न। और जैसे ही यह पता चलता है, वैसे ही स्वप्न खो जाते हैं; क्योंकि होशपूर्वक स्वप्न नहीं हो सकते; स्वप्न के लिए बेहोशी जरूरी है।
और जब स्वप्न खो जाते हैं तो जागरण तीसरी दशा में प्रवेश करता है; फिर जागरण का तीर सुषुप्ति में घुसता है। और तब आदमी को पता होता है कि मैं सो रहा हूं। और उसका अर्थ यह हुआ कि उसको पता होता है कि शरीर विश्राम कर रहा है, बस। वैसे व्यक्ति की निद्रा एक विश्राम है; और आपकी निद्रा भी एक श्रम है।
एक आदमी को सोते हुए देखें तब आपको पता चले, कि दिन भर जितनी मेहनत नहीं की उतनी वे नींद में, सोते में कर रहे हैं--हाथ पटक रहे हैं, सिर पटक रहे हैं, मुंह बना रहे हैं--पता नहीं, क्या-क्या कर रहे हैं! अभी सोए हुए आदमियों की फिल्में ली गई हैं, उनको खुद को दिखाई गईं, तो वे बोले, क्या मामला है? यह मैं करता हूं? यह नहीं हो सकता; कुछ धोखाधड़ी है, कुछ चालबाजी है।
आपकी फिल्म अगर रात भर उतारी जाए, और फिर सुबह आपको दिखाई जाए, तब आपको पता चले कि आप ही करते रहे। इतनी... इतना उपद्रव नींद में भी! उधर भी चैन नहीं?
हमारी नींद भी एक श्रम है। और ऐसे व्यक्तियों का जागना भी एक विश्राम है। ऐसे व्यक्तियों का जागना भी एक विश्राम है, हमारी नींद भी एक श्रम है। हम नींद के बाद भी थके हुए उठते हैं; क्योंकि रात भर इतनी मेहनत हो जाती है जिसका कोई हिसाब नहीं। गलत नहीं कह रहा हूं; नींद के बाद भी हम इस बुरी तरह थके हुए उठते हैं। और यह रोज का सिलसिला हैः दिन भर के थके रात सो जाते हैं, रात भर के थके सुबह उठ आते हैं। जिंदगी हमारी एक लंबी थकान है। एक बोझ जिसको हम ढोए चले जाते हैं। वह मौत अगर न आए तो इस बोझ से हमारा छुटकारा ही न हो। मौत आ जाती है, जबर्दस्ती हमसे बोझ छीन लिया जाता है। मगर हम इतनी वासना से भरे हैं और बोझ से हमारा इतना मोह है कि मर भी नहीं पाते कि नये जन्म की यात्रा पर हमारी चेतना निकल जाती है--नये बोझ की तलाश में, नई बीमारियों की खोज में, नये उपद्रव... ।
जैसे ही चेतना का तीर प्रवेश करता है सुषुप्ति में, प्रगाढ़ निद्रा को पार करता है, वैसे ही फिर निद्रा शरीर का विश्राम रह जाती है।
कृष्ण ने जो गीता में कहा है कि योगी सोया हुआ भी सोता नहीं। यह नहीं कहा है कि रात भर आंख खोल कर खड़ा रहता है--जैसे कुछ पागल खड़े रहते हैं। यह पागलपन है। यह दूसरा पागलपन हुआ। कुछ पागल आंख बंद करके भी नहीं सो पाते, कुछ पागल आंख खोल कर खड़े रहते हैं कि कहीं नींद न आ जाए; क्योंकि कृष्ण ने कहा हैः योगी सोकर भी नहीं सोता... पर वे समझे नहीं कि "सोकर भी।" ऐसे खड़े होने को नहीं कहा है कि आंख खोल कर खड़ा रहे। ऐसे कुछ लोग हैं... ।

अभी मैं एक गांव में गया तो वहां हैं एक खड़ेश्री बाबा। लोगों ने मुझे आकर कहा कि आप खड़ेश्री बाबा के संबंध में कुछ जानते हैं? क्या हुआ... मैंने कहाः उनको क्या हो गया? दस साल से खड़े हैं, इसलिए खड़ेश्री बाबा उनका नाम है। मैंने कहाः उनके दिमाग का इलाज करवाओ और क्या करूं मैं? किसी तरह बिठाने की कोशिश करो, किसी तरह सुलाओ। पर अब वह उनको बिठाया नहीं जा सकता; पैर हाथी-पांव हो गए हैं। पैर सब लहू से भर गए हैं, सब नसें जकड़ गई हैं; अब वे बैठ भी नहीं सकते हैं। मैंने लोगों से कहाः कुछ भी करो, इन्हें बैठेश्री बनाओ। रुको मत। बुद्धि बिल्कुल क्षीण हो गई है... हो ही जाएगी; सब खून पैरों में चला गया, बुद्धि के पास कुछ बचा नहीं। आंखें देखें, पथरा गई हैं। यह आदमी जिंदा मौत में खड़ा है।
लेकिन पूछेंगेः क्यों खड़ा है? आदमी अहंकार के लिए कुछ भी कर सकता है। पैरों पर लोग सिर रख रहे हैं, फूल चढ़ाए जा रहे हैं, रुपये रखे जा रहे हैं, मंदिर खड़े हो रहे हैं! मंहगा नहीं है, सौदा सस्ता है। इतने मंदिर और इतने फूल और इतने सिर! जैसे वह आदमी मुझे दिखाई पड़े--निपट बुद्धिहीन, वह पचास जन्म कोशिश करें तो एक मंदिर न बना पाएंगे। मंहगा नहीं है सौदा। और अब तो अभ्यास मजबूत हो गया, अब तो उलटा अभ्यास करने में बड़ी मसा.ज की जरूरत पड़ेगी। बहुत मुश्किल है। शायद ही अब पैर उनके वापस मुड़ पाएं। जड़ की भांति खड़े हैं। लेकिन क्या... ।
अगर कृष्ण से कहीं मुलाकात हुई तो ये उन पर मुकदमा चलाएंगे कि क्यों कहा था गीता में कि योगी सोकर भी सोता नहीं? कृष्ण भलीभांति सोते रहे, वे कभी खड़े हुए नहीं! फिर भी गीता का खयाल नहीं उठता। कोई बुद्धिमान आदमी नहीं खड़ा रहा है। जो उनके चरणों में सिर रखते हैं वे भी नहीं पूछते कि कृष्ण तक ऐसा अभ्यास नहीं किए, बुद्ध ऐसा अभ्यास नहीं किए, क्राइस्ट ऐसा अभ्यास नहीं किए, आप क्या उनसे भी आगे निकले जा रहे हैं?
लेकिन हमें खयाल नहीं आता। यह जो सोकर भी नहीं सोता... सो जाता है शरीर,
सो जाते हैं तंतु, सो जाते हैं स्नायु--सब सो जाता है और भीतर चेतना का दीया जला रहता है। घिर जाते हैं बादल चारों तरफ और सूरज अपनी रोशनी में मौजूद बना रहता है।
जब यह सुषुप्ति पार होती है तो तुरीय, चौथी अवस्था उपलब्ध होती है। अवस्था केवल शब्द के प्रयोग के लिए कहते हैं; अवस्था वह नहीं है, वह हमारा स्वभाव है; वह हम हैं ही। और ऐसा नहीं है कि जब हम भ्रांति में पड़े हैं बहुत, तब हम बदल गए हों। नहीं, हमारी भ्रांति ठीक वैसी ही है, जैसे कोई लकड़ी को पानी में डाले, तो पानी में जाते ही सीधी लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। होती नहीं तिरछी, हो नहीं जाती तिरछी, सिर्फ दिखाई पड़ने लगती है; बाहर निकालें, फिर सीधी हो जाती है--हो नहीं जाती, सीधी थी ही। जब तिरछी दिखाई पड़ती थी तब भी सीधी थी। जब बाहर निकालते हैं तो सीधी दिखाई पड़ती है। पानी केवल देखने में भ्रम पैदा करता है, होने में नहीं।
तो जब चेतना उतरती है तीन अवस्थाओं में--सुषुप्ति में, स्वप्न में, जाग्रत में--तो लगता है, खो गई; खोती नहीं, खोती जरा भी नहीं, लगता है खो गई। जब वापस लौटती है तो पता चलता है, मिल गई; मिलती नहीं है, मिली ही हुई थी। लेकिन यह भ्रम जरूर पैदा हो जाता है। इस भ्रम को तोड़े बिना जीवन में कोई भी आनंद की झलक नहीं उपलब्ध होती; इस भ्रम को तोड़े बिना अमृत का कोई स्वाद नहीं मिलता; इस भ्रम को तोड़े बिना सत्य की कोई प्रतीति नहीं।
इस भ्रम को तोड़ना हो तो समझना बहुत काफी नहीं है--समझना जरूरी है, काफी नहीं है; समझना आवश्यक है, पयार्प्त नहीं है। चलना पड़े, यात्रा करनी पड़े; एक यात्रा हमने की है, वापस लौटना पड़े। घर से हम दूर निकल आए, घर की फिर खोज करनी पड़े। हजार उपाय हो सकते हैं इस खोज के। कोई भी एक उपाय पकड़ लें तो भी पहुंचना हो जाता है। लेकिन अक्सर मैं देखता हूं, तीन तरह के लोग हैं--
एक तो वे लोग हैं, जो इस डर से कि कुछ करना न पड़े--कहते हैं, ये सब बातें पागलपन की हैं, ये हैं ही नहीं। ये हैं ही नहीं! मैं बहुत से ऐसे लोगों को जानता हूं जो इसलिए ईश्वर को इनकार करते हैं--इसलिए नहीं कि ईश्वर से उनकी कोई दुश्मनी है; इसलिए भी नहीं कि उन्हें पता है कि ईश्वर नहीं है; इसलिए भी नहीं कि वे कोई नास्तिक हैं, बल्कि सिर्फ इसलिए कि वे अत्यंत आलस्य से

भरे हैं। अगर ईश्वर है तो फिर यात्रा की शुरुआत होगी, फिर झंझट शुरू होगी। बेहतर पहले से ही इनकार कर देना है कि ये सब बातें हैं ही नहीं। इससे निश्चिंतता रहती है। इससे अपने आलस्य में हम प्रफुल्लित रहते हैं। जो है ही नहीं उसको खोजने क्या जाना? अगर होगा, तो खोजने न भी गए तो भी बेचैनी शुरू हो जाएगी। अगर है तो फिर आप पड़े रहें अपने घर में ही बिस्तर पर, तो भी बेचैनी शुरू हो जाएगी, कहीं कोई पुकार भीतर होने लगेगी कि जो है उसे खोजो। इसलिए बहुत बार मैं देखता हूं कि बहुत से धार्मिक लोग अधार्मिक होने
का आवरण खड़ा किए रहते हैं--सिर्फ इसलिए, ताकि निकलना न पड़े, कहीं जाना न पड़े, कुछ करना न पड़े। उनका आलस्य उनकी नास्तिकता बन जाती है।
दूसरे वे लोग हैं, जो अपने आलस्य को नास्तिकता नहीं बनाते, वे और भी कुशल हैं; वे अपने आलस्य को आस्तिकता बना लेते हैं। वे अपने आलस्य में पड़े रहते हैं अपनी जगह पर और ब्रह्मचर्चा करते रहते हैं।
ब्रह्मचर्चा में कुशल हो जाना बड़ी सरल बात है। किसी और चर्चा में इतना कुशल होना सरल बात नहीं है, क्योंकि आप झंझट में पड़ोगे। अगर आपने कहीं पत्थर के संबंध में कोई वक्तव्य दिया तो प्रयोगशाला में सिद्ध करना पड़ेगा। ब्रह्म के संबंध में जो मौज आए, कहिए; न कोई सिद्ध कर सकता है, न कोई असिद्ध कर सकता है। कोई उपाय ही नहीं आपको गलत करने का--सही करने का भी नहीं, गलत करने का भी नहीं। इसलिए ब्रह्मचर्चा इतनी मजे की चर्चा है कि बुद्ध से बुद्धू कर सकता है। इसलिए जो कुछ और नहीं करते वे ब्रह्मचर्चा करने लगते हैं--जो कुछ और कर नहीं सकते।
अगर वे कोई वक्तव्य दें जमीन के संबंध में तो पचास झंझटों में पड़ेंगे; ब्रह्मलोक के संबंध में... कुछ झंझट नहीं। अगर आप नक्शा बनाएं माथेरान का, तो आपको सिद्ध करना पड़ेगा, नाप-जोख करनी पड़ेगी, हजार मेहनत उठानी पड़ेगी। कहां झंझट में पड़ते हैं! सत्यखंड का नक्शा बनाइए, ब्रह्मलोक का नक्शा बनाइए, कोई दुनिया में आपको चैलेंज भी नहीं कर सकता; क्योंकि आप बिल्कुल चुनौती के बाहर हैं। इसलिए लोग अपनी खाटों पर बैठे हैं और ब्रह्मचर्चा कर रहे हैं! हिलते नहीं वहां से। आस्तिक समझते हैं अपने को, आस्तिक नहीं हैं। आस्तिकता चर्चा से तृप्त नहीं होती; आस्तिकता अनुभूति मांगती है।
तो एक तो वे हैं जो कहते हैं, ये सब बातें ही नहीं हैं, इसलिए जाना कहां? एक वे, जो कहते हैं, ये सब बातें हैं लेकिन हमें सब पता ही है, इसलिए जाना कहां? जाने की जरूरत क्या है? जो भी है वह सब शास्त्रों में रखा है। ऋषि-मुनि पहले ही कह गए हैं, उस सबकी हमें अब कोई खोजने की जरूरत नहीं है। ध्यान रहे, विज्ञान और धर्म में यह बुनियादी फर्क हैः विज्ञान में जो चीज एक बार खोज ली गई, दूसरे को खोजने की जरूरत नहीं होती; लेकिन धर्म में जो चीज खोज ली गई, कोई इस भ्रम में न रहे कि अब वह सदा के लिए खोज ली गई और आपको खोजनी न पड़ेगी। धर्म वैयक्तिक खोज है, प्रत्येक को पुनः-पुनः खोजनी होती है। और यही तो मजा है। इसलिए धर्म सदा ताजा है, बासा नहीं होता; विज्ञान तो बासा हो जाता है। अब न्यूटन बिल्कुल बासा है आज, लेकिन यह सर्वसार आज भी ताजा है; क्योंकि बार-बार खोजना पड़ता है।
धर्म प्रेम जैसा है। आप यह नहीं कहते कि देखो, मजनू कितना प्रेम कर चुका, फरिहाद कितना प्रेम कर चुका, अब हम और क्यों झंझट में पड़े? तो प्रेम के संबंध में सब लिखा हुआ रखा है--पढ़ लेंगे, सीख लेंगे, तुकबंदी कर लेंगे, अब हम प्रेम की झंझट में क्यों पड़ें?
नहीं, किसी ने कितना ही प्रेम किया हो, और फरिहाद कितना ही कर चुके होंगे, आप न मानेंगे, आप भी करेंगे; बिना किए आप राजी न होंगे। प्रेम वैयक्तिक है। करोड़-करोड़ लोग कर चुके हों, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, वह बासा नहीं होता। आप फिर करते हैं। और आप जब करते हैं तभी जानते हैं, उसके पहले आप जानते नहीं।
फरिहाद से जानने का कोई उपाय नहीं है; बुद्ध से भी जानने का कोई उपाय नहीं है। यह प्रेम जैसा मामला है... यह परमात्मा बिल्कुल प्रेम का मामला है; यह फिर खोजना पड़ता है।
यह जो चौथा है, जिससे तीन का जन्म होता--निद्रा घनी होती, स्वप्न बनते, जागृति होती; और फिर तीनों जिसमें वापस लीन हो जाते। यह चौथा न तो किसी से

जन्मता है और न किसी में लीन होता है; यह शाश्वत सिद्धांत है जीवन का; यह जीवन का आधार है--प्रारंभ भी यही, अंत भी यही। और जिसने इसे नहीं जाना, वह केवल बीच की परिभ्रमणाओं में भटकता है।
आज इतना ही।

अब हम प्रयोग की तैयारी करें। दो-तीन बातें आपसे प्रयोग के लिए कह दूं। कल तो धूल से आपको बहुत तकलीफ हो गई, इसलिए आज जो लोग तेजी से करने वाले हैं वे मंच पर ऊपर रुकेंगे; जो थोड़ा धीमे करना चाहते हों वे थोड़े नीचे फैले जाएंगे।
इस प्रयोग में बहुत क्रांतिकारी परिणाम आ सकते हैं, लेकिन आपको अपनी पूरी शक्ति लगानी जरूरी है। इसलिए इसे रात में रखा है। सुबह का प्रयोग, दोपहर का प्रयोग, आपकी सामर्थ्य को, हिम्मत को बढ़ाएगा, तो आप रात के आखिरी प्रयोग में पूरा दांव लगा सकें। और फिर सो ही जाना है, इसलिए थकने का डर न करें। थक ही जाएंगे न! कुछ बिगड़ा नहीं जा रहा है। नींद गहरी आ जाएगी और कुछ ज्यादा नहीं होगा। पूरी ताकत लगानी जरूरी है।

सर्वसार उपनिषद
छठवां प्रवचन

पंच कोष

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयकोश इत्युच्यते। प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे
यदा वर्तन्ते तदा प्राणमयकोश इत्युच्यते।

अन्न से बननेवाले कोषों के समूहरूप शरीर को
अन्नमय कोष कहते हैं।
प्राण आदि चौदह प्रकार के वायु इस अन्नमय कोष में संचार करते हैं,
तब उसे प्राणमय कोष कहते हैं।
मनुष्य का व्यक्तित्व बहुत पर्तों से बना है। और इन पर्तो का सम्यक बोध इन पर्तों को पार करने के लिए.जरूरी है। जिसके पार हमें जाना हो उसे जान लेना.जरूरी है; जिससे हमें मुक्त होना हो उसे पहचान लेना जरूरी है। ऊपर से देखने पर आदमी जैसा दिखाई पड़ता है, वह उसका पूरा शरीर नहीं है,
वह केवल उसके शरीरों की पहली पर्त है। जब हम देखते हैं आदमी को तो जो हमें दिखाई पड़ता है, उसे ऋषियों ने "अन्नमय कोष" कहा है-दि फिजिकल बॉडी।
यह जो शरीर है, यह माता-पिता से उपलब्ध होता है, यह आपका नहीं है; यह पर्त आप नहीं हैं, यह पर्त एक लंबी परंपरा है। हजारों शरीरों ने इस शरीर को निर्मित किया है। आपके मां-बाप आपको जो बीजाणु देते हैं उसमें इस शरीर की पूरी बिल्टन इन प्रोसेस, इस शरीर के होने की सारी संभावना छिपी होती है। अब तो वैज्ञानिक कहते हैं कि आपके शरीर में जो भी प्रगट होता है पूरे जीवन में, वह सब आपके पहले बीज-कोष में छिपा होता है; कुछ भी नया घटित नहीं होता। आपकी आंख का रंग, आपके बाल का रंग, आपकी चमड़ी का रंग, आपकी उम्र-आपके व्यक्तित्व में जो-जो फलित होगा, वह सब उस बीज में छिपा होता है; वह आप नहीं हैं। उस शरीर की तो लंबी अपनी यात्रा है... आपके माता-पिता से आपको मिला है, उनके माता-पिता से उन्हें मिला है-लंबी यात्रा है... करोड़ों वर्ष की लंबी यात्रा है।
अगर हम अपने शरीर में पीछे लौंटें तो प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में
इस जगत का पूरा इतिहास छिपा है। यह जगत पहले दिन बना होगा, उस दिन भी आपके शरीर का कुछ हिस्सा मौजूद था; वही विकसित होते आपका शरीर हुआ है। एक छोटे से बीज-कोष में इस अस्तित्व की सारी कथा छिपी है; वह आपका नहीं है, उसकी लंबी परंपरा है। वह बीज-कोष न मालूम कितने मनुष्यों से, न मालूम कितने पशुओं से, न मालूम कितने पौधों से, न मालूम कितने खनिजों से यात्रा करता हुआ आप तक आया है। वह आपकी पहली पर्त है; उस पर्त को ऋषि अन्नकोष कहते हैं। अन्नकोष इसलिए कहते हैं... कि उसके निर्माण की जो प्रक्रिया है वह भोजन से होती है; वह बनता है भोजन से।
प्रत्येक व्यक्ति का शरीर सात साल में बदल जाता है। सभी कुछ बदल जाता है-हड्डी, मांस, मज्जा-सभी कुछ बदल जाती है; एक आदमी सत्तर साल जीता है तो दस बार उसके पूरे शरीर का रूपांतरण हो जाता है। रोज आप जो भोजन ले रहे हैं, वह आपके शरीर को बनाता है; और रोज आप अपने शरीर से मृत शरीर को बाहर फेंक रहे हैं। जब हम कहते हैं कि फलां व्यक्ति का देहावसान हो गया, तो हम अंतिम देहावसान को कहते हैं... जब उसकी आत्मा शरीर को छोड़ देती है।
वैसे व्यक्ति का देहावसान रोज हो रहा है, व्यक्ति का शरीर रोज मर रहा है; आपका शरीर मरे हुऐ हिस्से को रोज बाहर फेंक रहा है। नाखून आप काटते हैं, दर्द नहीं होता, क्योंकि नाखून आपके शरीर का मरा हुआ हिस्सा है। बाल आप काटते हैं, पीड़ा नहीं होती, क्योंकि बाल आपके शरीर के मरे हुए कोष हैं। अगर बाल आपके शरीर के जीवित हिस्से हैं तो काटने से पीड़ा होगी।
आपका शरीर रोज अपने से बाहर फेंक रहा है... एक मजे की बात है कि अक्सर कब्र में मुर्दे के बाल और नाखून बढ़ जाते हैं; क्योंकि नाखून और बाल का जिंदगी से कुछ लेना-देना नहीं, मुर्दे के भी बढ़ सकते हैं; वे मरे हुए हिस्से हैं... वे मरे हुए हिस्से हैं, वे अपनी प्रक्रिया जारी रख सकते हैं।

भोजन आपके शरीर को रोज नया शरीर दे रहा है, और आपके शरीर से मुर्दा शरीर रोज बाहर फेंका जा रहा है। यह सतत प्रक्रिया है। इसलिए शरीर को अन्नमयकोश कहा है, क्योंकि वह अन्न से ही निर्मित होता है।
और इसलिए बहुत कुछ निर्भर करेगा कि आप कैसा भोजन ले रहे हैं। इस पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। आपका आहार सिर्फ जीवन चलाऊ नहीं है, वह आपके व्यक्तित्व की पहली पर्त निर्मित करता है। और उस पर्त के ऊपर बहुत कुछ निर्भर करेगा कि आप भीतर यात्रा कर सकते हैं या नहीं कर सकते हैं; क्योंकि सभी भोजन एक जैसा नहीं है।
कुछ भोजन हैं जो आपको भीतर प्रवेश करने ही न देंगे, जो आपको बाहर ही दौड़ाते रहेंगे; कुछ भोजन हैं जो आपके भीतर चैतन्य को जन्मने ही न देंगे, क्योंकि वे आपको बेहोश ही करते रहेंगे; कुछ भोजन हैं जो आपको कभी शांत न होने देंगे, क्योंकि उस भोजन की प्रक्रिया में ही आपके शरीर में एक रेस्टलेसनेस, एक बेचैनी पैदा हो जाती है। रुग्ण भोजन हैं, स्वस्थ भोजन हैं, शुद्ध भोजन हैं, अशुद्ध भोजन हैं।
शुद्ध भोजन उसे कहा गया है, जिससे आपका शरीर अंतर की यात्रा में बाधा
न दे-बस; और कोई अर्थ नहीं है। शुद्ध भोजन से सिर्फ इतना ही अर्थ है कि आपका शरीर आपकी अंतर्यात्रा में बाधा न बने।
एक आदमी अपने घर की दीवालें ठोस पत्थर से बना सकता है। कोई आदमी अपने
घर की दीवालें कांच से भी बना सकता है; लेकिन कांच पारदर्शी है, बाहर खड़े होकर भी भीतर का दिखाई पड़ता है। ठोस पत्थर की भी दीवाल बन जाती है, तब बाहर खड़े होकर भीतर का दिखाई नहीं पड़ता है।
शरीर भी कांच जैसा पारदर्शी हो सकता है। उस भोजन का नाम शुद्ध भोजन है
जो शरीर को पारदर्शी, ट्रान्सपैरेंट बना दे... कि आप बाहर भी चलते रहें तो भी भीतर की झलक आती रहे। शरीर को आप ऐसी दीवाल भी बना सकते हैं कि भीतर जाने का ख्याल ही भूल जाये, भीतर की झलक ही मिलनी बंद हो जाये।
सात्विक और असात्विक का इतना ही अर्थ हैः आपका शरीर पारदर्शी हो सके... पहली पर्त पारदर्शी हो सके। तो भीतर की यात्रा शुरू होती है। और जब पहली पर्त पारदर्शी होती है तो ही दूसरी पर्त का पता चलता है, नहीं तो पता नहीं चलता। हमें पता ही नहीं चलता कि शरीर के भीतर और भी कोई शरीर है। उसका और कोई कारण नहीं है। योगी को पता चलता है कि शरीर के भीतर एक और शरीर है, क्योंकि उसकी पहली पर्त पारदर्शी हो जाती है; तो उसे दूसरे शरीर की झलक मिलनी शुरू हो जाती है।
और तब दूसरे शरीर को भी पारदर्शी बनाने के उपाय हैं। तब तीसरे शरीर की झलक मिलनी शुरू हो जाती है। फिर तीसरे शरीर को भी पारदर्शी बनाया जा सकता है, तो चौथा शरीर है। और चौथा भी पारदर्शी हो जाये, तो पांचवां। और जब पांचवां पारदर्शी होता है तब शरीर के बाहर जो है, शरीर के पार जो है, अशरीरी जो है, उसकी झलक मिलनी शुरू होती है।
तो आप अपने शरीर को ठोस पत्थर की दीवालें बना सकते हैं, कांच की पारदर्शी दीवालें भी बना सकते हैं।
इसलिए पहले से ऋषि शुरू करता है-"अन्नमय कोष... "
यह भोजन से निर्मित जो शरीर है आपके चारों ओर, निश्चित ही यह पूरा का पूरा भोजन से निर्मित है। इसमें कुछ भी नहीं है जो भोजन के बाहर से आया हो। हो सकता है, वह भोजन आपके पिता ने किया हो, और उनके पिता ने किया हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; इस शरीर में ऐसा कुछ भी नहीं है जो भोजन के बाहर से आया हो।
मनुष्य का जो जीव-कोष है, जिससे गर्भ निर्धारण होता है, उसका विषण करके सिवाय भोजन के तत्वों के और कुछ भी नहीं मिलता है। भोजन का सारभूत हिस्सा, इसेंस बीज में संगृहित होता है।
इस पर बड़े प्रयोग किए हैं मनीषियों ने। ह.जारों वर्ष तक, पीढ़ी दर पीढ़ी, कुछ परिवारों ने हिम्मत करके शाकाहार किया है-पीढ़ी दर पीढ़ी! क्योंकि एक दिन में कुछ बदलाहट शरीर में नहीं होती; शरीर का जाल लंबा है। लेकिन अगर ह.जारों पीढ़ियों तक एक परिवार शाकाहार पर जीया है, तो शरीर में आमूल परिवर्तन हो जाते हैं; अगर मांसाहार पर जीया है तो भी आमूल परिवर्तन हो

जाते हैं; क्योंकि निरंतर छनते, छनते, छनते, छनते... शुद्धतम होते-होते भोजन बीज-कोष में प्रवेश कर जाता है। और जब बीज-कोष में प्रवेश कर जाता है तभी ट्रान्सपेरेन्सी, पारदर्शी स्थिति पैदा होती है।
अनूठा प्रयोग था यह कि हम भोजन को पूरा बदलकर पूरे शरीर को बदल लें। इतनी बात से वैज्ञानिक भी राजी है कि शरीर में जो भी हम डालते हैं वह शरीर को बदलता है।
एक स्त्री के शरीर में और एक पुरुष के शरीर में थोड़े से हारमोन का फर्क है और कुछ भी नहीं। बहुत छोटा सा फर्क है। वह हार्मोन भी भोजन से निर्मित होता है। अगर हम एक स्त्री के शरीर से थोड़े से हार्मोन बाहर कर लें तो स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर में परिवर्तित होने लगेगा। अगर हम पुरुष के शरीर से थोड़े से हार्मोन बाहर कर लें, तो पुरुष का शरीर स्त्री के शरीर में परिवर्तित होने लगेगा। इसलिए अब बहुत दिन तक यह बंधन नहीं रहेगा आदमी के ऊपर कि वह जैसा पैदा हुआ है वैसा ही रहने की मजबूरी हो-वह चाहे तो स्त्री हो सकता है, चाहे तो पुरुष हो सकता है; क्योंकि केवल थोड़े से हार्मोन के फर्क की बात है... बहुत थोड़ा सा; और हार्मोन भोजन है। वह भोजन से निर्मित सारत्तत्व है। उतने से फर्क से स्त्री और पुरुष का भेद हो जाता है।
भोजन के थोड़े से फर्क से बुद्धि क्षीण हो जाती है, या प्रगाढ़ हो जाती है; क्योंकि बुद्धि के लिए कुछ अनिवार्य भोजन के तथ्य हैं जो पहुंचने चाहिए... अगर वे न पहुंचें तो बुद्धि क्षीण हो जाती है। बुद्धि की क्षमता भी होगी, तो भी बुद्धि प्रगट नहीं हो पायेगी, क्योंकि प्रगट करने के लिए जो अन्नमय कोष ही सहायता चाहिए वह नहीं मिल रही। एक बहुत छोटा सा तत्व आदमी के तृतीय नेत्र में-जो मैंने कल कहा-पिनीयल ग्लैंड में पैदा होता है, अगर वह पैदा न हो तो बुद्धि एकदम क्षीण हो जाती है।
असल में जब एक आदमी शराब पीता है तो बुद्धि तक उसका कोई प्रभाव नहीं जाता वस्तुतः, चेतना तक शराब नहीं जाती; लेकिन पिनीयल ग्लैंड में जो रस पैदा होते हैं वे पैदा होने बंद हो जाते हैं; बस, बुद्धि खो जाती है बुद्धि पर कोई परिणाम नहीं होता, लेकिन अन्नमय कोष में जो हिस्सा है, जिससे बुद्धि का संबंध है, वह हिस्सा सो जाता है।
अभी पिÜ चम से एक पागलपन सारी दुनिया में फैलना शुरू हुआ है-लिसर्जिक एसिड का; और उस तरह की चीजों का। वैज्ञानिक कहते हैं कि लिसर्जिक एसिड, या मेस्कलीन, या उस तरह की चीजें भी सिर्फ पिनीयल ग्लैंड पर असर करती हैं। और पिनीयल ग्लैंड में जिस तत्व के पैदा होने से मनुष्य की बुद्धि होती है, विवेक होता है, वह तत्व पैदा होना बंद हो जाता है; रुक जाता है, अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए कुछ आ Ü चर्य न होगा कि पिÜ चम की जो नयी पीढ़ी एल. एस. डी. का प्रयोग कर रही है, वह पिÜ चम की पूरी सभ्यता को वापिस जमीन पर गिरा दे; क्योंकि वह सारी सभ्यता जिस बुद्धि के आधार पर खड़ी है, उस बुद्धि को नुकसान पहुंचना अनिवार्य है।
निÜ चत ही उस बुद्धि के गिर जाने से आदमी एक तरह के बंधन से मुक्त हो जाता है; क्योंकि विवके का भी एक बंधन है; और विवेककी एक मर्यादा है, उससे मुक्त हो जाता है। उस मर्यादा की मुक्ति को अगर किसी ने स्वतंत्रता समझा तो बड़ी भूल है; क्योंकि स्वतंत्रता दो तरह से फलित होती हैः मर्यादा के पार हो जाने से भी फलित होती है, मर्यादा के नीचे गिर जाने से भी फलित होती है। मर्यादा से नीचे गिरकर जो स्वतंत्रता है, वह सिर्फ पागलपन है; मर्यादा के पार उठकर जो स्वतंत्रता है-वही... वही परम अवस्था है।
तो बहुत सस्ता मोक्ष खरीदा जा रहा है केमिकल्स से। पर वह भी रासायनिक तत्व... भोजन है।
यह जो हमारा शरीर है, यह जो पहली हमारी पर्त है, यह भोजन की ही पर्त है।
इसलिए भोजन का विवेक महत्वपूर्ण है-सिर्फ सुपरस्टिशन नहीं, सिर्फ अंधविश्वास नहीं। एक विशुद्ध शाकाहारी शरीर को एक तरह की लोच देता है, एक फलैगि्.जबिलिटि देता है, जो मांसाहारी के शरीर को उपलब्ध नहीं होती।
मांसाहारी के शरीर की पर्त धीरे-धीरे ठीक जानवरों जैसी हो जाती है।

यह बहुत मजे की बात है कि आप जिन जानवरों का मांस लेते हैं, आपको ख्याल नहीं कि वह मांस उन जानवरों की शरीर की निर्मिति है, शरीर का कॉन्सटिट्यूएंट हिस्सा है। उस मांस को आप सीधा अपने शरीर में ले जाते हैं, तो आप धीरे-धीरे अपने शरीर को उन जानवरों जैसी व्यवस्था भीतर से देना शुरू कर देते हैं। वह व्यवस्था आपको प्रभावित करेगी। वह व्यवस्था आपके शरीर को ठोस पत्थर की दीवाल बना देगी। शायद जानवर के भीतर जो बुद्धि का विकास नहीं हुआ है, उसका बहुत कुछ कारण उसका अन्नमय कोष है।
आपके भीतर जो विकसित विवेक है, वह आप, जानवर का शरीर अपने पास... आसपास इकट्ठा करके नीचे गिरा लेंगे।
और बहुत छोटी सी बातें क्रांतिकारी परिवर्तन करती हैं; जिनका हमें अंदाज नहीं होता, इतनी छोटी बातें। वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी के मस्तिष्क का विकास हो सका, क्योंकि वह दो पैरों पर खड़ा हो गया; अगर वह चारों हाथ पैर पर चलता रहता, तो उसका मस्तिष्क कभी विकसित नहीं होता। इतनी छोटी सी बात, क्या हम सोच सकते हैं कि इतने विवके का फर्क कर देगी-बंदर और आदमी के, कुत्ते और आदमी के? एक आइंस्टीन में और एक बंदर में कितना फासला है? यह इतना फासला, वैज्ञानिक कहते हैं, बड़ी छोटी सी बात से फलित हुआ है, और वह यह... कि आदमी दो पैरों पर खड़ा हो गया।
इससे क्यों फलित हुआ? इससे इसलिए फलित हुआ कि उसकी खून की जो र 7 धार थी, वह मस्तिष्क की तरफ कम जाने लगी... कम जाने लगी, क्योंकि मस्तिष्क तक पंप करने के लिए खून को ऊपर चढ़ना पड़ता है। वह कम जाने लगी, और मस्तिष्क में जब खून की धार कम जाने लगी तो मस्तिष्क सूक्ष्म तंतुओं को विकसित कर पाया। अगर धार तेजी से जाती है तो सूक्ष्म तंतु टूट जाते हैं।
जानवर की खून की धार सतत एक सी मस्तिष्क की तरफ होती है। इसलिए सूक्ष्म तंतु निर्मित ही नहीं हो पाते। जैसे कि तेज नदी की धारा हो, तो वहां छोटे-मोटे पौधे उस धारा में नहीं टिक सकते; छोटे-मोटे कंकड़ भी नहीं टिक सकते, वे सब बह जायेंगे, फिंक जायेंगे।
तो मस्तिष्क की तरफ खून कम जाता है, बस इतना ही कारण है मनुष्य की इतनी बुद्धि के विकास में। इसलिए रात के बाद जब आप सुबह सोकर उठते हैं तो बुद्धि आपको ताजी मालूम पड़ती है। वह सिर्फ इसीलिए ताजी मालूम पड़ती है कि दिन भर बुद्धि का उपयोग करते-करते आप थक जाते हैं तो सो जाते हैं; सोकर खून की धार फिर वापिस दौड़ने लगती है।
तो हमारी नींद में और जानवर की नींद में बहुत फर्क नहीं है; हमारे जागरण में और जानवर के जागरण में ही फर्क है। एक आदमी सोया हो और एक जानवर सोया हो, तो दोनों में हम कितनी ही खोज करें, कोई फर्क नहीं बता पायेंगे-या कि बता सकते हैं आप कोई फर्क... एक जानवर सोया है और एक आदमी सोया है?
नहीं, सारा फर्क शुरू होता है जब जानवर जगता है और आदमी जगता है।
एक महात्मा सोया है और एक पापी सोया है... गहरी प्रगाढ़ निद्रा में, सुषुप्ति में-क्या आप कोई फर्क बता सकते हैं? मस्तिष्क को कितना ही काटें- पीटें, क्या आप कोई अंदाज लगा सकेंगे कि कौन इसमें पापी है और कौन इसमें महात्मा है? सुषुप्ति में कोई भेद नहीं किया जा सकता। असल में सुषुप्ति में भेद रह नहीं जाता; सारा भेद जागरण का है। वह दो पैर पर जब हम खड़े होते हैं, तब हममें सब भेद शुरू हो जाते हैं। एक आदमी बुद्ध है और एक आदमी आइंस्टीन है और एक आदमी जड़-बुद्धि है, लेकिन यह भेद जागरण का है; जब खून की धार मस्तिष्क में नहीं पहुंचती, तब ये सारे तंतुओं के भेद हैं।
क्या आपने कभी ख्याल किया कि अगर नींद भी ठीक से लानी हो तो भी आपको तकिया सिर के नीचे रखना पड़ता है। तकिया हटा लें, नींद आनी मुश्किल हो जाती है; क्योंकि तकिया हटते से ही आपके सिर में खून की धार तीव्रता से प्रवाहित हो जाती है।
असल में आदमी के सिर की बनावट ऐसी है कि जैसे ही वह अगर बिना तकिये के सोये तो सिर जो है सब से गड्ढ़ा बन जाता है... पूरे शरीर से सिर नीचे पड़ जाता है, खून की धार सिर की तरफ तेजी से बहने लगती है; वह इतनी तेजी से बहती है कि तंतुओं को विश्राम नहीं करने देती... तो नींद नहीं आ सकती। इसलिए जैसे-जैसे आदमी की बुद्धि विकसित होती है, तकिये बढ़ते चले जाते हैं... एक की जगह दो,

तीन। उसका कारण हैः जितने सूक्ष्म तंतु भीतर पैदा हो जाते हैं, उतना उनको बचाने की.जरूरत हो जाती है, अन्यथा नींद नहीं आयेगी... सूक्ष्म तंतु इतने जोर से कंपेंगे कि नींद नहीं आ सकेगी।
इतनी छोटी सी घटना, वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी में आमूल रूपांतरण हो गयी-आमूल रूपांतरण हो गयी। मैं छोटी घटना इसलिए समझा रहा हूं आपको कि आपको ख्याल में आ सके कि भोजन छोटी घटना नहीं है। बड़ी छोटी घटनाएं फर्क लाती है।
आदमी चूंकि सीधा खड़ा हो गया, इसलिए समाजशास्त्री कहते हैं कि सीधा खड़े होने की वजह से परिवार का जन्म हुआ, नहीं तो परिवार का कभी जन्म नहीं होता। आप सोच नहीं सकते कि सीधे खड़े होने से और परिवार के जन्म का क्या संबंध? और अगर परिवार न जन्मे तो न कोई सभ्यता है, न कोई संस्कृति; क्योंकि सभ्यता और संस्कृति परिवार का फैलाव है। लेकिन क्या आपको कभी कल्पना भी आ सकती है कि आदमी के सीधे खड़े होने से परिवार का क्या संबंध हो सकता है? वैज्ञानिक कहते हैंः आदमी सीधा खड़ा हुआ इसलिए प्रेम पैदा हुआ, प्रेम पैदा नहीं हो सकता। आप सोच भी नहीं सकते कि सीधे खड़े होने से प्रेम का क्या लेना-देना है? लेकिन हुआ। और इस पर एकमत हैं खोजी। सभी पशु संभोग जब करते हैं तो उनके चेहरे आमने-सामने नहीं होते-हो नहीं सकते। पशु जब संभोग करते हैं तो उनके चेहरे आमने-सामने नहीं होते, क्योंकि संभोग पशु पीछे से करते हैं। और वैज्ञानिक कहते हैं कि चेहरे आमने-सामने हो सके आदमी के संभोग में, क्योंकि वह खड़ा हो गया; पीछे से संभोग गिर गया। संभोग ने सामने का रुख ले लिया। और जब हम किसी के चेहरे को देखते हैं तभी व्यि7 त्व का ख्याल आता है, नहीं तो कोई ख्याल पैदा नहीं होता। तो जब एक पुरुष एक स्त्री के सामने से संभोग में उतरता है, तो बहुत शीघ्र ही उसके चेहरे से संबंध निर्मित हो जाते हैं।
बड़े मजे की बात है कि बाकी सब शरीर तो एक ही जैसा है, उसमें बहुत फर्क नहीं है; चेहरे में ही भेद हैं; चेहरे में ही व्यि7 त्व है। अगर आप की सबकी गर्दनें काट दी जायें, तो आपके शरीरों को पहचानना मुश्किल हो जायेगा कि किसका है? लेकिन गर्दनें पहचानी जा सकेंगी, क्योंकि जो इंडीविजुअलिटि है, जो रूप है व्यि7 त्व का, वह चेहरे पर है। चेहरा आमने-सामने संभोग में पड़ा, इसलिए कामवासना प्रेम में परिवर्तित होने लगी... और निजी संबंध निर्मित हुए; परिवार खड़ा होना शुरू हो गया-धीरे-धीरे बाकी शरीर गौण हो गया और चेहरा महत्वपूर्ण हो गया।
पशुओं के लिए चेहरा बिल्कुल महत्वपूर्ण नहीं है। चेहरे से कभी गहरा संबंध ही निर्मित नहीं होता।
वैज्ञानिक कहते हैंः आदमी सीधा खड़ा हुआ इसलिए परिवार, इसलिए प्रेम, इसलिए संस्कृति, इसलिए सभ्यता... इतनी छोटी सी बात इतनी महत्वपूर्ण हो सकती है? तो भोजन छोटी बात नहीं है, बड़ी बात है; और बड़ी बात इसलिए है कि उससे हमारा पूरा शरीर ही निर्मित है।
जैसे, उदाहरण के लिएः हम जो भी अपने शरीर में डाल रहे हैं, उसका अपना गुण है। वह गुण हमारे शरीर का गुण आज नहीं कल हो जायेगा। जो आदमी शराब अपने शरीर में निरंतर डाले चला जा रहा है, अचानक उससे हम कहें-शराब छोड़ दो, वह नहीं छोड़ पाता, क्या कारण है? अब शराब वह ही नहीं पीता, उसके शरीर का अणु- अणु शराब पीने लगा है-ईच एंड एवरी सेल। अब उसके बस के बाहर है, उसके पूरे शरीर का रोआं-रोआं शराब पीने लगा है... एक-एक कोष! आदमी के शरीर में कोई सात करोड़ कोष हैं, एक-एक कोष शराब पीने लगा, एक-एक कोष शराबी हो गया। इसी का नाम एडिक्शन है। और तो कोई एडिक्शन होता नहीं।
हम कहते हैं कि एक आदमी एडिक्टेड हो गया, उसका केवल मतलब इतना है कि अब
वह नहीं पीता, अब पूरे शरीर का कोषा-कोषा कहता हैः अब पीयो, नहीं तो कुछ नहीं हो सकता-चल ही नहीं सकते, उठ ही नहीं सकते, बैठ ही नहीं सकते। अब बड़ा मुश्किल है छोड़ना; क्योंकि सात करोड़ जीवन भीतर कह रहे हैं, पीयो। सात करोड़ जीवित सेल। आप एक बड़ी भीड़ हैं... एक बड़ा नगर; आप अकेले नहीं हैं, आप उस बड़े नगर में रह रहे हैं।

इसलिए हमने जो शब्द चुना था आत्मा के लिए, वह था "पुरुष"। पुरुष का अर्थ होता है, एक बड़े पुरम के बीच में रहनेवाला; एक बड़े नगर के बीच में रहनेवाला।... पुरूष! एक बड़ी नगरी है हर आदमी के शरीर में-बड़ी! छोटी नगरी नहीं है। करोड़ों-करोड़ों जीवन आपके आसपास हैं। और जब उनकी सबकी मांग होती है, तो फिर आप बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं, उसकी मांग पूरी करनी पड़ती है; फिर आप बाहर भी निकलना चाहें तो निकल नहीं सकते।
तो आप क्या भोजन दे रहे हैं, वह इन सात करोड़ कोषों को निर्मित कर रहा है, इनकी मांग निर्मित कर रहा है। फिर आपको इनके साथ बंधकर जीना पड़ता है। और यह बंधन भीतर जाने में बाधा बन जाता है।
सात्विक भोजन हम उसे कहते रह हैं, जिससे एडिक्शन पैदा न हो-ऐसा भोजन,
जो सिर्फ शरीर को ऊर्जा देता हो, नशा न देता हो... इस फर्क को ठीक से समझ लें... जो शरीर को ऊर्जा देता हो, इनर्जी देता हो, लेकिन नशा न देता हो; जो शरीर की मांग-पूर्ति करता हो, लेकिन शरीर में पागलपन पैदा न करता हो; जो शरीर की.जरूरत पूरी करता हो, लेकिन शरीर का विलास न बन जाता हो।
जिस मात्रा में कोई चीज शरीर के लिए मूर्च्छा पैदा करती है, उसी मात्रा में आपका अन्नमय कोष विकृत हो जाता है। पर हम इतना चिंतन नहीं करते, विचार नहीं करते; हम क्या खा रहे हैं, इसकी हमें कोई फिक्र नहीं है, हम क्या पी रहे हैं, हमें इसकी कोई फिक्र नहीं है, भीड़ जो कर रही है, हम भी किये चले जाते हैं।
भोजन की, आहार की चिंतना में भारत ने जैसी गति की, किसी और देश ने कभी
की नहीं; क्योंकि शायद भारत को ही पहली दफे यह ख्याल आना शुरू हुआ... कि अगर इस शरीर के भीतर जाना है तो इस शरीर को बदलना होगा; जैसा यह शरीर है, यह काफी नहीं है।
पावलव प्रयोग करता था कुत्तों पर-भारी प्रयोग किये, कोई पचास साल की मेहनत हैत्तो कुत्तों की एक छोटी सी ग्रंथि को काट देने पर उनसे फिर क्रोध पैदा नहीं करवाया जा सकता; फिर आप कितनी ही कोशिश करें, कुत्ता जो खूंखार था, शिकारी था... अभी एक क्षण पहले, उसमें से रत्ती भर एक खास जहर बाहर निकाल लेने पर, आप उसको मारें, कुछ भी करें, वह क्रोध नहीं कर सकता। क्या हो गया? रत्ती भर जहर बाहर कर लिया गया। वह जहर कुत्ते के भोजन से आता है। तो कुत्ते से जहर न निकाला जाये, लेकिन भोजन बदल दिया जाये, जिससे वह जहर न आ सके, तो भी कुत्ता क्रोधी नहीं रह जायेगा।
आदमी की वायलैंस, आदमी की हिंसा भी उसके भीतर निर्मित होते जहरों से आती है। आपके भीतर से खास जहर बाहर कर लिये जायें, फिर आप हिंसा न कर सकेंगे। इसलिए शरीर-शास्त्रियों का एक बड़ा वर्ग यह कहता है कि जो लोग हत्या कर देते हैं, उनको अपराधी करार देना नासमझी है; वे केवल बीमार हैं। उनके शरीर में एक विशेष जहर निर्मित हो रहा है, वे क्या कर सकते हैं! तो उनको सजा देना और फांसी लगाना पागलपन है, निहायत पागलपन है। और आज नहीं कल, अगर अमरीका का एक बड़ा विचारशील मनावैज्ञानिक बी. एफ. स्किनर सफल हो गया दुनिया को राजी करने में, तो वह कहता है, अपराधियों का ऑपरेशन करना चाहिए, अपराध नहीं। थोड़ी सी ग्रंथियां उनकी अलग कर देनी चाहिए, फिर वे हत्या नहीं कर सकेंगे, हिंसा नहीं कर सकेंगे।
लेकिन जब कोई वैज्ञानिक, या कोई प्रयोगशाला, या कोई समाज, या कोई राज्य आपकी ग्रंथियां काटने लगेगा तो आप गुलाम हो जायेंगे। अगर मैं क्रोध कर ही न सकूं तो मेरी क्षमा का क्या मूल्य रह जायेगा? इम्पोटेंसी, नॉनवायलैंस नहीं है; नपुंसक हो जाना तो अहिंसा नहीं होगी। वैज्ञानिक काट सकता है... आपके भोजन को बदलने की.जरूरत नहीं; आप जो भोजन करते हैं, करते रहें, लेकिन आपकी ग्रंथि काटी जा सकती है; जहां रस निर्मित होते हैं, वह व्यवस्था तोड़ी जा सकती हैत्तो आप क्रोध नहीं कर सकेंगे, हिंसा नहीं कर सकेंगे, हत्या नहीं कर सकेंगे-लेकिन उसमें आपकी गुणवत्ता न होगी, और आपकी कोई अंतर्यात्रा भी न होगी; आप सिर्फ नपुंसक हो गये होंगे।
लेकिन हमने एक और प्रक्रिया खोजी थी... वह प्रक्रिया यह नहीं थी कि हम
आप पर ऊपर से दबाव डालें, और आपका कोई हिस्सा तोड़ दें; आपका शरीर जैसा है हम वैसा ही रखने को राजी थे, लेकिन स्वेच्छा से, आत्मक्रांति के लिए, आप अपने

अन्न की व्यवस्था को, आहार की व्यवस्था को बदल डालें। धीरे-धीरे... धीरे- धीरे आपका शरीर उन जहरों से मुक्त हो जाता है जो आपको पाप में ले जाते है; उन उत्तेजनाओं से मुक्त हो जाता है जो आपको बाहर भगाती हैं।
और धीरे-धीरे इससे उलटा भी संभव है। यह तो आधा हिस्सा हुआ, निगेटिव...
कि आपमें कोई जहर पैदा होता है जो आपको क्रोध करवाता है; क्या आपमें कोई अर्मत अमृत भी पैदा हो सकता है जो आपको क्षमा करवाए? अभी स्किनर को इसका पता नहीं है। अगर आपमें कोई ग्रंथि है, जो आपको पुरूष और स्त्री बनाती है, और पुरूष या स्त्री की वासना पैदा करवाती है, तो क्या यह संभव नहीं है कि आपके भीतर ऐसी रसधार पैदा हो कि आप स्त्री और पुरूष दोनों से मु7 हो जायें?
हां, आपका ऑपरेशन करके भी आपको स्त्री-पुरूष से मु7 किया जा सकता है, लेकिन वह नीचे गिरना है। तब आप सिर्फ नंपुसक हो जाते हैं। लेकिन स्त्री- पुरूष की पूरी क्षमता मौजूद रहे, और आपके भीतर वह रसधार शुरू हो जाये जो आपके पार ले जाती है, और स्त्री-पुरूष, दोनों का आकर्षण खो जाता है-ख्याल ही भूल जाता है कि आप स्त्री हैं या पुरूष। तब आप ऊपर उठते हैं और ऊर्जा ऊर्ध्वगामी होती है।
शरीर पहली बात है।
शरीर की दूसरी पर्त... दूसरी पर्त को ऋषियों ने कहा है, "प्राणमय कोष"-
दि वाइटल बॉडी। जैसे ही यह शरीर पारदर्शी हो, वैसे ही पता चलेगा, अन्यथा यह बातचीत ही रहेगी। इस शरीर के पीछे छिपा हुआ है एक प्राण-शरीर।
प्राण-शरीर से अर्थ हैः दि इनर्जी बॉडी, दि वाइटल बॉडी।
एक पत्थर में और एक प्राणी में जो फर्क है, वह यही हैः पत्थर के पास एक
ही शरीर है-अन्नमय कोष। पौधे के पास एक और शरीर है भीतर-प्राणमय कोष। पौधे के पास दो शरीर हैं; पत्थर के पास एक शरीर है। पौधे के पास दो शरीर हैं, पौधा सिर्फ पत्थर नहीं है; कुछ उसमें पत्थर जैसा है जो उसको बाहर से घेरे हुए है, लेकिन भीतर एक जीवनधार बहती है। पौधा भी कभी जवान होता है, कभी बूढ़ा होता है; पौधा भी कभी प्रफुल्लित होता है, जब जीवनधार गहन बहती है; कभी उदास होता है, जब जीवनधार क्षीण होती है।
सुबह जब सूरज उगता है तो पत्थर पत्थर ही रहता है-रात भी पत्थर पत्थर रहता है; लेकिन पौधा रात कुछ और होता है, सुबह कुछ और होता है। एक भीतर जीवनधारा है, एक प्राण-शरीर है, जो सूरज के उगने के साथ आनंद से भर जाता है। सूरज से जो ऊर्जा मिलती है, वह प्राण-शरीर को मिलती है। इसलिए रात पत्थर, रात भी पत्थर है; जैसा है, वैसा है, सुबह भी वैसा है। पत्थर पर कोई प्रभाव सूरज का नहीं होता।
जब मैं पत्थर कह रहा हूं तो पहाड़ नहीं कह रहा हूं, ख्याल रखना; क्योंकि पहाड़ पर होता है। पहाड़ जीवित है। कुछ पहाड़ जवान होते हैं; जैसे हिमालय अभी जवान है, अभी बढ़ता जाता है। विंध्या बूढ़ा हो गया।
कथा अच्छी है, प्रीतिकर है... कि किसी मुनि की यात्रा पर सिर झुकाकर खड़ा था, फिर मुनि लौटे नहीं, फिर वह सिर झुका ही हुआ है। सच बात और है। विंघ्या बूढ़ा पर्वत है; सबसे पुराना पर्वत है पृथ्वी पर-हिमालय बिल्कुल बच्चा है-सबसे पुराना है; बहुत पहले सिर झुक गया और कमर उसकी ढीली पड़ गयी; वह बूढ़ा हो गया। वह कथा तो माइथोलॉजी... पर प्रीतिकर है-पर बताती है कि पहाड़ बूढ़ा हो गया, अब सिर उठा नहीं सकता। ऋषि लौट भी आयें तो अब सिर उठा नहीं सकता। लेकिन हिमालय उठता ही चला जा रहा है; रोज बढ़ रहा है। अभी हिमालय कितना बढ़ेगा, कहना मुश्किल है।
यह बड़े मजे की बात कि ऋग्वेद हिमालय की बात नहीं करता; असंभव है... कि हिमालय जैसी बात और चूक जाये। हिमालय जैसा पर्वत निकट खड़ा हो, और गौरीशंकर जैसे शिखर आकाश में चमक रहे हों और ऋषि गीत न गाये-असंभव है। सचाई यह है कि ऋषि ने जब गीत गाया तब हिमालय पैदा नहीं हुआ था। और कोई कारण नहीं समझ में आता; क्योंकि छोटी-छोटी बात नहीं चूकी ऋषि से, हिमालय चूक जाये यह बहुत मुश्किल है। एक ही कारणः कि ऋषि ने जब गीत गाये तब हिमालय पैदा नहीं हुआ था-या पैदा भी हुआ होगा तो इतनी छोटी टेकरी रही होगी कि भूला जा सकता था।

ऋग्वेद में स्मरण है उन यात्राओं का, उन जगहों का जो हिंदुस्तान में नहीं हैं, जो मध्य एशिया में है। उन रातों का जो केवल उत्तरी ध्रुव पर होती हैं, जो यहां होती ही नहीं। जहां छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है, ऋग्वेद में उसकी चर्चा है। लेकिन हिमालय की चर्चा नहीं है। लगता ऐसा है, हिमालय अनुपस्थित था। और या तो यह ऋषि उत्तर ध्रुव पर रहा था, और या फिर उत्तर ध्रुव और भारत के बीच में हिमालय के न होने से सीधे यात्रा पथ थे, कोई अड़चन न थी, कोई बाधा न थी।
जो लोग भी इस ख्याल को मानते हैं कि भारत में आर्य बाहर से आये, उनको
भी एक कठिनाई होती है कि इन आनेवालों ने हिमालय को पार करने की कठिनाइयों का कोई उल्लेख नहीं किया! अगर ये बाहर से आये, तो इतना असंभव है... और सब बातों का उल्लेख किया और हिमालय को पार करने की कठिनाई भयंकर रही होगी, उसका उल्लेख ही नहीं किया। वह तो इस कौम की स्मृति में गहरी से गहरी बात होती-न मालूम कितने लोग मर गये होते, न मालूम कितने लोग खो गये होते, मुश्किल से ह.जार चलते तो दस पहुंच पाते; उसकी कोई चर्चा नहीं है। यह हिमालय रहा ही नहीं। यह बहुत पुराना पर्वत नहीं है।
तो जब मैं पत्थर की बात करता हूं, तो पहाड़ की बात नहीं कर रहा हूं। पहाड़ में भी प्राण-शरीर है। जहां भी बढ़ती होती है वहां प्राण-शरीर है। बढ़ती प्राण में होती है, पदार्थ में नहीं होती। बढ़ती सदा ही प्राण में होती है, पदार्थ में नहीं होती। तो कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि पदार्थ से भरा हुआ एक आदमी और बिल्कुल निष्प्राण मालूम पड़ता है; भारी काया और प्राण बिल्कुल नहीं मालूम होते। और कभी-कभी बड़ी दुर्बल काया और प्राण सागर-जैसा मालूम पड़ता है।
यह जो प्राणमय शरीर है, यह ऊर्जा-निर्मित है, इनर्जी बॉडी है। शरीर जो है, वह पदार्थ-निर्मित है; वह अन्न से निर्मित है। प्राण शरीर जो है, वह ऊर्जा से, शि7 से निर्मित है। यह शि7 मिलती है सूरज से; यह शि7 मिलती है वायु से; शि7 मिलती है अनंत-अनंत सूक्ष्म तरंगों से।
इसलिए कभी ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति अगर प्राण के आहार की कला
को सीख जाये तो अन्न से मु7 हो सकता है; अन्न को कम करता जा सकता है। अगर सीधे ऊर्जा उपलब्ध होने लगे, और उस ऊर्जा को ही वह रूपांतरित करने की कला जान जाये...
और वैसी कला है। कभी-कभी आकस्मिक रूप से भी घटित हो जाता है। ऐसे बहुत... अभी भी दो-चार व्यि7 पृथ्वी पर जीवित हैं जिन्होंने वर्षों से भोजन नहीं लिया। उनका वजन नहीं घटता-घटना चाहिये। तो एक ही बात मालूम पड़ती है कि किसी न किसी भांति उनके व्यि7 त्व ने वह तरकीब जान ली है, जिससे ऊर्जा सीधी पदार्थ में परिवर्तित हो जाती है। और अभी तो आइंस्टीन के बाद यह साफ हो गया कि मैटर एंड इनर्जी आर नॉट टू थिंग्स; मैटर इ.ज जस्ट इनर्जी, इनर्जी इ.ज जस्ट मैटर-टू स्टेटस ऑफ वन थिंग।
आइंस्टिन का जो बड़े से बड़ा फार्मूला है वह यही है कि शि7 और पदार्थ जो
दो चीजें नहीं, एक ही चीज हैं; और शक्ति और पदार्थ एक ही चीज की दो अवस्थाएं हैं। तो पदार्थ शक्ति बन सकता है, शि7 पदार्थ बन सकती है। इसी सूत्र पर अणुबम का विकास हुआ। अणुबम का विस्फोट केवल इस बात की घोषणा है कि हम पदार्थ को शि7 बना रहे हैं। तो एक अणु को तोड़ देते हैं, तो वह ऊर्जा बन जाता है। इससे उलटा भी संभव है। और वही उलटा घटता है, जब एक आदमी बिना भोजन के और जी लेता है, और शरीर को कोई.जरूरत नहीं होती, तब उलटा घट रहा है; प्राण-शरीर का अणु, पदार्थ बन रहा है।
यह जो ऊर्जा-शरीर है, यह हमारे भीतर की पर्त है; इसका हमें पता नहीं चलता। कभी-कभी किन्हीं क्षणों में इसका हमें एहसास होता है-कभी कभी! सागर के किनारे आप खड़े हैं और अचानक लगता है कि भीतर कोई लहर दौड़ गयी। वह लहर आपके पदार्थ-शरीर में नहीं दौड़ती। पदार्थ-शरीर में लहर दौड़ ही नहीं सकती। लहर जो है वह घटना ऊर्जा की है। पदार्थ में कहीं लहरें होती हैं! कहीं पत्थर में कोई लहर उठती है? लहर जो है, तरंग जो है, वेव जो है, वह ऊर्जा की घटना है। कभी जब आप किसी के प्रेम में पड़ जाते हैं, तो अचानक आपके भीतर

तरंगें दौड़ जाती हैं। वे तरंगें आपके शरीर में नहीं दौड़तीं-यद्यपि शरीर भी उनका अनुभव करता है; शरीर के रोंगटे भी खड़े हो सकते हैं।
पिÜ चम के एक बहुत विचारशील व्यि7 हाऊसमॅन ने लिखा हैः कि कविता मैं उसी को कहता हूं जिसमें रोंगटे खड़े हो जायें। लेकिन काव्य का जो प्रभाव होता है वह शरीर पर नहीं होता; काव्य का प्रभाव तो प्राण-शरीर पर होता है। और कुशल कवि वही है जो जितने गहरे आपके प्राण-शरीर में प्रवेश कर जाये... कि आप तरंगित हो जायें।
जो गीत आपको नचा न सके वह गीत नहीं; कान ने सुन लिया लेकिन प्राण तक नहीं पहुंचा। लेकिन गीत जब प्राण पर पहुंच जाता है तो नृत्य बन जाता है। कभी किसी क्षण में कोई गीत सुनकर, कोई वीणा का स्वर सुनकर, किसी सागर की लहर के साथ, किसी के प्रेम क्षण में, आकाश में चांद को देखकर, कभी उगते सूरज को देखकर, कभी हवा के एक झोंके में, कभी किसी कली को फूल बनते देखकर, भीतर एक कंपन दौड़ जाता है, वह आपके अन्नमय कोष का हिस्सा नहीं है, वह तरंग आपकी प्राण-ऊर्जा का हिस्सा है।
वैज्ञानिक अनुभव करने लगे हैं कि प्राण-ऊर्जा भीतर है; उसे वे कहते हैं, बायोइनर्जी; वे उसे कहते हैं जीव-ऊर्जा। वे कहते हैं वह शरीर की विद्युत है।
अधिक विद्युतवान व्यि7 हैं, कम विद्युतवान व्यि7 हैं। जिन लोगों को
आप कहते हैं कि उन्हें देखकर सम्मोहन पैदा हो जाता है, उसका कोई और कारण नहीं है। किसी व्यि7 के पास जाकर आप अचानक पाते हैं कि प्रभावित हैं; यह प्रभाव अकारण मालूम पड़ता है। इसका संबंध प्राण-शरीर से है। अगर इस व्यि7 के पास एक विकसित प्राण-शरीर है... और यह तभी होता है, जब पहला शरीर पारदर्शी हो, अन्यथा नहीं होता। अगर इसके पास एक विकसित प्राण-शरीर है, तो आपके प्राण-शरीर में तत्काल तरंगे पैदा हो जाती हैं... यह प्राण-शरीर प्राण-शरीर को छू लेता है। यह कितनी ही दूर से छुआ जा सकता है, इसके लिए दूरी का कोई सवाल नहीं है। अन्नमय शरीर के लिए ही दूरी का सवाल है, प्राणमय शरीर के लिए दूरी का कोई संबंध नहीं है। और तब आपके भीतर कोई डोल जाता है, कोई कंप जाता है, कोई अनुगत हो जाता है, कोई आच्छादित हो जाता है।
इस प्राणमय शरीर का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा शरीर में झांकता
है वह आंख है। इसलिए आंख से ज्यादा जीवित और कोई चीज शरीर में नहीं मालूम पड़ती; बाकी शरीर मुर्दा मालूम पड़ता है। आंख असल में दोहरा तल है। आंख वह जगह है जहां से आपके अन्नमय शरीर से आपका प्राणमय शरीर बाहर झांकता है। इसलिए आंख इतनी जीवंत और तरंगित है। इसलिए आंख में लहरें तत्क्षण दौड़ जाती हैं। आपके हाथ में क्रोध आने में बहुत देर लगेगी-जब वह मुट्ठी बांधेगा, खून दौड़ेगा, और हमले के लिए दौड़ेगा; आंख एक क्षण में क्रोधित हो जाती है। आपके शरीर तक प्राण की, प्रेम की लहर दौड़ने में बहुत व 7 लग जायेगा, प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; आंख तत्काल प्रेम में पड़ जाती है।
आपकी आंख आपके प्राण-शरीर की भाषा है। और आपकी आंख को जांचा जा सके ठीक से तो आपके प्राण-शरीर के संबंध में सब कुछ कहा जा सकता है। आंख पूरे व 7 खबर दे रही है कि भीतर क्या हो रहा है। आंख बहुत तरंगित है।
यह जो दूसरा प्राण-शरीर है, इस प्राण-शरीर की भी शुद्धि की.जरूरत है।
इस प्राण-शरीर को भी पारदर्शी बनाने की.जरूरत है। प्राणायाम के सारे प्रयोग इस प्राण-शरीर को पारदर्शी बनाने के प्रयोग हैं। शरीर में जितनी ज्यादा मात्रा में प्राणवायु जाती है, ऑक्सीजन जाती है, उतना यह प्राण-शरीर स्वच्छ और शुद्ध होता है; जितनी ज्यादा कार्बन डायऑक्साइड जाती है, उतना यह प्राण-शरीर अशुद्ध, दूषित और स्थूल हो जाता है।
इसलिए दिन में नींद आनी मुश्किल होती है, रात में नींद आनी आसान होती है, क्योंकि रात पृथ्वी पर ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है, और कार्बन डायऑक्साइड की बढ़ जाती है। दिन में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ जाती है, कार्बन डायऑक्साइड की कम हो जाती है। इसलिए ब्रह्ममुहूर्त में उठनेवाले लोगों का जो ख्याल था, वह केवल इतना ही था... वह यह नहीं था कि ब्रह्ममुहूर्त में उठना चाहिए-वह यह था कि ब्रह्ममुहूर्त में उठ जाना सहज ही होना चाहिए; क्योंकि जब सूरज उठने लगा तब अगर आपका प्राण-शरीर प्रभावित नहीं होता तो

बहुत जड़ बना लिया आपने उसको। सूरज जग रहा है, पौधे तक प्रभावित हो गये, पक्षी गीत गाने लगे, और आपका प्राण-शरीर आंदोलित नहीं हो रहा है! और आप अपने बिस्तर पर करवटें ही बदल ले चले जा रहे हैं! तो आप बहुत पथरीले हो गये हैं।
यह जो प्राण-शरीर है, यह चूंकि ऊर्जा है, इसलिए प्राण वायु से प्रभावित होता है। इसलिए जितनी गहरीश्वास ली जा सके उतनी हितकर है। इसे सहज हिस्सा बना लेना चाहिए। उथलीश्वास मत लें। जितनी गहरीश्वास होगी उतने आप प्राणवान होंगे; और जितनी गहरीश्वास होगी उतनी आपकी मेधा प्रखर होगी।
स्त्रियां अगर बुद्धिमानी में पुरुषों से पिछड़ गयीं तो उसके बहुत कारणों मे एक कारण उनकी गलत आदत है, उथलीश्वास लेने की। जानवरों में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता कि मादा और पुरूष में कोई बुद्धि का इतना फासला हो; कोई फासला नहीं दिखाई पड़ता। आदमी में बहुत फासला दिखाई पड़ता है। इसमें और हजार कारण हैं, एक कारण यह भी है कि स्त्रियां उथली 9 वास लेती हैं। उथलीश्वास लेने का कारण है कि स्त्रिया निरंतर स्तनों के संबंध में अति सचेतन हैं। और अगर स्तन बड़े करने हैं तो उथलीश्वास उपयोगी है। स्तन छोटे रह जायेंगे अगर गहरीश्वास होगी। लेकिन बड़े की कोई.जरूरत भी नहीं है।
यह बहुत मजे की बात है कि आदमी की मादाओं को छोड़कर सभी पशु-मादाओं में स्तन समय पर बड़े होते हैं, फिर छोटे हो जाते हैं, जब बच्चे को दूध की.जरूरत होती है। सिर्फ स्त्री ने ऐसे स्तन विकसित किये हैं, जब दूध की.जरूरत भी नहीं होती तब भी बड़े रहते हैं। यह कमश्वास लेने का उपयोग है। पेट तकश्वास जाये तो स्तन उतने ही होंगे जितने शरीर के लिए.जरूरी हैं। अगर स्तन बड़े करने हैं तो पेट को भीतर सिकोड़े रखना.जरूरी है। तो पेट तकश्वास नहीं जानी चाहिए।
इसलिए पहलवान भी अगर छाती बड़ी करना चाहता है तो फिर पेट तकश्वास नहीं
ले जाता। इसलिए पहलवान अक्सर बुद्धिमान नहीं होते-हो नहीं सकते। हो नहीं सकते... अभी तक सुना नहीं मैंने कभी कोई पहलवान और बुद्धिमान हुआ हो; क्योंकि बुद्धि के विकास के लिए प्राण-ऊर्जा का घना होना.जरूरी है। तो पहलवान भी पेट को भीतर सिकोड़े रखता है और छाती सेश्वास लेता है।
लेकिन आपने कभी बच्चे कोश्वास लेते देखा? बच्चा जैसीश्वास लेता है,
वह सम्यकश्वास है। बच्चे का पेट ऊपर उठता है और नीचे गिरता है, छाती नहीं; क्योंकि बच्चा अभी तक बिगड़ा नहीं है। अभी न उसको पहलवान बनना है, न स्तन बड़े करने हैं; अभी उसको कोई झंझट नहीं है। अभी वह वैसीश्वास लेता है, जैसी प्रकृति ने चाही है किश्वास ली जाये। तो उसका पेट ऊपर गिरता है, नीचे गिरता है।
एक बात देखकर आपको हैरानी हुई होगीः अगर बुद्ध की भारतिय प्रतिमाएं
आप देखें तो छाती बड़ी और पेट छोटा है, लेकिन अगर जापानी और चीनी प्रतिमाएं देखें तो छाती छोटी और पेट बड़ा है। बेहूदी लगती है थोड़ी देखने में, लेकिन कारण है-ऐसा था भी नहीं, यह ठीक भी नहीं है, बुद्ध की ऐसी हालत थी भी नहीं। लेकिन जापान और चीन में वे जानकर ऐसी मूर्तियां बनाये हैं क्योंकि वे यह कहते हैं... कि ध्यान पेट पर होना चाहिए, छाती पर नहीं। छाती पर अगर ध्यान होगा तोश्वास छाती तक जायेगी और वापिस लौट जायेगी।
तो स्त्रियों में कम बुद्धि के होने का एक कारण उनकेश्वास की कमी है; ऊर्जा-शरीर छोटा रह जाता है।
यह जो ऊर्जा-शरीर है, प्राणवायु जितनी ज्यादा मिले, जितनी गहरी मिले, उतना ज्यादा शुद्ध होता है। और यह जो ऊर्जा-शरीर है इसके और सूक्ष्म भोजन भी हैं। जहां-जहां तरंग मिल सकती हों... तरंगें बहुत तरह की हैं-शुद्ध तरंगें भी हैं, अशुद्ध तरंगें भी हैं।
सत्संग का केवल इतना ही उपयोग थाः एक साधु के पास जाकर आप बैठ जाते हैं, न कोई बात करते हैं, न कोई चीत करते हैं, सिर्फ बैठ जाते हैं-किसलिए? उसके पास तरंगें हैं, जो आपके ऊर्जा-शरीर को उपलब्ध हो जाती हैं बिना कुछ बातचीत किये।

दर्शन बड़ी अनूठी बात थी जो इस मुल्क में पैदा हुई। पिÜ चम में कोई सोच भी नहीं पाता कि दर्शन का क्या मतलब? फलां आदमी के दर्शन को जा रहे हैं। मिलने जा रहे हों, बात करने जा रहे हों, चर्चा करने जा रहे हों, समझने जा रहे हों, समझ में आता है... दर्शन करने जा रहे हैं! क्या पागलपन की बात है? दर्शन से क्या होगा? ... अकेले दर्शन से क्या होगा? अकेले दर्शन से कुछ होता है... बहुत कुछ होता है। अक्सर तो बात करने से जो नहीं होता, चीत करने से जो नहीं होता, वह दर्शन से हो जाता है। दर्शन का केवल इतना मतलब है कि हम उस जगह के पास जा रहे हैं, जहां एक बहुत जीवंत प्राण-शरीर है, जिसके चारों तरफ एक वायुमंडल है प्राण-शरीर का, वहां बैठ जाना दो क्षण भी आपके प्राण-शरीर को गति देता है, तरंगें देता है।
साधु पहाड़ पर जाता रहा है... दूर आदमी की सभ्यता से, क्योंकि आदमी जहां जितना सघन है, वहां आदमी अपनी तरंगें छोड़ रहा है। दूषित है तो दूषित छोड़ रहा है, शुद्ध है तो शुद्ध छोड़ रहा है।
तो भीड़ थकानेवाली होती है। कभी आपने ख्याल किया, जब आप भीड़ से लौटते हैं तो आप थोड.े कम होकर लौटते हैं; कुछ आपकी ऊर्जा नीचे गिर गयी होती है। भीड़ थकानेवाली होती है।
और भीड़ आपकी बुद्धि को कम करती है, इसका आपने कभी ख्याल किया? इसलिए अगर कोई बहुत बेवकूफी का काम करवाना हो तो अकेले आदमी से नहीं करवाया जा सकता, भीड़ से ही करवाया जा सकता है। अगर मस्जिद में आग लगानी है, मंदिर तुड़वाना है, तो भीड़ से करवाया जा सकता है, एक-एक से नहीं।
और यह बड़े मजे की बात है कि जिस भीड़ से यह करवा रहे हैं, अगर उनमें से
भी एक-एक से कहें कि करो, तो वह भी कहेगा कि कुछ जंचता नहीं, क्या फायदा है मस्जिद के जलाने से! लेकिन जब वह भीड़ में होता है तब बुद्धि का तल नीचे गिर जाता है, क्योंकि भीड़ में विवेके और दायित्व खो जाता है; और वह आदमी सोचता है, कोई मैं ही थो.ड़े ही जिम्मेदार हूं! इतने लोग कर रहे हैं, मैं तो केवल साथ हूं। और सभी यही सोचते हैं। इसलिए दुनिया में जो बड़े पाप हैं वह भीड़ ने किये हैं, व्यि7 यों ने नहीं; व्यि7 यों ने छोटे-छोटे पाप किये हैं।
भीड़ से दूर जाने का उपयोग केवल इतना ही था कि प्राण-ऊर्जा शुद्धतम हो; भीड़ न दे उसे।
तो मो.जे.ज सिनाई के पर्वत पर चले जाते हैं, मोहम्मद पहाड़ चढ़ जाते हैं, बुद्ध-महावीर जंगलों में भटक जाते हैं; क्राइस्ट का तीस साल तक कोई पता ही नहीं चलता... ईसाइयों के पास कोई कथा ही नहीं कि यह आदमी तीस साल तक क्या करता रहा! केवल तीन साल की कहानी है... वह भी मरने के तीन साल पहले की। बाकी पहले यह आदमी कहां रहा? सात साल पहले का उल्लेख है... सात साल की उम्र का था तब का उल्लेख है, फिर तीस साल का जब था। ये बाकी तेईस साल आदमी कहां था, इसका कोई पता नहीं। यह भीड़ के बाहर था। ये तेईस साल वाइटल बॉडी को, प्राण-ऊर्जा को बढ़ाने के वर्ष थे।
तीसरे शरीर के संबंध में हम रात बात करेंगे; अभी कुछ काम करें।
जब मैं आपसे कहता हूं... गहरी और तीव्र, गहरी और तीव्र श्वास... तो आपके प्राण-शरीर को जगाने की कोशिश कर रहा हूं। कंजूसी नहीं चलेगी, पूरी ताकत लगायें। जब आपसे कहता हूं... पागल होकर सब निकाल दें जो भीतर पड़ा है, तो आपकी शुद्धि के लिए कह रहा हूं; इसे बाहर फेक दें। और जब आपसे हुंकार की बात करता हूं तो वह भी आपके ऊर्जा-शरीर को चोट पहुंचाने के लिए है।
अब हम प्रयोग में जायें। दूर-दूर फैल जायें। पागल होने से कम में नहीं चलेगा। बुद्धिमानी एक तरफ रख दें। वैसे भी बुद्धिमान हैं नहीं, रखने में कोई ज्यादा दिक्कत नहीं। पागल होने से कम में नहीं चलेगा।

सर्वसार उपनिषद
सातवां प्रवचन

पंच कोषों के पार

एतत्कोशद्वयसंसक्त मन आदि चतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादि विषय संकल्पादिधर्मान यदा करोति तदा मनोमयकोष इत्युच्यते।
एतकोशत्रयसंसक्त
तद्गतविशेषज्ञो यदा भासते
तदा विज्ञानमयकोश इत्युच्यते।
एतकोशचतुष्टयसंसक्त
स्वकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव
वृक्षो यदा वर्तते तदा
आनंदमयकोष इत्युच्यते।। 5।।

इन दो कोषों के भीतर रहनेवाली मन आदि चौदह इंद्रियों द्वारा
जब आत्मा शब्दादि विषयों का विचार करती है,
तब उसे मनोमय कोष कहते हैं।
आत्मा इन तीनों कोषों के साथ संयुक्त होकर बुद्धि के द्वारा जो कुछ जानती है,
उसके उस बुद्धिमय स्वरूप को विज्ञानमय कोष कहा जाता है।
इन चारों कोषों के साथ आत्मा... बरगद के बीज में वृक्ष की तरह... अपने
कारण स्वरूप अज्ञान में रहती है, उसे आनंदमय कोष कहते हैं।
पहला शरीर है स्थूल, भौतिक, अन्नमय।
दूसरा शरीर है प्राणमय, ऊर्जा शरीर। इन दो की सुबह हमने बात की।
ऊर्जा शरीर को, प्राणमय कोष को जो शुद्ध कर ले वही तीसरे शरीर के प्रति जाग्रत हो पाता है... एक पर्त पारदर्शी हो जाये तो दूसरी पर्त की झकल मिलनी शुरू हो जाती है।
जैसे हमने समझा, अन्न से बनता है पहला शरीर, प्राणवायु से निर्मित होता है दूसरा शरीर, तीसरा शरीर निर्मित होता है विचार की तरंगों से। विचार भी भोजन है। विचार भी वस्तु है। विचार भी शक्ति है।
बुद्ध ने कहा है, तुम जैसा सोचोगे वैसे ही हो जाओगे; या तुम जैसे हो गये हो, वह तुम्हारे सोचने का ही परिणाम है।
मन तक यह बात सही है... मनोमय कोष तक यह बात सही है; और बुद्ध का यह वक्तव्य सही है; क्योंकि जिनसे उन्होंने कहा होगा, उन्हें मन के पार का और कुछ भी पता नहीं है। लेकिन विचार को कभी हम भोजन की तरह नहीं समझते हैं... कि विचार भी भोजन है; और विचार भी भीतर प्रवेश करके एक देह का निर्माण करता है। इसे थोड़ा समझेंगे तो ख्याल में आ जायेगा।
कलकत्ता में उन्नीस सौ में एक बच्चा खो गया। कोई सात वर्ष बाद पता चला
कि वह बच्चा जंगल में है और एक शिकारी उसे वापस ले आया। एक भेड़िया उस बच्चे को उठाकर ले गया था। बहुत कोशिश की गयी उस बच्चे को आदमी बनाने की, बहुत मुश्किल हुआ। वह चार हाथ-पैर से चलता था, जैसे भेड़िये चलते हैं; आवाज करता था, जैसे भेड़िये करते हैं। भेड़िये जैसा ही खूंखार भी हो गया था। उतनी ही तेजी से दौड़ भी लेता था, लेकिन रीढ़ के बल खड़ा करना उसे मुश्किल हो गया। मन उसका विकसित ही न हुआ था, क्योंकि मन को कोई भोजन न मिला था। बहुत चेष्टा में वह बच्चा मर गया।
ऐसा तीन-चार बार हुआ। अभी कोई दस वर्ष पहले उत्तर प्रदेश में फिर एक बच्चा चौदह वर्ष का, भेड़ियों से वापिस लाया गया था। चौदह वर्ष तो काफी उम्र है। लेकिन वह एक शब्द भी नहीं बोल सकता था। और छः महीने कोशिश करके सिर्फ उसे उसका नाम बोलना सिखाया जा सका-"राम"। उसका नाम रख लिया था राम तो उसे छः महीने कोशिश करके, सिर्फ इतनी आवाज सिखायी जा सकी। वह बच्चा भी मर गया। स्वस्थ लाते हैं, लेकिन वह बच्चा भी सारा इंतजाम करके भी जिंदा नहीं

रखा जा सका, क्योंकि अब मन को पैदा करना उसे इतना दुष्कर हुआ, और आदमी बनना इतना कठिन मालूम हुआ, क्योंकि मनोमय कोष ही विकसित नहीं हो पाया।
आप एक भाषा बोलते हैं, वह भोजन है जो आपको बचपन से दिया गया है। दूसरे
घर में बड़े होते, दूसरी भाषा बोलते। गहरी पर्त बन जाती है।
मेरे एक मित्र जर्मनी में थे बीस वर्षों तक। बहुत कम उम्र में भारत से चले गये। उनकी मातृभाषा मराठी है, वे भूल गये। बीस वर्ष जर्मन बोलते-बोलते उन्हें मराठी का कोई ख्याल ही नहीं रहा-पढ़ भी नहीं सकते, बोल भी नहीं सकते, समझ भी नहीं सकते।
फिर अचानक एक दुर्घटना हुई और वे बीमार पड़े। उनके भाई यहां से जर्मनी गये। जिस अस्पताल में उनको भरती किया था, उस अस्पताल के लोगों ने प्रार्थना की, उनके भाई को कि आप रुक जायें; वैसे अस्पताल का नियम नहीं कि कोई यहां रुके रात, लेकिन आपको रुकना ही पड़ेगा, क्योंकि जब भी तुम्हारे भाई बेहोशी में बोलते हैं तो पता नहीं किस भाषा में बोलते हैं; जब होश में बोलते हैं तब तो जर्मन में बोलते हैं। भाई चकित हुए। जब वह उनका भाई बेहोशी में बोलता था तो मराठी में बोलता था। होश में मराठी समझ नहीं आती थी; बेहोशी में मराठी ही बोलता था, जर्मन नहीं बोल सकता था। बेहोशी में जर्मन समझ भी नहीं सकता था।
वह मनोमय कोष की पहली पर्त जिस भोजन से बनी है, वह गहरा है। इसलिए आदमी कितनी ही कोई दूसरी भाषा सीख ले, कभी भी ठीक मातृभाषा की गहराई उपलब्ध नहीं हो पाती। असंभव है, कोई उपाय नहीं है; क्योंकि जो पर्त पहली बन गयी है मनोमय कोष में, अब वह पहली ही रहेगी, अब सब पर्तें उसके बाद ही निर्मित होंगी।
भाषा है, शब्द है, विचार है, इनसे एक देह हमारे भीतर निर्मित होती है। जितना सुसंस्कृत और सुशिक्षित व्यक्ति होता है, उतनी बड़ी मनोमय देह होती है। लेकिन यह देह भी देह की तरह हमें दिखाई नहीं पड़ती; और इसलिए हम बिना फिक्र किये कुछ भी मनोमय कोष में डाले चले जाते हैं। एक आदमी सुबह से अखबार पढ़ रहा है, उसे ख्याल भी नहीं हो सकता कि यह अखबार भी उसकी मनोमय देह का निर्माण करेगा। रास्ते पर चलते दीवालों पर लगे पोस्टर पढ़ रहा है, उसे ख्याल नहीं हो सकता कि ये जो शब्द उसके भीतर जा रहे हैं ये भी उसका मन निर्मित कर रहे हैं।
हम अपने मन के निर्माण में इतने असावधान हैं, इसलिए हमारी जिंदगी एक उपद्रव है। अगर इतनी ही असावधानी हम शरीर के निर्माण में भी बरतें तो शरीर भी एक उपद्रव हो जाये। हम कंकड़-पत्थर नहीं खाते हैं; लेकिन जहां मन का सवाल है, हम कंकड़-पत्थर से भी व्यर्थ ही चीजें खाते हैं; वे सब हमारे मन को निर्मित करती हैं। जाने-अनजाने हमारे मन में जो भी प्रवेश कर जाता है वह उसका हिस्सा हो जाता है।
लेकिन हमें इसका बोध ही नहीं है कि मनोकाया प्रतिपल निर्मित होती रहती है-जो सुनते हैं, जो पढ़ते हैं, जो सोचते हैं, जो भी शब्द भीतर गुंजारित हो जाता है, वह सब मनोमय कोष को निर्मित करता है। अगर आपसे आपका पड़ोसी कुछ भी कह रहा है तो आप कभी उससे यह नहीं कहते कि इस व्यर्थ को मेरे भीतर मत डालो। हालांकि आपको ख्याल में हो या न हो, डाल लेना आसान है, निकालना बहुत मुश्किल है।
अगर मैंने एक शब्द आपके भीतर डाल दिया तो उसे निकालना अब इतना आसान नहीं है। कोशिश करके देखें तो पता चल जायेगा। मैं आपसे कह देता हूं "राम", रात भर इसे निकालने की कोशिश करके देख लें, आप न निकाल पायेंगे; बल्कि यह और गहरा होकर भीतर बैठ जायेगा; क्योंकि जितना निकालने की कोशिश करेंगे, उतना ही इसे याद करना पड़ेगा। जिसे हम भुलाना चाहते हैं, उसे भुलाने के लिए भी तो याद करना पड़ता है। और हर बार याद करके हम उसे और मजबूत किये चले जाते हैं।
इसीलिए तो इस दुनिया में जब किसी को कोई भुलाना चाहता है तो भुलाना असंभव हो जाता है। कोई भूल जाये, बात अलग; भुलाना बहुत मुश्किल है। और जो भूल जाता है वह भी केवल ऊपर-ऊपर से भूल गया है, भीतर से मिटता नहीं; चित्त कुछ भी खोता नहीं, चित्त बहुत संग्राहक है। यह मनोमय कोष बहुत सूक्ष्म

संग्रह करती चली जाती है। यह जन्मों-जन्मों तक जो भी इसने विचार की तरंग की तरह पाया है, इकट्ठा कर लिया है।
इस देह को ठीक से समझ लेना.जरूरी है तो ही इसके पार जाया जा सकता है।
इधर दो बातें और ख्याल ले लेनी.जरूरी हैं। पहले मैंने आपसे कहा, स्थूल देह है, शरीर हमारा, भौतिक काया; बीच में दोनों के है वाइटल बॉडी, प्राण शरीर; और पीछे है, मन शरीर। मन और शरीर के बीच में जो सेतु है, वह प्राण काया का है। इन दोनों को जोड़नेवाला जो सेतु है वह प्राण का है। इसलिए श्वास बंद हो गयी, शरीर यहीं पड़ा रह जाता है, मनोमय कोष नयी यात्रा पर निकल जाता है।
मृत्यु में स्थूल देह नष्ट होती है, मनोदेह नष्ट नहीं होती। मनोदेह
तो केवल समाधिस्थ व्यक्ति की नष्ट होती है। जब एक आदमी मरता है तो उसका मन नहीं मरता, सिर्फ शरीर मरता है; और वह मन नयी यात्रा पर निकल जाता है सब पुराने संस्कारों को साथ लिये। वह मन फिर नये शरीर को उसी तरह ग्रहण कर लेता है और करीब-करीब पुरानी शकल के ही ढांचे पर फिर से निर्माण कर लेता है-फिर खोज लेता है नया शरीर, फिर नये गर्भ को धारण कर लेता है।
इन दोनों के बीच में जो जोड़ है वह प्राण का है। इसलिए आदमी बेहोश हो जाये, तो भी हम नहीं कहते, मर गया; बिल्कुल कोमा में पड़ जाये, महीनों पड़ा रहे, तो भी हम नहीं कहते कि मर गया, लेकिन श्वास बंद हो जाये तो हम कहते हैं, मर गया; क्योंकि श्वास के साथ ही शरीर और मन का संबंध टूट जाता है।
और यह भी ध्यान रखें कि श्वास के साथ ही शरीर और मन का संबंध प्रतिपल परिवर्तित होता है। जब आप क्रोध में होते हैं तब श्वास की लय बदल जाती है... तत्काल; जब आप कामवासना से भरते हैं तो श्वास की लय बदल जाती है तत्काल; जब आप शांत होते हैं तो श्वास की लय बदल जाती है तत्काल। अगर मन अशांत है तो भी श्वास की लय बदल जाती है; अगर शरीर बेचैन है तो भी श्वास की लय बदल जाती है। श्वास का जो रिदम है वह पूरे समय परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि इधर शरीर बदला तो, उधर मन बदला तो। इसलिए जो लोग श्वास की रिदम को, श्वास की लयबद्धता को ठीक से समझ लेते हैं, वे मन और शरीर की बड़ी गहरी मालकियत को उपलब्ध हो जाते हैं।
जापान में छोटे-छोटे बच्चों को सिखाया जाता है कि जब भी क्रोध आये तो तुम श्वास को शांत करो, क्रोध को नहीं; क्योंकि क्रोध को कोई शांत नहीं कर सकता सीधा। दबा सकते हैं आप, शांत नहीं कर सकते। और दबाया हुआ आज नहीं कल फिर निकलेगा-शायद और भी जहरीला होकर निकलेगा। जापान में वे बच्चों को कहते हैं, क्रोध आये तो श्वास को शांत करो; क्योंकि जैसे ही श्वास शांत हो जाये, क्रोध मन में उठता है लेकिन शरीर तक नहीं पहुंच पाता, क्योंकि श्वास के सेतु के बिना शरीर तक पहुंचना असंभव है। और जब तक शरीर तक न पहुंचे, तब तक दबाने की कोई भी.जरूरत नहीं है और प्रगट करने की भी कोई.जरूरत नहीं है। अगर मन तक ही रह जाये तो विलीन हो जाता है; शरीर तक पहुंचे तो फिर आपकी सामर्थ्य के बाहर हो जाता है। मन से सीधे विलीन होने के उपाय हैं, लेकिन शरीर बहुत स्थूल चीज है। उसमें जब कोई चीज पकड़ जाती है तो या तो उसे प्रगट करो और या दबाओ। प्रगट करो तो भी उपद्रव होता है, दबाओ तो भी शरीर में ग्रंथियां निर्मित हो जाती हैं।
अमरीका का एक बहुत अद्भुत मनोवैज्ञानिक कुछ समय पहले मरा, उस आदमी का नाम था विलियम रैक। उसने जीवन भर मरीजों पर जो अनुभव किये, उसका कहना था कि जब कोई आदमी अपने क्रोध को दबा लेता है तो क्रोध शरीर में गांठें बनाकर ठहर जाता है। और बड़े आश्चर्य की बात है कि वह गांठों को दबाकर आदमी को पुनः क्रोधित कर लेता था। जीवन भर मरीजों के शरीर का अध्ययन करके... अगर एक मरीज को वह अनुभव करता है कि इसकी बीमारी क्रोध का दमन है, तो वह शरीर के उन हिस्सों को जोर से दबाता था जहां वह सोचता था कि क्रोध संगृहीत है; फौरन वह आदमी क्रोध से भर जाता। दूसरा आदमी उसी जगह दबाये जाने पर क्रोध से नहीं भरता, सिर्फ वही आदमी। और तत्काल क्रोध से जलने लगता... अकारण, क्योंकि अभी क्रोध का कोई कारण नहीं था; अभी क्रोध की कोई वजह ही नहीं थी।
तो अगर दबायें तो शरीर में ग्रंथियां बन जाती हैं, कॉम्पलेक्सेस निर्मित हो जाते हैं। आदमी की सौ में से नब्बे बीमारियां उसके दमित

शरीरों में छिप गये वेगों का परिणाम हैं। इसलिए चिकित्सक उन्हें केवल बदल पाता है, ठीक नहीं कर पाता। आज यह बीमारी है, चिकित्सक दबा देता है, वहां से रोकता है, बीमारी कल दूसरी जगह से शुरू हो जाती है। चिकित्सक केवल ट्रान्सफर करता रहता है बीमारियों का। थोड़ी राहत मिलती है। एक बीमारी से छूटे, दूसरी के प्रगट होने में थोड़ा वक्त लगता है।
जो ग्रंथियां भीतर इकट्ठी हैं, जो जहर भीतर इकट्ठा है, सूक्ष्म ग्रंथियां बन गया है, उसका निकल जाना.जरूरी है। लेकिन न आये शरीर तक, तो मन से सीधे वाष्पीभूत हो जाने के उपाय हैं।
श्वास सेतु है। इसलिए जो कुछ भी संवेदित होता है वह श्वास से संवेदित होता है। अगर आप कामवासना से भरे हुए हैं, और मात्र श्वास शांत रह जाये, तो शरीर तक कामवासना को पहुंचाना मुश्किल है; श्वास से ही शरीर तक पहुंचेगी। रूस का एक बहुत अद्भुत फिल्म निर्देशक था-इस सदी का सबसे विचारशील फिल्म निर्देशक था स्तानिस्लॅवस्की। उसने अभिनय पर गहनतम खोजें कीं। वे खोजें बड़ी काम की हैं। हर आदमी के काम की हैं। उसकी एक गहरी से गहरी खोज है और वह यह है... कि वह अपने अभिनेताओं को श्वास की लयबद्धताएं सिखाता था। वह कहता था, जब तुम्हें क्रोध लाना हो, तुम क्रोध की फिकर मत करो, तुम श्वास की यह लय पैदा कर लो, क्रोध आ जायेगा। जब तुम्हें प्रेम प्रगट करना हो तो तुम प्रेम प्रगट करने की कोशिश मत करो, क्योंकि प्रेम प्रगट करने की कोशिश में जो कृत्रिमता आ जाती है, जो आार्टिफिशिएलिटि आ जाती है, वह अभिनय को नष्ट कर देती है। वह कहता था, तुम श्वास की यह व्यवस्था बना लो भीतर, इस गति से श्वास लो, शीघ्र तुम्हारे चेहरे पर प्रेम झलकने लगेगा। और तब वह जो झलक होगी वह बिल्कुल वास्तविक के निकट होगी, वह अभिनय जैसी नहीं होगी। स्तानिस्लॅवस्की कहता था, अभिनेता को अपने शरीर और प्राणदेह का मालिक होना चाहिये-ही मस्ट बी ए मास्टर ऑफ हि.ज वाइटल बॉडी पर्टिकुलरलीत्तो ही अभिनय में कुशल हो सकता है, नहीं तो कुशल नहीं हो सकता।
जर्मन एक नर्तक था "निजिंस्की"। वह जब नाचता था तो सभी को ऐसा भ्रम होता था-भ्रम थोड़ी दूर तक सही था... कि दुनिया में बहुत अच्छे-अच्छे नर्तक उसके मुकाबले थे, लेकिन कहते हैं, निजिंस्की जैसा नर्तक पहले कभी नहीं हुआ, और शायद फिर कभी न हो सके। और खूबी जो थी वह यह थी कि वह.जमीन से नाचने में कभी छलांग लगाता था तो लौटने में ज्यादा वक्त लेता था। इतना वक्त कोई नर्तक नहीं ले सकता था। जैसे ग्रेविटेशन का असर उस पर कम होता हो, .जमीन की कशिश कम काम करती हो। जब वह उठ जाता तो ऐसा लगता जैसे तैर रहा है हवा में, और लौटने में समय ज्यादा लेता था। उसके साथ ही छलांग लगाया हुआ आदमी कब का नीचे पहुंच गया होता लेकिन वह देर लेता था।
बहुत खोजबीन की गयी कि उसका राज क्या है। सब तरफ जांच-पड़ताल करके एक
ही बात पता चली कि उसकी श्वास की रिदम में खूबी है; उसकी श्वास की रिदम बहुत भिन्न है, सामान्य नहीं है। और इधर पचास वर्षों में जितने लोगों के संबंध में खबर मिली है कि वे जमीन से ऊपर उठ सकते हैं-जैसे अभी बोलेविया में एक स्त्री है जो चार फीट जमीन से ऊपर कभी-कभी, वर्ष में दो-चार बार उठ जाती है। तो उसके तो बड़े वैज्ञानिक परीक्षण हुए, फिल्म बनायी गयी है, सारी मेहनत हुई है, कोई शक-शुबहा का कारण नहीं रह गया है; लेकिन उसकी भी रिदम वही है जो निजिंस्की की थी; उसकी भी श्वास की गति वही है।
प्राणायाम में, और प्राण के विज्ञान में श्वास की बहुत सी गतियां खोजी थीं। और उन श्वास की गतियों के साथ शरीर और मन दोनों में परिवर्तन होता है। श्वास, प्राण-शरीर सेतु है। इस तरफ है देह भौतिक, उस तरफ है देह विचार की।
विचार हमारे अनुभव में सबसे सूक्ष्मतम चीज है। लेकिन विचार भी "है"।
और अब तक जैसा सोचा जाता था कि विचार का कोई पदार्थगत अस्तित्व नहीं है वह गलत सिद्ध हो गया है। विचार भी पदार्थगत अस्तित्व है।
एडिंगटन ने अपनी आत्मकथा में लिखा हैत्तब तो वह कल्पना थी-उसने लिखा
है कि मैं बहुत बार इस विचार से अभिभूत हो जाता हूं... और वह यह कि थॉटस आर थिंग्.ज; विचार भी वस्तुएं हैं। लेकिन इसके लिए तब तक कोई प्रमाण नहीं था; लेकिन अब इसके लिए बहुत वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध हैं।

अब तो कुछ यंत्र भी विकसित हो गये हैं इधर दस वर्षों में, जो आपके विचार की तरंगों से भी प्रभावित होते हैं। अगर आप उस एक यंत्र के सामने खड़े होकर तीव्रता से एकाग्रता करें, तो यंत्र खबर देता है कि यह आदमी एकाग्र हो रहा है-सिर्फ आप सामने खड़े हैं; जैसे एक्सरे की मशीन के सामने खड़े हैं। अगर आप अपने को रिलेक्स करें, और विचार शिथिल छोड़ दें, तो यंत्र खबर देता है कि इस आदमी के विचार शिथिल हो गये हैं।
अमरीका में एक आदमी हैः टेड सीरियो। शायद इस आज की मौजूद दुनिया में, विचार भी पदार्थ हैं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह आदमी टेड सीरियो है। टेड सीरियो को आकस्मिक रूप से एक, एक विशेष शक्ति प्रगट होनी शुरू हो गयी। टेड सीरियो किसी भी विचार पर ध्यान करके इतना एकाग्र हो जाता है कि उस विचार का चित्र उसकी आंख में आ जाता है; और उस चित्र को कैमरे से उतारा जा सकता है। जैसे टेड सीरियो अगर बैठकर शांत अपने मन में ताजमहल का विचार करे तो उसकी आंख में ताजमहल की चित्र उभर आता है-उस ताजमहल का जो उसने कभी देखा ही नहीं। और यह केवल उभर नहीं आता उसकी कल्पना में, इसको बाहर के कैमरे से फोटो भी ली जा सकती है।
टेड सीरिया के कोई दस ह.जार फोटोग्राफ लिये गये। कई बार बहुत मजेदार अनुभव हुए; टेड सीरियो के फोटोग्राफ अब प्रकाशित हो गये हैं। सैकड़ों वैज्ञानिकों ने मेहनत ली है अलग-अलग तरकीब से कि कोई धोखा तो नहीं है? लेकिन धोखे का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि वैज्ञानिक को भी उसकी आंख में ताजमहल दिखाई पड़ता है। फिर वैज्ञानिक को किसी तरह का धोखा भी दिया जा सकता है, लेकिन कैमरे को धोखा देना बहुत मुश्किल है। और कैमरे में जो चित्र पकड़ा जाता है, वह क्या कहता है? वह यह कहता है कि अगर विचार सघनभूत होकर आंख में ताजमहल बन सकता है, तो विचार सिर्फ विचार नहीं है, विचार भी वस्तु है, पोद्गलिक है, मटेरियल है; क्योंकि पदार्थ के ही चित्र लिये जा सकते हैं, विचार के कैसे चित्र लिये जा सकते हैं! चित्र तो पदार्थ के ही लिये जा सकते हैं। जिसका चित्र लिया जा सकता है, वह काफी सब्स्टेनशियल है; वह काफी पदार्थगत है।
और बहुत बार तो बहुत मजे की घटना घटी। जैसे टेड सीरियो कोशिश कर रहा
है ताजमहल बनाने की अपनी आंख में, अचानक वह आंख बंद कर के कहता है कि ठीक है, ताजमहल पकड़ लिया, कैमरे को तैयार कर लो। आंख खोलता है, कैमरे की क्लिक होती है, और टेड सीरियो कहता है कि माफ करो, चूक गये, यह तो हिल्टन होटल आ गयी-विचार बदल गया भीतर। क्षमा कर दो। और मजे की बात यह है कि कैमरा ताजमहल का चित्र नहीं पकड़ता, हिल्टन होटल का पकड़ता है। और कई बार तो ऐसा हुआ कि ताजमहल के ऊपर हिल्टन होटल इम्पो.ज हो गयी; दोनों ही पकड़े गयेत्ताजमहल जाता-जाता था और हिल्टन होटल आती-आती थी।
विचार भी वस्तुगत है, अत्यंत सूक्ष्म है। पर हम उसका भी भोजन कर रहे हैं। और प्रतिपल हम अपने भीतर विचार को ले जा रहे हैं। वह विचार हमारे भीतर एक काया को निर्मित कर रहा है; एक शरीर निर्मित हो रहा है। विचार की ईंटों से बना हुआ वह भवन है। इसलिए कैसा विचार आप अपने भीतर ले जा रहे हैं वैसी आप की मनोकाया होगी।
आदमी बहुत असुरक्षित है इस लिहा.ज से। इस सदी में तो बहुत असुरक्षित है। रेडिया विचार डाल रहा है, अखबार विचार डाल रहे हैं, विज्ञापनदाता विचार रहे हैं-सब तरफ से विचार डाले जा रहे हैं आदमी में; और कई बार आप सोचते हैं कि आप निर्णय कर रहे हैं, आप बड़ी गलती में हैं।
वॉन पेकार्ड ने एक किताब लिखी हैः "द हिडन परसुएडर्स"। आप सोचते हैं... दूकान पर जाकर आप कहते हैं कि मुझे बर्कल सिगरेट चाहिए। आप सोचते हैं, आपने चुनी है तो आप बड़ी गलती में हैं। हिडन परसुएडर्स हैं चारों तरफ। अखबार से आपको कह रहे हैं, बर्कले सिगरेट खरीदो। तख्ती लगी हैं-दूकानों पर, दीवालों पर; नाम लिखा है; फिल्म देखने जाते हैं वहां बर्कले सिगरेट है; रेडियो में सुनते हैं वहां बर्कले सिगरेट है... जहां देखें वहां बर्कले सिगरेट है; वह आपके दिमाग में डाल दी गयी है बात।
अमरीकन विज्ञापनदाता कहते हैं कि जो भी आदमी खरीदता है उसमें नब्बे परसेंट हम खरीदवाते हैं; और दस परसेंट वह जो खरीद रहा है, वह उसकी कला नहीं

है, वह केवल विज्ञापन की कला का अभी पूरा विकास नहीं हुआ; उसमें कुछ आदमी की वह नहीं है... अभी हम पूरा... जैसे-जैसे हम विकास कर लेंगे, हंड्रेड परसेंट-हम जानते हैं कि यह आदमी को हम क्या खरीदवा देंगे; यह क्या खरीदेगा।
इससे बचने की कुछ फिकर करनी.जरूरी है, नहीं तो आप स्वतंत्र नहीं हैं; अगर आपका मन दूसरे निर्मित कर रहे हैं तो आप स्वतंत्र नहीं हैं। आपके मां- बाप आपको धर्म दे देते हैं, आपके गुरु स्कूल में आपको ज्ञान दे देते हैं, फिर अखबार और विज्ञापनदाता और बा.जार के लोग आपको चीजें खरीदने के सुझाव दे देते हैं, फिर इनके आसपास आप जिंदगी भर जीये चले जाते हैं।
अब अमरीका में मोटरें ज्यादा उत्पादित हो रही हैं और खरीदार कम हो गये हैं, क्योंकि सभी के पास गाड़ियां करीब-करीब हो गयी हैं। तो चिंतित थे दुकानदार कि अब क्या करना है! तो पिछले पांच सालों से एक नये विचार को प्रमोशन दिया जा रहा है... और वह यह कि अमीर आदमी वही है जिसके पास दो गाड़ियां है। अब दो गाड़ियां लोग रखना शुरू कर दिये हैं। एक गाड़ी गरीब आदमी का सबूत है। सिर्फ एक ही गाड़ी है आपके पास! वह गरीब आदमी का सबूत है। और एक दफा गरीबी और एक गाड़ी को जोड़ने भर की बात है कि फिर दो गाड़ी के बिना काम नही चल सकता। अमीर आदमी के पास कम से कम दो मकान होने ही चाहिए-एक शहर में, एक बीच पर या पहाड़ पर। गरीब आदमी के पास एक ही मकान होता है। बस, एक बार विचार भीतर पहुंचा देने की.जरूरत है कि फिर आप दीवाने होने शुरू हो जाते हैं... और सोचते हैं सदा आप यह कि यह मैं सोच रहा हूं; यहीं धोखा है।
मनोकाया शब्द-निर्मित है। हम सब जानते हैं, नाम-जप के संबंध में हमने बहुत कुछ सुना है, सबने जाना है, लोगों को करते भी देखते हैं, लेकिन आपको पता नहीं होगाः इट इ.ज सिम्पली ए प्रोटेक्टिव मेथड एंड नथिंग एल्स; नाम-जप जो है, वह एक सुरक्षा का उपाय है। अगर एक व्यक्ति रास्ते पर राम-राम भीतर जपता हुआ गुजरे, तो दूसरे शब्द उसके भीतर प्रवेश नहीं कर पायेंगे; क्योंकि शब्द प्रवेश के लिए अंतराल चाहिए, खाली जगह चाहिए।
एक आदमी चौबीस घंटे अगर भीतर राम-जप करता रहे-बुहारी लगाता हो, भीतर राम-राम चलता हो; खाना खाता हो, भीतर राम-राम चलता हो; दूकान जाता हो, भीतर राम-राम चलता हो; किसी से बात भी करता हो तो भी भीतर राम-राम चलता हो, तो उसने एक प्रोटेक्टिव मेजर खड़ा कर लिया; अब आप हर कुछ उसके भीतर नहीं डाल सकते। अब एक सघन पर्त, उसके भीतर राम की दीवाल खड़ी है। अब इस राम की दीवाल को पार करके आसान नहीं है कि कुछ भी चला जाये। वह आदमी अपनी मनोकाया को एक विशेष रूप और आकृति देने की कोशिश में लगा है।
और यह भी बड़े मजे की बात है कि यह राम की जो दीवाल अगर खड़ी हो जाये, तो इसमें से अगर कभी कुछ प्रवेश भी करेगा तो वह प्रवेश वही चीज कर पायेगी जो राम की धारणा से तालमेल खा सके, अन्यथा नहीं कर पायेगी। एक एफिनिटि (लगाव) चाहिये तो भीतर प्रवेश हो जायेगी। जैसे अगर कोई ऐसे आदमी के पास जोर से कहे, रावण, तो दीवाल से टकराकर शब्द वापस लौट जायेगा; और कोई कहे सीता, तो भीतर प्रवेश कर जायेगा। यह जो पर्त है, यह अब अपने अनुकूल जो है उसे गति दे देगी और प्रतिकूल जो है उसे रोक देगी। और यह व्यक्ति अपने भीतर की मनोकाया का एक अर्थों में मालिक होना शुरू हो जायेगा-जिसको द्वार देना होगा, देगा; जिसको द्वार नहीं देना होगा, नहीं देगा।
और अगर हम अपने मन के भी मालिक नहीं हैं तो फिर हम किस बात के मालिक हो सकते हैं? यह जो मन है, यह हमारा तो करीब-करीब विक्षिप्त है, क्योंकि हम विरोधी चीजों को मन में एकसाथ ले जा रहे हैं-अनंत विरोधी चीजों को! लोग कहते हैं, बड़ा चित्त बेचैन है, विभ्रम में है, कन्फयूज्ड़ है। बड़ी हैरानी की बात है कि वे इसको समझते हैं कि यह, यह कोई बीमारी है जिसको ठीक करना पड़े! यह आपकी साधना है; आप चौबीस घंटे साध रहे हैं इसे; आप समस्त तरह के विरोधी विचारों को भीतर ले जा रहे हैं। एक विचार भीतर डालते हैं, उसका विरोधी भी भीतर डाल लेते हैं; उन दोनों के भीतर बेचैनी है। एक पोलेरिटि है, एक ध्रुवीयता है; वे दोनों एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते हैं और आप संघर्ष में पड़ जाते हैं।

आप संघर्ष में नहीं हैं, आपके भीतर के विचार संघर्ष में हैं। और अनंत विचार हैं भीतर और अनंत विचारों के बीच बड़ा संघर्ष है। कोई पूरब जाना चाहता है, कोई पश्चिम जाना चाहता है, कोई कहीं जाना ही नहीं चाहता; इन सबके भीतर भारी संघर्ष है और आपकी हालत करीब-करीब वैसी है, जैसे किसी बैलगाड़ी में हमने चारों तरफ बैल बांध दिये हों। कभी बैलगाड़ी दो इंच पूरब सरक जाती है, कभी चार इंच पश्चिम सरक जाती है। जब जहां के बैल जरा ताकतवर पड़ जाते हैं, या जब जहां के बैल जरा आलस खा जाते हैं... लेकिन यह कशमकश चलती रहती हैं और बैलगाड़ी कहीं पहुंच नहीं सकती। आखिर में उसके अस्थिपंजर बिखर जायेंगे और कुछ होनेवाला नहीं है। हम सब ऐसी हालत में हैं। एक आंतरिक बिबूचन है, एक आंतरिक विडंबना है।
एक व्यक्ति मेरे पास अभी आये; उन्होंने कहा कि संतोष चाहिए जीवन में... संतोष चाहिए जीवन में, लेकिन मैं किसी पर विश्वास नहीं कर सकता हूं। तो आपके पास आया हूं, विश्वास मेरा आप पर बिल्कुल नहीं है; कोई संतोष का रास्ता बतायें। मैंने उनसे कहा, मैं रास्ता बताऊंगा, लेकिन विश्वास तो उस पर आयेगा नहीं! तो मैंने उनसे कहा, तुम संतोष खोजना छोड़ दो, तुम खोज तो असंतोष रहे हो; क्योंकि जो आदमी कहता है, मुझे किसी पर भरोसा नहीं है, वह संतोष नहीं पा सकता; क्योंकि जिसे गैर-भरोसा रखना है, उसे सदा ही सजग रहना पड़ेगा, डरा हुआ रहना पड़ेगा, भयभीत रहना पड़ेगा-वह सदा खतरे में है, क्योंकि चारों तरफ जो भी हैं, सब पर अविश्वास है, कहीं कोई ट्रस्ट नहीं। अगर ऐसा आदमी ठीक-ठीक विकास करे तो वह मकान के भीतर नहीं बैठ सकता, क्योंकि मकान पता नहीं कब गिर जाये; वह मकान के बाहर खड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि पता नहीं क्या दुर्घटना हो जाये। वैसा आदमी अगर गैर-भरोसे को बढ़ाता चला जाये तो अपना भी भरोसा नहीं कर सकेगा।
मैं एक युनिवर्सिटि के बहुत बुद्धिमान प्रोफेसर को जानता हूं, जिनकी आखिर में हालत यह हो गयी कि वे अपने पर भरोसा नहीं कर सकते थे। तो कमरे में छुरी-कांटा या ऐसी कोई चीज नहीं रख सकते थे रात को, क्योंकि कब उठाकर वे छाती में भोंक लें, इसका उन्हें भरोसा नहीं रहा था। तो या तो रात उनके कमरे में कोई रहे-लेकिन उसका भी उनको भरोसा नहीं आता था-या बाहर... रहे तो कमरे में कोई चीज नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि खुद का भी भरोसा नहीं था। असल में जो किसी का भी भरोसा नहीं करता, एक दिन वह घड़ी आ ही जाती है कि खुद की भी भरोसा नहीं कर सकता। असल में भरोसा ही नहीं कर सकता, असली सवाल यह है... खुद का और दूसरे का नहीं है। फिर संतोष की कोई संभावना नहीं।
संतोष तो उस व्यक्ति को फलित होता है, जो भरोसे की स्थिति बिल्कुल न होने पर भी भरोसा कर सकता है।
एक छोटा सा बच्चा अपने बाप का हाथ पकड़कर जा रहा है। उसके संतोष की कोई सीमा नहीं है, हालांकि पक्का नहीं है कि बाप उसको रास्ते पर नहीं गिरा देगा; कोई पक्का नहीं है कि बाप खुद नहीं गिर जायेगा; कोई पक्का नहीं है, क्योंकि बाप, हो सकता है... खुद ही लड़के का हाथ जोर से इसीलिए पकड़े हो कि सहारा रहे। लेकिन लड़का संतुष्ट है।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन अपने लड़के को... अपने लड़के को एक सीढ़ी
पर चढ़ा दिया है। छोटा लड़का है, आठ-दस साल का होगा। सीढ़ी पर खड़ा करके नीचे हाथ फैलाकर खड़ा हो गया है और उससे कहा, बेटा, कूद जा। उसने कहा कि अगर गिर गया? नसरुद्दीन ने कहा, पागल! मैं तेरा बाप तुझे संभालने को खड़ा हूं, गिरेगा क्यों? उसने कहा, बहुत डर लगता है। नसरुद्दीन ने कहा, जब मैं यहां खड़ा हूं तो डर की.जरूरत क्या है? बहुत लड़के ने झिझक खायी, लेकिन जब बाप नहीं माना तो लड़का कूद पड़ा। नसरुद्दीन छोड़कर जगह हटकर खड़ा हो गया।.जमीन पर गिरा, घुटने टूट गये; उस लड़के ने कहा, ये आपने क्या किया? नसरूद्दीन ने कहा, यह तुझे जिंदगी का पाठ दिया; अपने बाप का भी भरोसा मत करना। इस दुनिया में भरोसा करना ही मत; सिवाय धोखेबाजों के और कोई नहीं है।
इस मनोदशा का अगर भीतर प्रवेश हो, तो संतोष संभव नहीं है।
संतोष किसी व्यवस्था में संभव है; वह एक भरोसे की व्यवस्था है।
असंतोष संदेह की एक व्यवस्था है। अगर दोनों साथ चाहते हैं तो कठिनाई खड़ी हो जाती है।

एक मित्र आये थे, वे कहते हैं कि मुझे मृत्यु का बड़ा भय है और आत्मा में मेरा कोई... जरा भी आस्था नहीं बैठती कि आत्मा है। मैंने उनसे कहा, अगर आत्मा बिल्कुल नहीं है तो मृत्यु के भय की क्या.जरूरत है? आप मरे हुए हैं ही; अब और मरने को बचा क्या? और अगर आत्मा में भरोसा है तो फिर मृत्यु के भी भय की कोई.जरूरत नहीं, क्योंकि वह नहीं मरेगी। आप दो में से कुछ एक तय कर लें। अगर यह बिल्कुल पक्का आपका ख्याल हो गया है कि आत्मा नहीं, तो मृत्यु का भय अब बिल्कुल पागलपन है-जो है ही नहीं वह मरेगा क्या? आप खाली एक जोड़ हो, बिखर जाओगे। और जोड़ बिखरेगा तो दर्द किसको होनेवाला है? किसी को भी नहीं। एक घड़ी को जब हम बिखेरकर रख देते हैं, तो किसको पीड़ा होती है? कुछ नहीं, सिर्फ जोड़ था, बिखर गया। कोई पीछे तो बचता नहीं जिसको पीड़ा हो। पक्का समझ लें कि कुछ नहीं है आत्मा तो फिर तो आपको मृत्यु को कोई कारण ही नहीं है।
उन्होंने कहा-और अगर आत्मा है?
अगर... ! अगर आत्मा है, इसका कोई मतलब नहीं होता। मतलब आप अपने मृत्यु
के भय को कायम ही रखना चाहते हैं। अगर आत्मा है... उनका मतलब यह कि मृत्यु का भय तो है ही। अगर आत्मा न मानने से नहीं रखा जा सकता है भय, तो हम इस तक के लिए राजी हैं कि आत्मा है, लेकिन भय का क्या करें? मैंने उनको कहा, अगर आत्मा है तब तो भय की कोई.जरूरत ही नहीं, क्योंकि आत्मा हो अर्थ ही इतना होता है कि मृत्यु नहीं है।
पर इनकी तकलीफ क्या है? इनकी तकलीफ यह है कि कहीं गहरे में ये बचना भी चाहते हैं, कहीं गहरे में जीना भी चाहते हैं सदा, फिर भरोसा भी नहीं कर पाते कि सदा जीना हो भी सकता है। स्वयं के विरोध में हैं... स्वर है। तो ऐसा व्यक्ति अपने को ही काटता चला जाता है।
मन, एक भ्रमणा हो जाती है क्योंकि हम विरोधी विचारों को इकट्ठा कर लेते हैं। अगर मन की काया को शुद्ध करना है, तो मन की काया को शुद्ध करने का एक ही उपाय है-और वह हैः विचारों में एक तरह का सामंजस्य चाहिये, एक संगीतबद्धता चाहिये, एकस्वरता चाहिये, एक हारमनी चाहिये। तो मन की काया शुद्ध होती है और आदमी भीतर प्रवेश करता है।
चौथा शरीर है विज्ञानमय कोष। तीसरा शरीर निर्मित है विचारों से; चौथा शरीर निर्मित है चेतना से, होश से, बोध से; वह बोध शरीर है। जब हम विचार के जानने में समर्थ हो जाते हैं, जब हम विचार को भी ऐसे देख सकते हैं जैसे कोई आदमी आकाश में सरकती हुई बदलियों को देखे, जब हम विचार को भी ऐसे देख सकते हैं जैसे कोई आकाश में उड़ते हुए बगुलों की कतार को देखे... ऐसे ही अपने चैतन्य के आकाश में विचार को उड़ते देखे, दूर खड़ा हो सके, तो चौथे शरीर का पता चलता है।
लेकिन हम तो पहले शरीर से इस बुरी तरह बंधे हैं कि दूसरे तक का पता नहीं चलता। फिर हम तीसरे शरीर में इस बुरी तरह ग्रसित हैं, हम इस बुरी तरह मन में डूबे हैं... कि मन के पार भी हम हो सकते हैं, इसका हमें पता भी नहीं चलता।
बोधिधर्म गया चीन कोई चौदह सौ वर्ष पहले। चीन के सम्राट वू ने उससे कहा, मेरा मन बड़ा अशांत है... कुछ मार्ग? बोधिधर्म ने कहा, तुम कहते हो, तुम्हारा मन बड़ा अशांत है, क्या तुमने कभी कोई शांत मन भी देखा है? वू हैरान हुआ। उसने कहा, शांत मन तो कभी मैंने नहीं जाना। तो बोधिधर्म ने कहा, तुम अशांत मन क्यों कहते हो? सच तो यह है कि अशांति का नाम मन है। अशांत मन... तुम दोहरे शब्द क्यों प्रयोग कर रहे हो? अशांति का नाम मन है, और तुम मन को शांत करने चले हो? पागल हो जाओगे, कभी मन शांत न होगा। तो वू ने कहा, तो फिर क्या ऐसी अशांति में ही मर जाना होगा? बोधिधर्म ने कहा, नहीं, लेकिन मन के पार हो सकते हो; और मन के पार जो है वह शांत है। मन को शांत नहीं कर पाओगे, लेकिन मन के पार हो जाओ तो जो है वह शांत है; और अगर वह मिल जाये तो मन भी शांत हो जाता है।
असल में मन तिरोहित हो जाता है। जैसे ही चौथा शरीर विकसित होता है, तीसरा शरीर बिखरने लगता है। और जैसे ही चौथा शरीर विकसित हो जाता है, तीसरा शरीर जो है... वह केवल उपयोगिता मात्र रह जाती है उसकी।

चौथे शरीर को विकसित जिसने किया है, वह व्यक्ति विचारों से घिरा नहीं रहता, जब उसे.जरूरत होती है तब विचार का उपयोग कर लेता है-ठीक वैसे, जैसे हमें.जरूरत होती है, हम पैर से चल लेते हैं; आप यह तो नहीं कहते कि हम बैठे रहेंगे कुर्सी पर लेकिन पैर चलाते रहेंगे। कुछ लोग चलाते रहते हैं! कुछ लोग चलाते रहते हैं... वह उसका कारण कुल इतना ही है कि अगर अभी पैर न चलाये तो चलते वक्त क्या करेंगे? अभ्यास जारी रखना चाहिये! या उन्हें पता ही नहीं... जहां तक संभावना तो यह है कि उन्हें पता ही नहीं कि उनके पैर हिल रहे हैं। मालिक ही नहीं है तो पता किसको हो? पैर को हिलना है तो पैर हिलते हैं, सिर को चलना है तो सिर चलता है-जिसको जो करना है, वह कर रहा है; सब गुलाम हैं और मालिक कोई भी नहीं। और कोई किसी की आज्ञा मानने को, सुनने का तैयार भी नहीं है।
ठीक विचार भी जब चौथा शरीर अनुभव में आता है, तो विचार भी केवल उपयोगी
रह जाते हैं-जब.जरूरत होती है, तब आप विचार करते हैं; जब.जरूरत नहीं होती तो नहीं करते। अगर गैर-.जरूरत विचार करते हैं तो आपको चौथे शरीर का पता होना बहुत मुश्किल है। ख्याल में नहीं आयेगा, क्योंकि विचार चलते ही रहेंगे-आप कितना ही कहो, रुको, वे नहीं रुकते। उसका कारण है। आपने कभी ख्याल न किया होगा कि मैं कितनी तो कोशिश करता हूं विचार के लिए... कि रुको, ठहर जाओ, शांत हो जाओ, वे नहीं होते। आपको यह पता नहीं है कि जो यह आप कह रहे हैं, रूको! यह भी एक विचार मात्र है, नहीं तो फौरन रूक जाते। और एक विचार दूसरे विचार को नहीं रोक सकता; वे बराबर ताकत के हैं। बल्कि जब एक विचार कहेगा, रूको, तो दूसरा विचार और तेजी से चलेगा कि तू कौन हमें रोकनेवाला? एक गुलाम दूसरे गुलाम से कहेगा कि रूको! तो दूसरा गुलाम कहेगा, दौड़ेंगे। तुम कौन? मालिक मै हूं! आपकी जो सारी चेष्टा है कि शांत हो जाये विचार, फलां हो जाये, यह सब विचार है। और एक विचार दूसरे विचार को नहीं रोक सकता। असल में जब भी कोई आज्ञा मिलती है वह ऊपर के तल से हो तो ही काम करती है, नहीं तो नहीं करती। जब विज्ञानमय शरीर से आज्ञा आती है-रूको, तो कोई विचार की हैसियत नहीं कि इंच भर सरक जाये। वह वहीं ठहर जाता है; लेकिन आज्ञा सदा ऊपर से माननी पड़ती है, समतल आज्ञा नहीं हो सकती।
यह चौथा शरीर है। इसको थोड़ा विकसित करें तो ख्याल में आयेगा। और तब,
तब ऐसा परेशान नहीं होना पड़ता कि विचार, रूको! यह कोई सवाल ही नहीं है। यह ठीक ऐसी घटना घट जाती है कि समझो अब मालिक लौट आया, सब गुलाम जल्दी से पैरों में पड़कर नमस्कार कर लेते हैं-अपनी-अपनी जगह खड़े हो जाते हैं कि आज्ञा! ये सब अभी कह रहे थे कि मैं मालिक हूं! मलिक वापिस आ गया; ये सब हाथ जोड़कर खड़े हैं कि आज्ञा।
ठीक विज्ञानमय कोष विकसित होते ही विचार ऐसे ही गुलाम की तरह खड़े हो जाते हैं-.जरूरत हो तो उपयोग कर लें अन्यथा उनको टाल दें अलग; स्मृति के संग्रह में वे पड़े रहते हैं, लेकिन आपको पागल नहीं बनाये रखते चौबीस घंटे... कि रात को आप कह रहे हैं कि क्षमा करो, थोड़ा सो जाने दो, मत चलो, मगर वे आपकी सुन ही नहीं रहे। आप हैं ही नहीं जिसकी सुनी जा सके; आप उसी दिन होते हैं जिस दिन विज्ञानमय कोष की झलक आपको मिलनी शुरू होती है।
मन को पार करें अगर तो मन को रोकें मत-रोक नहीं सकते, लेकिन मन को हारमोनियस कर सकते हैं, संगीतबद्ध कर सकते हैं। क्योंकि मन खुद भी परेशान है। वह आपके हाथ में है; मन को स्वस्थ कर सकते हैं। लेकिन जैसे ही मन स्वस्थ हो जाये, पीछे की पर्त दिखाई पड़नी शुरू हो जाती है-या फिर पीछे की पर्त को जन्माने की कोशिश करें। इसलिए यह मन से यह मत कहें कि विचार बंद करो... कुछ करें, जिससे विचार बंद हो जाते हों।
ध्यान चौथे शरीर को जगाने का उपाय है-क्योंकि ध्यान चैतन्य को बढ़ाता है; ध्यान विज्ञान को बढ़ाता है; ध्यान बोध को जगाता है। तो ध्यान चौथे शरीर को बढ़ाने की व्यवस्था है।
मैंने आपसे कहा... चौथा शरीर है विज्ञानमय; ध्यान उसका भोजन है। विचार तीसरे शरीर का भोजन है, ध्यान चौथे शरीर को भोजन है।
ध्यान भी ऊर्जा है; ध्यान भी शक्ति है; और ध्यान वैसी ही शक्ति है जैसी कोई भी शक्ति... अति सूक्ष्म। इसे कभी थोड़ा प्रयोग करके देखें तो ख्याल में

आये। कभी अपनी नाड़ी को नाप लें; जांच लें, कितनी चल रही है। फिर पांच मिनट आंख बंद करके नाड़ी पर ध्यान करें-सिर्फ ध्यान करें; जस्ट बी अवेयर-और फिर नापें। आप पायेंगे, नाड़ी में फर्क पड़ गया? नाड़ी वही नहीं चल रही जैसे पहले चल रही थी। ध्यान ने क्या किया? ध्यान की ऊर्जा नाड़ी की तरफ प्रवाहित हो गयी, नाड़ी की गति बढ़ गयी। ध्यान एक ऊर्जा है।
कभी रास्ते पर कोई आदमी जा रहा हो, उसके पीछे चलते-चलते, उसके माथे के पीछे सिर पर, गले पर दोनों आंखें गड़ा लें-और सिर्फ ध्यान करें, कुछ न करें- उसके पीछे की गले की हड्डी पर ध्यान भर करते रहें। एकाध दो सेकेंड में आप पायेंगे, वह आदमी बेचैन होने लगा। सौ में नब्बे मौकों पर वह आदमी दो मिनट के भीतर लौटकर देखेगा, क्या बात है? आपने कुछ किया नहीं, लेकिन सिर्फ ध्यान... और एक बहुत सूक्ष्म ऊर्जा आपके शरीर से उस आदमी को छूने लगी। बहुत सूक्ष्मतम ऊर्जा है ध्यान। और अभी उनको रूस में फिक्र करनी पड़ रहीं है ध्यान की, क्योंकि जैसे-जैसे अंतरिक्ष की यात्रा है, वैसे-वैसे ध्यान पर ध्यान देना पड़ेगा-वैज्ञानिक कारणों से उन्हें; क्योंकि यंत्र भरोसे के नहीं हैं।
अभी अंतरिक्ष यात्री मरे। यंत्र भरोसे के नहीं हैं। रेडियो-संयंत्र अगर असफल हो गया, तो उनसे हम तक कोई खबर नहीं आ सकेगी; हम भी उन्हें कोई खबर नहीं दे सकेंगे। और अगर उनका अंतरिक्ष यान खो गया अनंत में तो हमें यह भी पता नहीं लगेगा कि वह कहां गया; वे अब जीवित हैं कि नहीं है, उनके बाबत हम कुछ भी न कह सकेंगे।
अमरीका की एक इंश्योरेंस कंपनी ने.जाहिरात की है कि हम अंतरिक्ष यात्रियों का बीमा तो करेंगे, लेकिन बीमा चुकायेंगे तभी जब पक्की खबर मिल जाये कि वे मर गये। नहीं तो ऐसा वे कहीं भी खो जायें और जिंदा हों! डेफिनिट प्रूफ चाहिये कि वे मर गये, तो हम चुकायेंगे। लेकिन अगर अंतरिक्ष यान खो जाये और रेडियो-संयंत्र काम न करे तो यात्री जिंदा रहें, या न रहें, या कहां जाये, या क्या हुआ, या क्या नहीं हुआ, हमारे पास कोई खबर न होगी।
तो यंत्र के साथ-साथ कोई और चीज संयुक्त हो-ए.ज ए सब्स्टिट्यूट मे.जर, उसके लिए रूस बहुत.जोर से ध्यान पर काम करता है-और यह कोशिश की जा रही है, और इसमें थोड़ी दूर तक सफलता मिली है कि जब रेडियो-संयंत्र काम न करे तो एक अंतरिक्ष यात्री तो ध्यान में निष्णात चाहिए जो केवल ध्यान की ऊर्जा से संदेश पहुंचा सके। और इसमें काफी दूर तक सफलता मिली है, ध्यान की ऊर्जा से संदेश पहुंचाये जा सकते हैं। और बड़े आश्चर्य की बात यह है कि अगर पहुंचाये जा सकते हैं तो वे सौ प्रतिशत पहुंचाये जा सकते हैं, फिर भूलचूक नहीं होगी; नहीं पहुंचाये जो सकते तो नहीं पहुंचाये जा सकते।
ध्यान भी एक ऊर्जा है; सूक्ष्मतम शायद। फिजिसिस्ट भी अनुभव करते हैं
कि ध्यान ऊर्जा होनी चाहिये। शरीरशास्त्री ही नहीं, मनसशास्त्री ही नहीं, भौतिकशास्त्र के ज्ञाता भी अब अनुभव करते हैं कि ध्यान.जरूर ऊर्जा होनी चाहिये; क्योंकि यह ख्याल धीरे-धीरे साफ हो गया है कि अगर हम किसी वस्तु को ध्यान से देखते हैं तो देखने के कारण ही उस वस्तु में रूपांतरण हो जाते हैं-वस्तु में भी!
अगर हम एटम का निरीक्षण करें, तो निरीक्षण करने के बाद एटम जो व्यवहार करता है, वह व्यवहार वही नहीं होता जो गैर-निरीक्षण की हालत में करता है; ऑब.जरवेशन, निरीक्षण कुछ फर्क लाता है। ठीक वैसे ही, जैसे एक आदमी रास्ते पर अकेला चला जा रहा है, तो उसकी चाल और होती; अचानक उसी रास्ते पर एक आदमी और निकल आया, तो उसकी चाल और हो जाती है-चाहे कितना ही सूक्ष्म फर्क पड़ता हो, लेकिन फौरन पड़ जाता है। आप अपने बाथरूम में स्नान कर रहे हैं तब आपकी हालत और होती है। अचानक आपको पता चला कि "की होल" में से कोई झांक रहा है... क्या, हो क्या गया?
लेकिन आदमी में हो, समझ मैं आता है; लेकिन अब वैज्ञानिक कहते हैं, वस्तु में भी अंतर पड़ता हैः वस्तु भी थोड़ी भिन्न हो जाती है। डी. लॉ. बार प्रयोगशाला में, ऑक्सफर्ड में, फूलों पर ध्यान के प्रयोग किये गये हैं। और कोई प्रेमपूर्ण रूप से फूल पर ध्यान करता है, और दूसरा फूल... ठीक वैसा ही फूल बिना ध्यान के छोड़ दिया जाता है, कोई उस पर ध्यान नहीं करता-उसको पानी

दिया जाता है, धूप दी जाती है... सब पूरी एक सी व्यवस्था; लेकिन जिस फूल पर ध्यान किया जाता है वह बड़ा हो जाता है; और जिस फूल पर ध्यान नहीं किया जाता वह छोटा रह जाता है।
जिस बीज पर ध्यान करके बोया जाये, वह जल्दी अंकुरित हो जाता है; जिस
पर ध्यान करके न बोया जाये वह देर से अंकुरित होता है। क्या बीज में कोई अंतर पड़ता है? क्या फूल भी कुछ ध्यान की ऊर्जा से प्रभावित होता है? कोई ऊर्जा जाती-आती नहीं मालूम पड़ती, लेकिन कहीं कुछ ऊर्जा.जरूर काम करती है। यह ध्यान भोजन है चौथे शरीर का। तो हम जो ध्यान कर रहे हैं, वह भी इस चौथे शरीर को जगाने की चेष्टा है।
इन चारों कोषों के पार पांचवीं देह है, उसे ऋषियों ने कहा है, "आनंदमय कोष"ः ब्लिस बॉडी।
जब कोई विज्ञानमय कोष में खड़ा होता है और विज्ञानमय कोष को शुद्ध कर लेता है, ध्यान से भरपूर कर देता है, तो सबसे परदर्शी शरीर पैदा होता है। स्थूल शरीर इतना पारदर्शी कभी नहीं हो सकता, क्योंकि द वेरी मैटर, वह जिस चीज से बना है, उसको कितना ही रगड़ो, कितना ही रगड़ो, तो भी वह पूरी पारदर्शी नहीं हो पाती; उसका स्वभाव है। प्राण-ऊर्जा उससे ज्यादा पारदर्शी हो पाती है, लेकिन फिर भी पूरी पारदर्शी नहीं हो पाती। मन और ज्यादा पारदर्शी हो पाता है, लेकिन फिर भी पूरा पारदर्शी नहीं हो पाता। सर्वाधिक पारदर्शी होती है विज्ञान-काया... एकदम पारदर्शी हो जाती है-कहना चाहियेः इतनी पारदर्शी हो जाती है कि आप आप आर पार देख ही नहीं सकते, आर पार जा सकते हैं! इतनी पारदर्शी हो जाती है कि उसका कोई रेसिस्टेन्स नहीं होता; फिर उसका कोई प्रतिरोध नहीं होता।
शुद्धतम ऊर्जा है ध्यान... द मोस्ट प्युरिफाईड इनर्जी पॉसिबल। उसमें
से आप पार गुजर जाएं तो कहीं कोई धक्का नहीं लगता, कहीं कोई चोट नहीं होती... कहीं कोई पता ही नहीं चलेगा। अगर आप शुद्धतम विज्ञान ऊर्जा में खड़े हैं, तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि चौथा शरीर है भी। इसलिए मजे की बात घटती है और वह यह... कि जैसे ही कोई विज्ञान काया में खड़ा होता है, उसे विज्ञानकाया का पता नहीं चलता, उसे आनंदकाया का पता चलता है।
इसे ठीक से समझ लें। क्योंकि चौथा शरीर इतना शुद्धतम शरीर है कि उसमें वह दिखाई ही नहीं पड़ता कि चौथा भी है। जैसे कांच अगर बिल्कुल शुद्ध हो तो दिखाई नहीं पड़ेगा। अगर दिखाई पड़ता है तो उसका मतलब थोड़ा अशुद्ध है। अगर कांच दिखाई पड़ता है तो उसका मतलब ही है कि थोड़ा अशुद्ध है। अगर बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता, तो ही शुध्द है। लेकिन कांच फिर भी पदार्थ है... दिखाई भले ही न पड़े, आंख के लिए बाधा न हो, लेकिन अगर आप जायेंगे तो टक्कर खायेंगे।
लेकिन विज्ञान ऊर्जा शुद्धतम ऊर्जा है-अब तक जानी गयी, अब तक पहचानी गयी। विज्ञान से या योग से जो सबसे ज्यादा सूक्ष्म शक्ति उपलब्ध हो सकी है, वह ध्यान है, विज्ञान है। इसलिए जैसे ही कोई आदमी परिपूर्ण जागरूक हो जाता है तो उसे यह पता नहीं चलता कि मैं जागरूक हूं, उसे यह पता चलता है कि मैं आनंद से भर गया हूं; वह जो पीछे की देह है आनंदकाया, वही झलकती है, वही दिखाई पड़ती है।
यह पांचवीं आनंदकाया है, लेकिन इसे भी ऋषि काया ही कहते हैं; इसे भी आत्मा नहीं कहते, यह भी काया है। ऋषि कहते हैं, आनंद भी काया है।
इस संबंध में दोत्तीन बातें ख्याल में ले लें तभी समझ में आ सके। एक-जैसा मैंने आपसे कहा, चौथी काया शुद्धतम है; लेकिन चौथी काया अशुद्ध हो सकती है-शुद्धतम है; अशुद्ध हो सकती है। अशुद्ध है, जैसी हमारे पास है, बिल्कुल अशुद्ध है। ध्यान से शुद्ध होती है, प्रमाद से अशुद्ध होती है; ध्यान से शुद्ध होती है, होश से शुद्ध होती है, बेहोशी से अशुद्ध होती है। इसलिए जितने इन्टॉक्सिकेंट्स हैं, वे मूलतः विज्ञान काया को नुकसान पहुंचाते हैं; और किसी काया को पहुंचाते हैं वह बिल्कुल दूसरी बात है। और यह भी हो सकता है, दूसरी काया को लाभ भी पहुंचा सकें, लेकिन विज्ञान काया को नुकसान ही पहुंचाते हैं। हो सकता है शरीर को लाभ भी पहुंचा सके अलकोहल। एक मात्रा में लाभ पहुंच सकती है। और यह भी हो सकता है-और होता है कि

अलकोहल लेने पर आपकी प्राण ऊर्जा जो है, बहुत त्वरा से प्रगट होती है। इसलिए अक्सर जो रस का अनुभव होता है कि कोई ताकत दौड़ गयी, वह अनुभव आपको प्राण-ऊर्जा में होता है।
विचार को भी लाभ पहुंचा सकती है किसी अर्थ में। इसलिए जो लोग विचार से
ही जीते हैं-कवि हैं, लेखक हैं, चित्रकार हैं, मूर्तिकार हैं, जो विचार को ही आकृति देकर जीते हैं, अक्सर शराब उन्हें हितकर मालूम पड़ती है। एक मात्रा में लाभ शायद पहुंचा सकती है। लेकिन चौथे शरीर को निश्चित रूप से हानि पहुंचाती है; किसी हालत में लाभ नहीं पहुंचाती; क्योंकि चौथे शरीर के लिये मूर्च्छा ही अशुद्धि है, और होश ही शुद्धि है। किसी भी भांति की मूर्च्छा नुकसान पहुंचाती है। चौथा शरीर शुद्धतम हो सकता है, लेकिन अशुद्ध भी हो सकता है; वे उसकी दोनों संभावनाएं हैं।
पांचवें शरीर की एक खूबी है कि वह शुद्धतम ही है। वह अशुद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए आनंद के विपरीत हमारे पास कोई भी शब्द नहीं है। सुख के विपरीत दुख है, शांति के विपरीत अशांति है, प्रेम के विपरीत घृणा है, चैतन्य के विपरीत मूर्च्छा है; लेकिन आनंद के विपरीत हमारे पास कोई भी शब्द नहीं है। आनंद अकेला शब्द है जिसका विपरीत शब्द हमारे पास नहीं है। और अगर कोई कहे निरानंद, तो वह केवल अभाव का सूचक है, विपरीत का सूचक नहीं है। निरानंद कोई स्थिति नहीं है, आनंद का अभाव है। निरानंद का कोई रूप नहीं है; निरानंद का कोई स्थान नहीं है, अस्तित्व नहीं है।
आनंद के विपरीत कोई ऊर्जा नहीं है। इसलिए पांचवां जो शरीर है वह शुद्ध ही है। और इसलिए पांचवां शरीर के साथ कुछ भी करने की.जरूरत नहीं, चौथे के साथ कुछ किया कि पांचवां उपलब्ध हो जाता है। पांचवां सदा मौजूद है। और इसलिए प्रत्येक आदमी को ऐसा लगता है कि आनंद हमारा जन्मसिद्ध अधिकर है, आनंद मिलना ही चाहिये इसलिए हम आनंद को खोजते हैं। कोई नहीं पूछता कि क्यों खोजते हो आनंद को? आनंद की क्या.जरूरत है? किसलिये खोजते हो? और सब खोज पूछी जा सकती है, किसलिये? आनंद भर एक खोज है, जिसके लिये "किसलिये" पूछना बिल्कुल व्यर्थ मालूम पड़ता है।
अगर आप मेरे पास आते हैं, तो लोग मुझसे पूछते हैं आकर, ईश्वर को किसलिये खोजें? सत्य को किसलिये खोजें? जीवन का उद्देश क्या है? लेकिन कोई मुझसे आकर नहीं पूछता, आनंद को किसलिये खोजें? आनंद का उद्देश क्या है? आनंद स्वीकृत है। इसलिए अगर ईश्वर को भी खोजना है तो आदमी आनंद के लिये ही खोजता है और किसीलिए नहीं; सत्य को भी खोजना है तो आनंद के लिये ही खोजता है। अगर आपको पक्का भरोसा दिला दिया जाये कि सत्य पाकर आनंद बिल्कुल न मिलेगा, परम दुख में डूब जायेंगे, तो आप सत्य को खोजना फौरन बंद कर देंगे कि ऐसी खोज से क्या लेना-देना!
नीत्से ने सवाल उठाया है। और नीत्से कभी-कभी बहुत गहरे सवाल उठाता है, जिनके जवाब देने में किसी बुद्ध को भी अड़चन पड़ जाये। नीत्से कहता है कि अगर आनंद ही जीवन का लक्ष्य है, और असत्य से आनंद मिलता हो तो असत्य में बुराई क्या है? अगर आनंद ही जीवन का लक्ष्य है, और अगर स्वप्न में ही आनंद मिलता हो, तो सत्य की खोज की.जरूरत क्या है? अगर आनंद ही जीवन का लक्ष्य है तो छोड़ो ब्रह्म को। अगर माया में ही आनंद मिलता है तो चिंता क्या है। एक बात तय कर लो कि अगर आनंद ही जीवन का लक्ष्य है...
डरता है नीतिशास्त्री, धर्मशास्त्री नीत्से को उत्तर देने में कि क्या उत्तर दे? और नीत्से कहता है, क्या तुम्हें पक्का भरोसा है कि सत्य दुख न लायेगा? कैसे तुमने निश्चय किया है कि सत्य दुख न लायेगा? क्योंकि नीत्से कहता है, अनुभव तो यह है कि सत्य बड़ा कड़वा होता है और बड़ा दुख देता है। क्या तुमने पक्का ही कर लिया है कि कल्पना दुख ही लाती है? अनुभव तो यह है कि कल्पना बड़ी सुखद हो जाती है। और क्यों पीछे पड़े हो लोगों के कि उनके सपने तोड़ो? क्योंकि सपने सुखद भी और सुंदर भी तो होते हैं। हां, दुखद स्वप्न भी होते हैं, नाईट मेयर भी होते हैं। इतना ही करो कि दुखद स्वप्नों से छुटकारा हो जाये और सुखद स्वप्न शाश्वत हो जायें, कभी न टूटें तो फिर और क्या खोज की.जरूरत है?

धर्मशास्त्री को कठिनाई पड़ती है-धर्मशास्त्री को, धर्मज्ञ को नहीं; क्योंकि धर्मज्ञ यह कहता है कि सपना है ही वही जिसे शाश्वत नहीं किया जा सकता। धर्मज्ञ कहता ही यही है कि जिसमें तुम्हें सुख मिलता है वह मिलता ही इसीलिए है कि उसमें दुख भी मिलता है, नहीं तो सुख नहीं मिलेगा। धर्मज्ञ कहता है कि असत्य में भी अगर तुम्हें कभी सुख मिलता है तो वह इसीलिए मिलता है कि असत्य सत्य होने का धोखा देता है; नहीं तो नहीं मिलता। अगर असत्य में भी कभी सुख मिलने की झलक आती है तो वह केवल इस वजह से आती है कि असत्य भी सत्य होने का दावा करता है। इसलिए कोई असत्यवादी असत्यवादी होने का दावा नहीं करता, दावा सदा सत्यवादी होने की ही करता है। सच तो यह है कि असत्यवादी ही सत्यवादी होने का दावा करता है, सत्यवादी को दावे की कोई .जरूरत नहीं होती।
असत्य को भी चलना है तो सत्य के पैर उधार लेने पड़ते हैं। स्वप्न को भी जीना है तो स्वप्न को भी भ्रम देना पड़ता है कि स्वप्न नहीं हूं मैं, मैं ही सत्य हूं; तो ही जी सकता है।
आनंद सुख नहीं है, क्योंकि सुख के साथ दुख अनिवार्य बंधा है। आनंद स्वप्न नहीं है, क्योंकि स्वप्न के साथ स्वप्नभंग अनिवार्य है। और जो आनंद भंग हो जाये, वह आनंद नहीं है क्योंकि आनंद के विपरीत कुछ भी नहीं है, जो आनंद को भंग कर सके। आनंद जो है, अद्वैत, अकेला है। और आनंद की खोज इसलिए है कि वह हमारी परम देह है-फिर भी देह है; यही खूबी है।
ऋषियों की खोज इतनी सूक्ष्म है कि जिसका कोई हिसाब नहीं! इस आनंद को
भी वे कहते हैंः यह भी देह है... क्यों? क्योंकि वे कहते हैं, जब तक तुम्हें यह भी पता चलता है कि आनंद है तब तक तुम अभी उसको नहीं पाये जो पाने योग्य है; क्योंकि जब तक पता चलता है तब तक द्वैत मौजूद है। अभी पता चलनेवाला अलग है और जो पता चल रहा है...
आप कहते हैं, बड़ा आनंद आ रहा है, तो दो बातें साफ हैं कि कोई है जिसे आ रहा है, और कुछ है जो आ रहा है। तो यह आनंद भी आपके आसपास का एक घेरा है और इसके केंद्र में अभी भी कोई खड़ा है जिसे पता चलता है कि आनंद आ रहा है। जैसे ही यह जागरण भी आ जाये... और यह जागरण पहले जागरण से बहुत सूक्ष्म
और बहुत कठिन है। हमने कहा, विज्ञानमय शरीर में ध्यान भोजन है; होश आ जाये तो मन से छुटकारा हो जाये। अगर आनंदमय शरीर का भी होश आ जाये तो आनंद से भी अतिक्रमण हो जाता है... और तब व्यक्ति उसे पा लेता है जो वह है। वह फिर देह नहीं है, वह आत्मा है।
लेकिन मन के प्रति जागना बहुत आसान है-मैंने कहा, बहुत कठिन है, लेकिन
इस तुलना में बहुत आसान है। लेकिन आनंद के प्रति जागने में एक भीतरी कठिनाई है कि आनंद से हम जागना ही नहीं चाहते... इंट्रिन्सिक डिफिकल्टी- आनंद से हम जागना ही नहीं चाहते। आनंद से कौन जागना चाहेगा? आनंद की ही तो तलाश थी जीवनभर; जन्मों-जन्मों तक। उसे कौन छोड़ना चाहेगा? एक लोहे की जंजीर है, आदमी छोड़ना चाहता है; एक सोने की जंजीर है, छोड़ने में भी मन नहीं होता कि छोड़ें। जंजीर ही नहीं मालूम पड़ती, आभूषण मालूम पड़ता है; हीरे- जवाहरात लगे हैं। लेकिन ऋषि कहते हैं, वह भी जंजीर है। और ध्यान रहे, लोहे की जंजीर उतनी बड़ी जंजीर नहीं, जितनी बड़ी जंजीर हीरे-जवाहरात लगी हुई सोने की जंजीर हो जाती है; क्योंकि अब कैदी खुद भी नहीं छोड़ना चाहता। यह उसके जंजीर होने में गहरा... और गहरायी हो जाती है।
आनंदकाया आखिरी बात है। इसलिए बुद्ध से जब लोग पूछते हैं कि निवार्ण में क्या होगा? आनंद तो बचेगा न? बुद्ध कहते हैं, तुम्हीं न बचोगे तो आनंद कैसे बचेगा? न तुम बचोगे, न आनंद बचेगा।
यह बहुत मजे की बात हैः आनंद को जानने के लिये द्वैत चाहिये-भीतर कोई,
और आनंद अनुभव में आये। सब अनुभव बाहरी हैं-सब अनुभव! द एक्सपीरियंसर, वह जो अनुभोक्ता है, वह भीतर है। लेकिन जब आनंद भी नहीं रह जायेगा तो क्या उसको हम अनुभोक्ता कहेंगे? जब अनुभव ही न बचा तो उसे अनुभोक्ता कहने में क्या सार है! इसलिए बुद्ध कहते हैं, दोनों खो जायेंगे-होगा कुछ लेकिन तुम न होओगे; होगा कुछ लेकिन आनंद भी न होगा।

अगर आनंदकाया शेष रह जाये, तो व्यक्ति पैदा होता है परम मस्ती में, लेकिन पैदा होता है; जीवन का अंत नहीं आता।... पैदा होता है, परम मस्ती में पैदा होता है। जीवन उसका नृत्य होता है; जीवन उसका आनंद ही आनंद होता है, लेकिन फिर भी जीवन होता है।
आनंदकाया टूटे तो ही निर्वाण है।
तो आनंद के प्रति कैसे जागें? अभी तो हमें आनंद का कोई पता ही नहीं है। जिसका पता ही नहीं है उसे छोड़ने की बात समझनी बहुत मुश्किल पड़ेगी। जो मिला ही नहीं उसे छोड़ें कैसे? यह किसी भिखारी को कहना है कि तू, तू सिंहासन छोड़ दे-बिल्कुल त्याग कर दे; बड़ा अच्छा होगा। तो भिखारी कहेगा, लेकिन वह सिंहासन कहां है जिसे मैं छोड़ दूं? और छोड़ने की बात पीछे कर लेंगे, पहले उसका जरा पता मुझे बता दें, वह है कहां? पहले मैं उस पर हो तो जाऊं। उस पर बैठ तो जाऊं।
लेकिन यह पहले ही छोड़ने की बात एक अर्थ में उपयोगी है, क्योंकि यह ख्याल बना रहे, पाने के पहले ही कि उसे भी छोड़ देना है, तो शायद सिंहासन निद्रा, सम्मोहन न बन पाये; शायद यह ख्याल बना रहे, इसे भी छोड़ देना है। सूफी फकीर हुआ है बाय.जीद। वह अपने शिष्यों को कहता था, एक मंत्र सदा याद रखनाः जो भी अनुभव तुम्हें हो, ख्याल रखना, इसे भी छोड़ देना है... जो भी! तो बाय.जीद के एक शिष्य हसन ने बाय.जीद से पूछा, अगर परमात्मा का अनुभव हो? तो बाय.जीद ने कहा, उसे भी... तुम स्मरण रखना कि छोड़ देना है। तुम उस समय तक छोड़ते ही चले जाना जब तक कि छोड़ने को कुछ भी बचे; वहीं रुकना जहां छोड़ने को कुछ न बचे; क्योंकि मैं तुमसे कहता हूं, वहीं परमात्मा है जहां छोड़ने को कुछ भी न बचे। उसके पहले सब परमात्मा वगैरह तुम्हारे ही बनाये हुए होंगे; तुम उनको छोड़ते चले जाना।
जब तक अनुभव है तब तक संसार है। कैसा भी अनुभव, सूक्ष्मतम अनुभव संसार है। आनंद का अनुभव भी संसार है।
इसलिए ऋषि ने बहुत अद्भुत वचन उपयोग किये हैं। और कभी-कभी बहुत चकित
हो जाता है मनः इतने हिम्मतवर लोग रहे होंगे। और इन हिम्मतवर लोगों ने ऐसी क्रांतिकारी बातें कहीं, और इनके आसपास अद्भुत घटना घटी कि बड़े गैरक्रांतिकारी लोग इकट्ठे हो गये। और ऐसा लगता है कि वे समझ भी नहीं पाते होंगे। इसने कहा हैः
"इन चार कोषों के साथ आत्मा बरगद के बीज में वृक्ष की तरह अपने कारणस्वरूप अज्ञान में रहती है।"-"कारणस्वरूप अज्ञान"। और उस कारणस्वरूप अज्ञान को आनंदमय कोष कहते हैं। द बेसिक इग्नोरेंस कहा है इसको। जैसे कि बरगद का वृक्ष बीज में छिपा हो, और जब तक बीज न टूटे तब तक बरगद का वृक्ष पैदा न हो, ऐसे ही आत्मा के पास जो सबसे पहली पर्त है, सबसे गहरी, और आत्मा के सबसे निकट, वह पर्त है आनंदमय कोष की। लेकिन अद्भुत लोग हैं। वे कहते हैं, "अपने कारण स्वरूप अज्ञान में रहती है, उसे आनंदमय कोष कहते हैं।"
वह जो आनंदमय कोष है, वह आत्मा की खोल है-जैसे बीज और जब तक आनंद न टूटे, तब तक वह उपलब्ध नहीं होती; क्योंकि जब तक बीज न टूटे, तब तक कहां है वृक्ष?
तो जिन्होंने समझा है ऐसा सदा कि भारत के मनीषी आनंद की ही तलाश कर रहे हैं, उन्होंने बड़ा गलत समझा है। भारत के मनीषी उस स्थिति की तलाश कर रहे हैं, जहां आनंद भी दो कौड़ी की तरह फेंक दिया जाता है; उस अवस्था की खोज है जहां आनंद भी गैर.जरूरी हो जाता है। जब तक आनंद भी.जरूरी है तब तक आप... जब तक आनंद भी आकांक्षा है, और जब तक आनंद भी रस देता है, तब तक दरिद्रता जारी है। सम्राट तो वही है, जो आनंद को भी ऐसे छोड़ देता है जैसे बीज अपनी खोल को छोड़ देता है।
ये पांच कोष हैं।
पांचवें में खड़े हो जाना ही अतिक्रमण है; क्योंकि पांचवें पर जैसे ही
आप खड़े हो गये, वैसे ही आप परमात्मा के इतने निकट हैं कि आप खींच लिये जाते हैं। नहीं, कुछ करना नहीं होता-ठीक ऐसे ही होता है जैसे पानी में एक भंवर पड़ रहा है, और आपने एक फूल पानी में तैरा दिया, वह तैरता रह सकता है, लेकिन

भवंर के पास पहुंचा... पास पहुंचा... पास पहुंचा, और भंवर की पहली परिधि उसने छुई कि खींच लिया गया-गया भीतर और डूब गया।
पांचवें शरीर तक पहुंचने में मनुष्य का प्रयास .जरूरी है, पांचवें के पार होने में प्रयास की कोई.जरूरत नहीं है। और इसलिए जिसने पांच के प्रयास करते वक्त भी स्मरण रखा कि प्रभु की अनुकंपा, और उसकी दया, और उसकी कृपा, और उसकी करुणा ही खींच लेगी, वह जब पांचवें पर पहुंचेगा यह तब यह बात काम करेगी। लेकिन अगर कोई आदमी इन पांच की कोशिश में यह भूल कर चला कि मैं ही कर लूंगा, मैं ही कर लूंगा, मैं ही कर लूंगा, तो एक तो पांचवें तक पहुंचना मुश्किल; और यह भी हो सकता है कि वह पांचवें पर खड़े होकर इस अकड़ में खड़ा रहे, क्योंकि वह कहे कि मैंने ही किया है तो मैं पांचवें को भी छलांग लगा लूंगा; जब मैं इतने तक चला आया, तो क्या.जरूरत है प्रभु की अनुकंपा की? तो हो सकता है कि वह बिल्कुल किनारे पर ही खड़ा रहे और ग्रेविटेशन काम न कर पाये... वह, कशिश काम नह कर पाये; क्योंकि उस कशिश के काम करने के लिये आपकी ग्राहकता अनिवार्य अंग है-आप तैयार होने चाहिये खींचे जाने को, तो ही वह कशिश काम कर पाती है।
इसलिए उसको हमने कशिश नहीं कहा, प्रसाद कहा। उसके कारण हैं। क्योंकि कशिश बिल्कुल यांत्रिक बात है, आकर्षण बिल्कुल यांत्रिक बात है। चुंबक तैयार न भी हो तो बड़ा चुंबक उसे खींच लेगा। यह कोई उसकी तैयारी की.जरूरत नहीं है। और पत्थर न भी गिरना चाहता हो, नीचे आप फेंके, तो भी जमीन खींच लेगी। प्रसाद हमने इसीलिए कहा कि यह यांत्रिक घटना नहीं है। इस प्रसाद को लेने की तैयारी भी चाहिये... हाथ फैले हुए चाहिये... तो यह प्रसाद उपलब्ध हो सकता है।
प्रसाद का बोध ही कुंजी है पांचवें शरीर के बाहर जाने की; अशरीर में जाने की।
आज इतना ही।

अब हम कोशिश करें पांच तक पहंचने की। और प्रभु की कृपा को ख्याल रखें।
हो सकता हैः कशिश के घेरे के भीतर पड़ जायें और खींच लिये जायें।
जो लोग तेजी से करनेवाले हैं वे ऊपर आ जायें, जिन्हें थोड़ा आहिस्ता करना हो वे नीचे किनारों पर खड़े हो जायें। ऊपर कोई भी सुस्त आदमी न खड़ा रहे। थोड़ा भी धीमा करना हो तो नीचे के किनारों पर खड़े हो जायें।

सर्वसार उपनिषद
आठवां प्रवचन

सुख-दुख का स्वरूप

सुखदुःख बुद्धयाश्रयोऽन्तः कर्ता यदा
तदा इष्ट विषये बुद्धिः सुखबुद्धिः
अनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः।
शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः सुखदुःखहेतवः।
पुण्यपापकर्मानुसारी
भूत्वा प्राप्त शरीरसंयोगमप्राप्त-
शरीरसंयोगमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते
तदोपहितजीव इत्युच्यते।। 6।।

सुख-दुख की दृष्टि से अंतर में रुचिकर वस्तु की जो इच्छा है यह सुख-बुद्धि है और अरुचिकर वस्तु की कल्पना दुख-बुद्धि है।
सुख को प्राप्त करने और दुख को त्यागने के लिए जीव जो क्रियाएं करता है, उन्हीं के कारण उसे कर्ता कहा जाता है।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध--ये पांच विषय सुख-दुख के कारण हैं।
पुण्य और पाप कर्मों का अनुसरण करने वाला आत्मा, प्राप्त हुए शरीर के संयोग को अप्राप्त होते हुए भी स्वयं की तरह समझने लगता है, तब उसे उपाधियुक्त जीव कहते हैं।

शरीरों के बीच में घिरा है जो शून्य, शरीरों की पर्तों के बीच बंध गया
है जो अस्तित्व, उस तक पहुंचने के लिए सुख-दुख को समझ लेना अत्यंत जरूरी है; क्योंकि सुख-दुख के कारण ही बंधा है।
शरीर नहीं बांधता है, शरीर नहीं बांध सकता है; लेकिन शरीर से सुख मिल सकता है, यह धारणा ही बांधती है। और अगर कारागृह से भी सुख मिल सकता है तो कारागृह भी बांध लेगा।
यहां एक बात समझ लेनी जरूरी है कि कारागृह में तो कोई और आपको बंधन में डालता है, जिस कारागृह की हम यहां चर्चा कर रहे हैं, उसमें कोई और आपको बंधन में नही डालता, आप ही अपने को बंधन में डालते हैं। इसलिए बंधन तोड़ना बहुत मुश्किल भी है और आसान भी! मुश्किल इसलिए कि जब आपने ही अपने को बांधा है, तो बांधने में जरूर रस पा रहे होंगे, नहीं तो बांधने का कोई कारण नहीं। कोई दूसरा बांधता, तो आपको उस बंधन में रस नहीं होता; आपने ही बांधा है, तो बंधन को प्रीतिकर समझ कर बांधा है, इसलिए तोड़ना मुश्किल है। आसान भी है, क्योंकि आपने ही बांधा है; इसलिए जिस क्षण निर्णय करें उसी क्षण टूट भी सकता है। किसी और ने बांधा होता तो आपके मुक्त होने की आकांक्षा पर्याप्त नहीं थी, बंधन को तोड़ने के लिए संघर्ष करना पड़ता--और फिर भी निर्णय इससे होता कि कौन शक्तिशाली है। अगर बांधने वाला शक्तिशाली होता तो बंधन से छूटना जरूरी नहीं था कि हो ही जाता।
हमने ही बांधा है अपने को, तो बंधन में जरूर कोई रस होगा; बंधन नीरस नहीं हो सकता। चाहे रस भ्रांत ही क्यों न हो! चाहे रस प्रतीत ही क्यों न होता हो, वस्तुतः न ही हो, फिर भी होगा--स्वप्नवत ही सही, चाहे मरीचिका दिखाई पड़ती हो मरुस्थल में, न हो वहां जल, लेकिन दिखाई पड़ता है। और प्यासे को दिखाई पड़ना भी काफी है। और प्यासे को यह निर्णय करने की सुविधा नहीं है कि वह तय करे कि जो जल दूर दिखाई पड़ता है वह है भी या नहीं? दौड़ेगा।
यह सारी दौड़ सुख-दुख के आस-पास है। इसलिए सुख-दुख के तत्व में भीतर प्रवेश कर जाना जरूरी है। शायद सुख-दुख की संभावना ही बंधन का कारण है। सुख क्या है? और दुख क्या है? ऊपर से देखने पर लगता है, दोनों बड़े विपरीत हैं; एक-दूसरे के बिल्कुल दुश्मन हैं। ऐसा है नहीं। सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए एक मजे की घटना घटती है लेकिन हम खयाल नहीं कर पाते कि जिसे हम आज सुख कहते हैं वही कभी कल दुख हो जाता है; और जिसे आज हम दुख कहते हैं वह कल सुख हो सकता है। कल तो बहुत दूर है, जिसे हम

सुख कहते हैं, वह क्षण भर बाद दुख हो सकता है। यह भी हो सकता है कि जब हम कह रहे हैं यह सुख है, तभी वह दुख हो गया हो।
जो गहन खोज करते हैं मनुष्य के मन की, वे तो यह कहते हैं कि जब कोई व्यक्तिकहता है, यह सुख है, तभी वह दुख हो गया होता है। क्योंकि जब तक वह सुख होता है, तब तक यह कहने की भी सुविधा नहीं मिलती कि यह सुख है। वह जब क्षीण होने लगता है तभी।
सुख-दुख के संबंध में पहली बात समझ लेनी जरूरी है कि वे विपरीत नहीं हैं; वे एक-दूसरे में रूपांतरित होते रहते हैं, लहर की भांति हैं--कभी इस किनारे, कभी उस किनारे। हम सब जानते हैं; हमने अपने सुखों को दुखों में परिवर्तित होते देखा है। लेकिन देख कर भी हमने निष्कर्ष नहीं लिए। शायद निष्कर्ष लेने के लिए हम अपने मन को अवसर नही देते हैं। एक सुख दुख बन जाता है, तब हम तत्काल दूसरे सुख की तालाश में चल पड़ते हैं। रुकते नहीं, ठहर कर देखते नहीं कि जिसे कल सुख जाना था, वह आज दुख हो गया, तो ऐसा तो नहीं है कि हम जिसे भी सुख जानेंगे, वह फिर दुख हो जाएगा? ऐसा मन कहता है कि यह हो गया दुख, कोई बात नहीं, कहीं कोई भूल हो गई, यह दुख रहा ही होगा, हमने भ्रांति से सुख समझ लिया था।
इसलिए और एक मजे की बात है कि जिस चीज को आप जितना बड़ा सुख मानते हैं,
वह उतना बड़ा दुख बदलेगा, जब बदलेगा। जिस चीज को आप ज्यादा सुख नहीं मानते वह बदल कर ज्यादा दुख नहीं हो सकता। अनुपात वही होगा। इसलिए उदाहरण के लिए कहता हूंः अगर किसी का विवाह उसके माता-पिता ने कर दिया है, तो उसमें बहुत सुख की अपेक्षा ही नहीं होती, इसलिए दुख भी बहुत फलित नहीं होता। प्रेम-विवाह जितना दुख लाता है, उतना दुख आयोजित विवाह नहीं ला सकता; क्योंकि आयोजित विवाह में कभी बहुत सुख की आशा ही नहीं थी। तो टूटेगा क्या? बिगड़ेगा क्या? बिखरेगा क्या? जितनी बड़ी अपेक्षा, उतना बड़ा दुख फलित हो सकता है।
इसलिए पश्चिम ने सोचा था इधर पचास-सौ वर्षों में कि प्रेम-विवाह बहुत सुख ले आएगा। उन्होंने ठीक सोचा था। लेकिन उन्हें दूसरी बात का पता नहीं था कि प्रेम-विवाह बहुत दुख भी ले आएगा। और अनुपात सदा बराबर होगा। जितना बड़ा सुख अपेक्षा में होगा, जब रूपांतरण होगा, उतना ही बड़ा दुख होगा।
पूरब के लोग होशियार थे एक लिहाज से; उन्होंने एक दूसरी कोशिश की... उन्होंने कोशिश यह की कि सुख की अपेक्षा को ही कम करो ताकि जब परिवर्तन हो--और परिवर्तन तो होगा ही--तो बहुत दुख फलित न हो।
आयोजित विवाह न तो सुख दे सकता है ज्यादा, न दुख दे सकता है ज्यादा। इसलिए आयोजित विवाह चल सकता है, प्रेम-विवाह चल नहीं सकता; क्योंकि इतने बड़े सुख की आशा जब इतने बड़े दुख में बदल जाती है--चाहा था शिखर और खाई उपलब्ध हो जाती है, तो टूटना निश्चित है।
आदमी चल सकता है समतल जमीन पर, जहां बहुत खाइयां और बहुत शिखर नहीं हैं। जहां शिखरों से खाइयों में गिरना पड़ता हो, उस पर ज्यादा देर चला नहीं जा सकता। इसलिए सिर्फ सौ वर्ष के प्रयोग में पश्चिम प्रेम-विवाह के बाद न-विवाह की हालत में आया चला जा रहा है। पांच हजार वर्ष तक पूरब बिना प्रेम-विवाह के बराबर विवाह को चलाया। समतल भूमि थी--न बड़ी खाइयां थीं, न बड़े शिखर थे। लेकिन पश्चिम सौ वर्ष भी प्रेम-विवाह की धारणा को चलाने में समर्थ नहीं हो पाया। अब वहां का विचारशील आदमी कह रहा है, यह विवाह ही छोड़ देने जैसा है; यह विवाह को रखने की जरूरत नहीं है। अगर सुख ज्यादा चाहिए तो विवाह छोड़ दो।
अब फिर वही भूल हो रही है। क्योंकि खयाल यह था कि सुख अगर ज्यादा चाहिए तो आयोजित विवाह छोड़ दो, प्रेम-विवाह ज्यादा सुख देगा। अब प्रेम-विवाह ने ज्यादा सुख तो क्षण भर को दिया और पीछे बड़े दुख की खाई छोड़ गया। और उस सुख की तुलना में यह खाई बहुत बड़ी मालूम पड़ती है।
अब फिर वही भूल पश्चिम की बुद्धि कर रही है, वह यह कि अगर और ज्यादा सुख चाहिए तो विवाह ही छोड़ दो। उन्हें पता नहीं कि वह और ज्यादा सुख और बड़े दुख में छोड़ जाएगा। पर वह भूल स्वाभाविक है, क्योंकि हम सुख-दुख को विपरीत

मानते हैं, कनवर्टिबल नहीं--कि वे एक-दूसरे में बदल जाते हैं। बदलते ही रहते हैं। एक क्षण को भी बदलाहट रुकती नहीं।
इस समझ के कारण पूरब ने एक और प्रयोग किया। उसने यह प्रयोग किया कि जब सुख दुख में बदल जाता है, तो क्या हम दुख को सुख में नहीं बदल सकते? तपश्चर्या का सूत्र इस समझ से निकला। बहुत अनूठा सूत्र है तपश्चर्या का... यह इस समझ से निकला है कि जब सुख दुख में बदल जाता है तो कौन सी अड़चन है कि दुख सुख में न बदल जाए? और हमने दुख को भी सुख में बदल कर देखा। अगर आप दुख में रहने को राजी हो जाएं, तो दुख सुख में बदलने को तैयार हो जाता है। अगर आप सुख में रहने को राजी हो जाएं, तो सुख दुख में बदलने को तैयार हो जाता है।
आपके राजी होने से बदलाहट होती है। आपके राजी होने से बदलाहट होती है--आप जिसमें भी रहने को राजी हो जाएं, वही बदलने को तत्पर हो जाता है। असल में आपके राजी होते ही बदलाहट शुरू हो जाती है। जैसे ही आपने कहा कि बस सुख मिल गया, अब मैं इसमें ही रहना चाहता हूं; अब मैं इसको बदलना नहीं चाहता... बस समझिए कि बदलाहट शुरू हुई। अगर आप दुख में भी यही कह सके कि दुख मिल गया, मैं इसमें राजी हूं; अब मैं इसे बदलना नहीं चाहता--यही तपश्चर्या का सूत्र है कि दुख आया, मैं राजी हूं, मैं बदलना नहीं चाहता।
और बड़े मजे की बात है कि दुख सुख में बदल जाता है। और अगर इन दोनों में
ही चुनना हो, तो सुख को दुख में बदलने की कला के बजाय दुख को सुख में बदलने की कला ज्यादा बुद्धिमानी है। क्यों? उसका कारण है; क्योंकि दुख को जो सुख में बदल लेता है... जो दुख को सुख में बदल लेता है, उसका सुख फिर दुख में नहीं बदल सकता। उसका कारण है कि जो दुख तक को सुख में बदल लेता है, उसका सुख कैसे दुख बन सकेगा? जो दुख तक को सुख में बदल लेता है, उसका सुख अब उस पर काम नहीं कर पाएगा, बदलाहट होगी नहीं उसे। असल में जो दुख को सुख में बदल लेता है, वह सुख की आकांक्षा ही छोड़ देता है, तभी बदल पाता है। और जब सुख की कोई आकांक्षा नहीं होती, तो सुख दुख में बदलने की क्षमता खो देता है। आकांक्षा से क्षमता निर्मित होती है। इसे कभी प्रयोग करके देखें और
आप बहुत हैरान हो जाएंगे। यह मनुष्य के भीतर रूपांतरण की गहरी कीमिया के सूत्रों में से एक है। जब दुख आपके ऊपर आए, तो उसे स्वीकार कर लें। इनकार से ही वह दुख है, अस्वीकार से ही वह दुख है; उसे स्वीकार कर लें समग्र मन से--राजी हो जाएं, आलिंगन कर लें और कह दें कि अब तुझे छोड़ने का कोई मन नहीं, तेरे साथ ही रहेंगे। और आप अचानक पाएंगे कि सब बदल गयाः जिसे आपने दुख की तरह देखा था, वह सुख हो गया है।
सुख दुख में बदल सकता है, दुख सुख में--क्यों? क्योंकि वे एक ही सिक्के
के दो पहलू हैं। और बदल क्यों जाते हैं? ... और बदल क्यों जाते हैं--इस बदलने का क्या कारण है?
असल में जब एक आदमी सुख में जीता है, तो सुख से भी ऊब जाता है। जो चीज
भी निरंतर मिलती है उससे ऊब पैदा हो जाती है। ऊब स्वाभाविक है। सुख भी ऊबाने लगता है।
जिसको आप प्रेम करते हैं, और चाहते हैं कि चौबीस घंटे उसके साथ रहें,
और अगर चौबीस घंटे साथ रहना मिल जाए, तो मन करने लगेगाः कुछ देर तो फुर्सत मिले! कुछ देर तो एकांत मिले! कुछ देर को तो पीछा छूटे! यह, यह बिल्कुल स्वाभाविक हो जाएगा। जिसके साथ कभी सुख चाहा था, आज उससे थोड़े अलग होगें तो सुख मिलेगा। ऊब खड़ी हो जाती है। चित ऊबने लगता है। असल में जिसे भी आप जान लेते हैं, उसी से चित्त ऊबने लगता है; जिसे भी आप पूरा जान लेते हैं उसी से चित्त ऊबने लगता है। चित्त नये की तलाश पर निकल जाता है; रुचिकर भी अरुचिकर हो जाता है। आज जो भोजन अच्छा लगा है, भूल कर कल उसे मत करना, परसों उसे मत दोहराना, नहीं तो रुचि अरुचि बन जाएगी।
यह ऋषि कहता हैः

"जो रुचिकर वस्तु की इच्छा है, वही सुख है; और जो अरुचिकर वस्तु की कल्पना है, वही दुख है।"

किसी वस्तु को रुचिकर कल्पित करना सुख है; और किसी वस्तु को अरुचिकर कल्पित करना दुख है। और रुचि अरुचि में बदल जाती है, अरुचि रुचि में बदल जाती है।
शराब पीने वाले जानते हैं कि शराब पीने में शुरू में स्वाद तो अरुचिकर ही होता है; स्वाद को, वे कहते हैं, विकसित करना पड़ता है। वे कहते हैं, विकसित करना पड़ता है; जो जानते हैं, वे कहते हैं, विकृत करना पड़ता है; स्वाद की बुद्धि ही नष्ट करनी पड़ती है। अगर एक आदमी कॉफी पीना शुरू करता है, तो कॉफी रुचिकर नहीं मालूम पड़ती, लेकिन पीने वाले कहते हैं, घबड़ाओ मत; अभ्यास से रुचिकर हो जाएगी; स्वाद विकसित करना पड़ता है।
और आदमी कैसे भी स्वाद विकसित कर लेता है। एक आदमी धूम्रपान शुरू करता है, सिवाय कष्ट के कुछ भी नहीं मालूम पड़ता पहले दिन, लेकिन कल्पना रुचिकर की कि इतने लोग पी रहे हैं तो बहुत आनंद पा ही रहे होंगे; क्योंकि इतने लोग नासमझ नहीं हो सकते। और जब पीने वाला... नया पीने वाला देखता है कि जो कहते हैं कि पीना बुरा है, वे भी पी रहे हैं--वे कहते हैं, मजबूरी है, लेकिन तुम मत पीओ--तब उसे लगता है कि जरूर कोई गहरा राज है; कोई छिपी हुई बात है; कोई सुख जरूर पाया जा रहा है जिससे मैं रोका जा रहा हूं। जब वह पहली दफे पीता है तो दुखद ही अनुभव है; पहला अनुभव सुखद नहीं हो सकता। तिक्त है स्वाद, धुआं ही शरीर में डाल रहा है, जो किसी कारण सुखद नहीं हो सकता--खांसी आएगी, बेचैनी होगी, माथा गर्म हो जाएगा, लेकिन इस आशा में, रुचिकर की आशा में, वह सुख की कल्पना किए चला जाएगा। धीरे-धीरे यह दुख सुख बन जाएगा। धीरे-धीरे यह दुख सुख बन जाएगा!
अभ्यास से दुख सुख हो जाता है; अभ्यास से ही सुख दुख हो जाता है।
दुख को भी कोई झेलता चला जाए तो संवेदनशीलता क्षीण हो जाती है और आदत
बन जाती है; दुख की भी आदतें होती हैं। सुख को अगर कोई... झेलना ही पड़े सुख किसी को, तो ऊब पैदा हो जाती है; उससे भी बेचैनी और छुटकारे की आकांक्षा हो जाती है।
रुचिकर क्या है, अरुचिकर क्या है, इसे हम समझें तो सुख दुख कैसे रूपांतरित होते रहते हैं, और एक ही चीज के दो पहलू हैं, खयाल में आ जाएगा। रुचिकर क्या है? किस बात को आप रुचिकर कहते हैं?
ऋषि ने कहा हैः इंद्रियों के लिए जो अनुकूल है, सानुकूल है, वह रुचिकर है। आपके लिए नहीं, इंद्रियों के लिए जो अनुकूल है वह रुचिकर है, और इंद्रियों के लिए जो अनुकूल नहीं है वह अरुचिकर है।
संगीत बज रहा है, कान को रुचिकर है; क्योंकि उस संगीत की जो चोट है, वह कान के लिए अनुकूल है। उससे व्याघात पैदा नहीं होता, उपद्रव पैदा नहीं होता, बल्कि विपरीत मन के भीतर चलता हुआ उपद्रव शिथिल होता है, शांत होता है। लेकिन जरूरी नहीं है। अगर बहुत शांत व्यक्ति हो, तो संगीत भी अरुचिकर है; क्योंकि तब संगीत भी एक व्याघात है; तब संगीत भी एक उपद्रव है।
पश्चिम का एक बहुत बड़ा संगीतज्ञ सुबर्ट कहा करता था--कहा करता था संगीत के संबंध में; खुद बड़ा संगीतज्ञ था वह... कहा करता था कि संगीत जो है, वह सबसे कम अरुचिकर ध्वनियों का समूह है--सबसे कम अरुचिकर! सबसे कम उपद्रव है उसमें। है तो उपद्रव; क्योंकि है तो आखिर स्वरों का आघात ही। इसलिए परम संगीत तो शून्य है, लेकिन जिसने शून्य को जाना, उसे संगीत भी अरुचिकर मालूम पड़ेगा... उसके कान को।
चीन का एक बहुत बड़ा संगीतज्ञ हुआ, हुई हाई। जैसे-जैसे संगीत उसका गहरा होता चला गया, वैसे-वैसे उसका वाद्य शांत होता चला गया। फिर एक दिन उसने अपने वाद्य को उठा कर फेंक दिया। दूर-दूर लोक-लोकांतर तक उसकी खबर पहुंच गई थी, हजारों मील चल कर लोग उसके पास आते थे। और जब दूसरे दिन सुबह नये यात्री आए उसका संगीत सुनने, और उसे उन्होंने बैठा वृक्ष के नीचे देखा बिना वाद्य के, तो उन्होंने पूछाः तुम्हारा वाद्य कहां है? तो हुई हाई ने कहाः अब वाद्य भी संगीत में बाधा हो गया। और हुई हाई ने कहा कि जब संगीत पूर्ण हो जाता है तो वीणा तोड़ देनी पड़ती है।
उसका कारण है, अगर बहुत ठीक से समझें तो कान के लिए जो ध्वनियां प्रीतिकर लगती हैं, वे इसीलिए प्रीतिकर लगती हैं कि भीतर और अप्रीतिकर

ध्वनियां चल रही हैं; भीतर और उपद्रव, अराजकता है। उस अराजकता में यह सुलाने वाली दवा की तरह मालूम पड़ता है। सुखद लगता है, सांत्वना देता है; एक तरह की शांति को जन्म देता है। रुचिकर है।
लेकिन, अगर संगीत अस्तव्यस्त हो, सिर्फ शोरगुल हो आवाजों का तो अरुचिकर हो जाता है, क्योंकि कान को पीड़ा होती है। पीड़ा इसलिए होती है कि कान को ध्वनियां सिर्फ बेचैन करती हैं, शांत नहीं करतीं। सारे शरीर में जब हमने... इंद्रियों की जो व्यवस्था है हमारी--इंद्रियां हैं ग्राहक; बाहर के जगत में जो घटित हो रहा है उसे भीतर ले जाने के द्वार हैं। इन इंद्रियों को जो प्रीतिकर मालूम होता है वह वही है जो इन इंद्रियों को शांत करता है; अप्रीतिकर वही मालूम पड़ता है जो इन इंद्रियों को अशांत करता है। बस, इससे ज्यादा प्रीतिकर, अप्रीतिकर का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन जो चीज इंद्रियों को आज शांत करती है, कल अशांत कर सकती है; क्योंकि इंद्रियां स्वयं सरित-प्रवाह हैं, वे भी बदली जा रही हैं।
जैसे, एक आदमी नया रेलवे की नौकरी पर जाता है; स्टेशन पर सोता है, नींद नहीं आती--ट्रेन की आवाजें हैं, इंजन की आवाजें हैं, शंटिंग है और शोरगुल है, और सब तरह का उपद्रव है--नींद नहीं आती; बड़ा बेचैन होता है कान। लेकिन नींद एक जरूरी चीज है। आज नहीं कल, इस बेचैनी को एक तरफ रख कर नींद आनी शुरू हो जाती है, लेकिन बहुत जल्दी वह वक्त आ जाता है कि यह आदमी अब अपने घर नहीं सो सकता, क्योंकि यह सब उपद्रव इसकी नींद का अनिवार्य हिस्सा हो गया। यह हो तो ही यह सो सकता है; यह न हो तो यह नहीं सो सकता। यह इसका क्रियाकांड का हिस्सा हो गया। इतना उपद्रव चाहिए ही।
बहुत लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि बड़ी मुसीबत है, बड़ी बेचैनी है, बड़ी अशांति है। मैं भलीभांति जानता हूं कि अगर उनकी सब बेचैनी और सब अशांति छीन ली जाए तो फौरन परमात्मा से वे प्रार्थना करेंगे, बेचैनी वापस दो, अशांति वापस दो। उनको पता नहीं है कि वह उनका क्रियाकांड है; वे उसके बीच ही जी सकते हैं। इसलिए अगर उन्हें एकांत में भेज दिया जाए, तो दो-चार दिन में वे कहते हैं कि वापस जाना है; यहां बहुत खाली-खाली लगता है; यहां कोई सार नहीं है। सार वहीं है जहां सारा उपद्रव चल रहा है। क्यों? इंद्रियां अगर आप उनको अरुचिकर का भी भोजन दिए चले जाएं तो थोड़े दिन में राजी हो जाती हैं, क्योंकि मजबूरी है। और जब राजी हो जाती हैं तो वही प्रीतिकर हो जाता है जो अरुचिकर मालूम पड़ा था, अप्रीतिकर मालूम पड़ा था। अगर आप रुचिकर का भोजन दिए चले जाएं तो रुचिकर बार-बार लेने से धीरे-धीरे इंद्रिय का स्वाद मर जाता है... वही-वही रोज देने से उसकी संवेदना क्षीण हो जाती है; वही अरुचिकर मालूम पड़ने लगता है।
एक बड़े कवि मुझे मिलने आए थे। बातचीत चलती थी, तभी एक संगीतज्ञ भी आ गए। उन संगीतज्ञ ने कवि को कहा कि कोई एकाध कविता सुनाएं। उन कवि ने कहाः क्षमा करें। कविता से इस बुरी तरह ऊब गया हूं कि कुछ और... कुछ और चलेगा, कविता नहीं। बड़े कवि हैं, कविता से ऊब गए हैं। ऊब ही जाएंगे।
और इसलिए अक्सर दुनिया में एक अनूठी घटना घटती है कि आदमी जिंदगी में
कई बार छलांगें ले लेता है। बड़े बुद्धिमान आदमी कई बार बड़े गैर-बुद्धिमानी के काम करने में लग जाते हैं; वह सिर्फ बदलाव है, वह सिर्फ बदलाहट है; ऊब गए हैं। इसलिए कभी-कभी दिखाई पड़ता है कि गांव का एक साधारण आदमी है--कुछ कीमत नहीं है, कोई अनुभव नहीं है, कोई गहराई नहीं है, लेकिन हाई कोर्ट का चीफ जस्टिस उसके चरणों में बैठा हुआ है। क्या हो गया है इस हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस को? यह ऊब गया है बुद्धिमानी से। काफी बुद्धि इसने झेल ली। अब यह कोई गैर-बुद्धिमानी का काम न करे, तो इसे अपने से ही छुटकारा नहीं है। और फिर इसको देख कर न मालूम कितने नासमझ इसके पीछे आएंगे, क्योंकि वे इसे बुद्धिमान समझ कर चले आ रहे हैं... कि जब यह बुद्धिमान जा रहा है कहीं, तो अब तो गैर-बुद्धिमानों को जाने के लिए रास्ता खुल गया। और उन्हें पता नहीं कि यह जा रहा है सिर्फ इसलिए कि अब यह बुद्धि से बुरी तरह ऊब गया है। बुरी तरह ऊब गया है!
रुचिकर सदा रुचिकर नहीं रहता। इसके और भी कारण हैं, क्योंकि आप पूरे समय विकसित हो रहे हैं। बच्चा है, खिलौना रुचिकर लगता है; लेकिन एक उम्र आ

जाएगी कि खिलौना रुचिकर नहीं लगेगा, क्योंकि बच्चा बच्चा नहीं रहा। खिलौने फेंकने ही पड़ेंगे। और ये वे ही खिलौने हैं जो अगर टूट जाते तो बच्चा समझता कि जैसे उसका कोई प्रियजन मर गया है। इन्हीं को वह छोड़ कर एक दिन हट जाएगा; क्योंकि उसकी चेतना विकसित हो रही है।
जो कल रुचिकर था, वह आज रुचिकर नहीं रहा। आज वह नये खिलौने खोजेगा, हालांकि उसे खयाल में नहीं होगा, ये भी खिलौने हैं। कल उसने गुड़िया सजाई थी, आज वह पत्नी सजाएगा। सजावट वही होगी, ढंग वही होगा। लोग उसकी गुड़िया की प्रशंसा करें, यह कल चाहा था; आज उसकी पत्नी की प्रशंसा करें, यह चाहा जाएगा। लेकिन गुड़िया थी गुड़िया, इसलिए किसी दिन फेंक दिया तो कठिनाई नहीं हुई। अब यह पत्नी को फेंकना इतना आसान पड़ने वाला नहीं है। और आज नहीं कल, इसके भी पार हो जाएगा मन; तब बेचैनी खड़ी होगी; तब पुराने किए वायदे और आश्वासन बाधा बनेंने। तब अपने से ही बंधा हुआ आदमी पाता है कि यह तो मैंने ही कहा था, अब इसको मुकरना भी मुश्किल है। और बात भी खो गई, यह सजावट भी खो गई, अब इसमें भी कोई रस न रहा।
तो रोज हम बदल रहे हैं। रोज हम बदल रहे हैं। जवान आदमी था, मंदिर रुचिकर नहीं मालूम पड़ता था। निकला था उसके सामने से, समझता था पागल उसके भीतर गए होंगे। अभी वेश्यागृह ज्यादा सुखद और प्रीतिकर था। अभी मंदिर बिल्कुल नासमझों की जमात दिखाई पड़ती थी। लेकिन आज नहीं कल, मंदिर सार्थक हो जाएगा।
कार्ल गुस्ताव जुंग ने अपने जीवन के संस्मरणों में लिखा है कि मेरे पास इलाज कराने वाले हजारों मरीज मन के जो आए हैं, उनमें अधिकतम वे हैं जो चालीस साल के ऊपर हैं, और उनकी एक ही तकलीफ यह है कि वे मंदिर का द्वार भूल गए हैं, और कोई उनकी अड़चन नहीं। एक ही उनकी बीमारी है कि उन्हें मंदिर का कोई पता ही नहीं कि मंदिर भी है, और चालीस साल की उम्र के बाद मंदिर का द्वार सार्थक होना शुरू हो जाता है। लेकिन वह भी खिलौना है।
बच्चे के खिलौने हैं, जवान के खिलौने हैं, बूढ़े के खिलौने हैं। और एक दिन उससे भी ऊब आ जाती है। और जब तक खिलौनों से ही कोई मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उपद्रव में बदलाहट होती रहती है लेकिन उपद्रव समाप्त नहीं होता। तो एक आदमी अपनी पत्नी को सजाने से अब ऊब गया है, तो रामचंद्र जी को सजा रहा है! अब उनका जुलूस निकाल रहा है, शोभायात्रा चल रही है। मगर यह आदमी यह नहीं समझ पा रहा कि यह सजावट कब तक? यह कब तक जारी रखनी है? सिर्फ गुड़िया बदलते चले जाना है? खयाल ही नहीं आता कि आज जो सुखद है, कल वह... कल अरुचिकर हो जाएगा।
क्या, किया क्या जाए? रुचि और अरुचि क्या है, इसे ठीक से समझ लिया जाए।
जो आज मेरी इंद्रिय को इस क्षण में सुखद मालूम पड़ता है, संगीतपूर्ण मालूम पड़ता है, अनुकूल मालूम पड़ता है, उसे मैं कहता हूं "सुख"; जो आज इस क्षण में इसके विपरीत पड़ता है, उसे मैं कहता हूं "दुख।" सुख को मैं चाहता हूं, दुख को मैं नहीं चाहता हूं; सुख मुझे मिल जाए पूरा और दुख मुझे बिल्कुल न मिले, यह मेरी आकांक्षा है। यह आकांक्षा ही शरीर से बंधने का कारण बन जाती है; क्योंकि शरीर में ही इंद्रियों के द्वार हैं, उन्हीं से सुख मिलता है, और उन्हीं से दुख रोका जा सकता है। इसलिए चेतना शरीर के साथ सम्मिश्रित होकर बंध जाती है। और जब तक कोई सुख-दुख दोनों को ठीक से समझ कर पार न हो, तब तक शरीर के पार नहीं हो सकता।
इसलिए पांच शरीरों के बाद तत्काल ऋषि ने सुख-दुख की चर्चा शुरू की है।
यह सुख-दुख की चर्चा अर्थपूर्ण है इसलिए कि यह पांच शरीर की चर्चा से कुछ भी न होगा, जब तक कि शरीर के बंधने का राज ही हमारे खयाल में न आ जाए कि हम बंधते क्यों हैं? इससे विपरीत अगर हम कर सकें, उसी का नाम तप है।
सुख की आकांक्षा न करें, दुख को हटाने का खयाल न करें; सुख को मागें न, दुख को हटाएं न। सुख को जो मांगेगा, दुख से जो बचेगा, वह शरीर से बंधा रहेगा। सुख की जो मांग नहीं करेगा, दुख मिल जाए तो राजी हो जाएगा, वह शख्स... वह व्यक्ति शरीर से छूटने लगेगा।
सुख की अपेक्षा, दुख से भय--शरीर के बाहर ले जाता है; सुख की अपेक्षा नहीं, दुख से निर्भय--शरीर के भीतर ले जाता है। भोग और तप का यही भेद है।

सुख मांगते हैं तो बाहर संघर्ष करना पड़ेगा--सुख को बचाना पड़ेगा, दुख
से बचना पड़ेगा; गहन संघर्ष होगा बाहर। इसलिए चेतना को सदा शरीर के बाहर भटकना पड़ेगा--मकानों में, धनों में, पदों में, दूसरों में।
तप का अर्थ है... कि नहीं, सुख की कोई आकांक्षा नहीं है, क्योंकि बहुत सुख जाने और उनको दुखों में बदलते देखा। अब सुख को नहीं जानना; और अब दुख को भी हटाने की कोई इच्छा नहीं है। क्योंकि दुख को हटा-हटा कर देख लिया, वह हटता कहां है! वह बना ही रहा चला जाता है। उलटे उसे हटाने में और दुख भोगना पड़ता है... और वह फिर लौट-लौट कर आ जाता है। न ही दुख को हटाते हैं, न ही सुख को मांगते हैं; अब हम राजी हैं, जो जैसा है। यात्रा भीतर की तरफ शुरू हो गई; बाहर कोई संघर्ष न रहा। यह अंतर्यात्रा ही शरीरों से छुटकारा दिला सकती है।
सुख-दुख के लिए जो क्रियाएं करता है व्यक्ति, ऋषि ने उसे ही कर्ता कहा है--दि डुअर; जो सुख-दुख के लिए क्रियाएं करता है--जो मांगता है कि सुख मुझे मिले और दुख मुझे न मिले, यह कर्ता है। लेकिन जो कहता है कि जो मिले, ठीक; न मिले, ठीक; दोनों में भेद ही नहीं करता, यह अकर्ता हो जाता है; यह नॉन-डुअर हो जाता है। और जब व्यक्ति अकर्ता होता है तो परमात्मा कर्ता हो जाता है। इसी से भाग्य की कीमती धारणा पैदा हुई।
भाग्य का मतलब ज्योतिषी से नहीं है; भाग्य का खयाल बहुत आध्यात्मिक है। उसका हाथ की रेखाओं से कुछ लेना-देना नहीं; उसका भविष्य से कोई संबंध नहीं; उससे रास्ते के किनारे पर बैठे हुए ज्योतिषी से कोई संदर्भ ही नहीं है उसका। भाग्य की धारणा इससे पैदा हुई कि जब मैं कर्ता नहीं हूं, और चीजें तो हो ही रही हैं, चीजें तो घटित हो ही रही हैं और मैं कर्ता नहीं हूं, क्योंकि कर्ता तभी तक मैं होता हूं जब तक मैं मांगता हूं कि सुख मिले और दुख न मिले; तब तक संघर्ष करता हूं तो कर्ता होता हूं। अब कर्ता नहीं रहा; अब जो मिल जाए ठीक है, न मिल जाए ठीक है, मैंने फिकर ही छोड़ दी मिलने-न मिलने की। सुख आए तो मैं फिकर नहीं करता कि सुख है, दुख आए तो मैं फिकर नहीं करता कि दुख है--धीरे-धीरे भेद ही गिर जाता है और पहचानना ही मुश्किल हो जाता है कि क्या सुख है और क्या दुख है; दोनों के बीच आदमी निर्लिप्त हो जाता है। ऐसी जो निर्लिप्ता है, इसमें कर्ता तो खो जाएगा, क्योंकि करने को कुछ बचा नहीं। करना था ही क्या? एक ही थाः सुख कैसे पाएं और दुख से कैसे बचें... वही करना था। अब कर्म का कोई उपाय न रहा... फिर भी चीजें तो होती ही चली जाती हैं। जब व्यक्ति कर्ता नहीं रह जाता तो परमात्मा कर्ता हो जाता है। और जब परमात्मा कर्ता हो जाता है, इस भाव-दशा का नाम ही भाग्य है, विधि है।
ऐसे व्यक्ति की गर्दन काट दो, तो वह कहता है, कटनी थी। वह इसमें उसको
भी दोषी नहीं ठहराता है जिसने काटी, क्योंकि अब वह मानता है, कर्ता कोई है नहीं। कटनी थी; कर्ता विलीन हो गया। ऐसे व्यक्ति को जहर पिला दो, तो वह कहता है, पीना था, होना था। और जो व्यक्ति जहर पिलाते वक्त भी जानता हो कि होना था, क्या उसके मन में क्षण भर को भी क्रोध आ सकता है उसके प्रति जिसने जहर पिला दिया? क्योंकि अब वह मानता ही नहीं कि कोई कर्ता है; इसलिए अब दोषारोपण समाप्त हुआ; इसलिए अब कोई जिम्मेवार है यह बात ही खत्म हुई--अब जो भी हो रहा है, वह परम नियति है; उसमें व्यक्ति का कोई लेना-देना नहीं है। ऐसा व्यक्ति अगर परम शांति को, परम संतोष को उपलब्ध हो जाए तो आश्चर्य क्या है?
जो सुख-दुख के बीच चुनाव करता है, वह कभी संतोष को उपलब्ध नहीं हो सकता; जो सुख-दुख में भेद करता है वह कभी संतोष नहीं पा सकता। जिसने सुख-दुख का भेद ही छोड़ दिया, वह संतुष्ट है। इसलिए लोग जो समझाते रहते हैं--बड़ी कीमती बातें भी कभी बहुत नासमझी के आधार बन जाती हैं।
लोग कहते हैंः संतोष में ही सुख है। पागल हैं बिल्कुल, उन्हें संतोष
का पता ही नहीं; अभी भी वे सुख को ही संतोष के साथ एक कर रहे हैं! और वे जिसको समझा रहे हैं, इसलिए समझा रहे हैं कि अगर सुख चाहते हो तो संतोष रखो। और जो सुख चाहता है वह संतुष्ट हो नहीं सकता, क्योंकि सुख असंतोष का सूत्र है। जो सुख चाहता है वह दुख से बचेगा ही; नहीं तो सुख चाह नहीं सकता। तो संतुष्ट कैसे होगा? सुख संतोष नहीं है। संतोष सुख नहीं है; संतोष सुख-दुख

के पार है। और संतुष्ट वही है, जिसने सुख-दुख का भेद ही त्यागा। संतोष दोनों का अतिक्रमण करता है। इसलिए आप अगर कभी सुख मान कर संतोष कर रहे हों तो भ्रांति में मत पड़ना, आपका संतोष निपट धोखा है।
नियति, भाग्य, विधि परम आध्यात्मिक शब्द हैं। व्यक्ति अहंकार से मुक्त हुआ, यह उनका प्रयोजन है। अस्मिता नहीं है अब, शिकायत नहीं है अब, जो हो रहा है उसकी परम स्वीकृति है, टोटल एक्सेप्टेंस है। उससे अन्यथा होने का कोई कारण ही नहीं है। उससे अन्यथा हो ही नहीं सकता था। उससे अन्यथा की कोई चाह भी नहीं है। उससे अन्यथा होना चाहिए था इसका कोई स्वप्न भी नहीं है।
ऐसी जो तथाता है, ऐसा जो भाव है स्वीकार का, यह अगर आपके भीतर सारी लहरों को शांत कर जाए तो आश्चर्य है? सब लहरें खो जाएं तो आश्चर्य है? और इस लहर के खोने में ही आप भीतर... और भीतर... और भीतर प्रवेश करते चले जाते हैं।
इंद्रियां ही सुख और दुख के कारण हैं।
"शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध--ये ही सुख-दुख के कारण हैं।"

"पुण्य और पाप कर्मों का अनुसरण करने वाला आत्मा प्राप्त हुए शरीर के संयोग को अप्राप्त होते हुए भी स्वयं की तरह समझने लगता है, तब उसे उपाधिग्रस्त जीव कहते हैं।"
शरीर में हूं मैं, लेकिन शरीर नहीं हूं। शरीर में होना एक बात है, शरीर
हो जाना बिल्कुल दूसरी। शरीर में हूं, ऐसा जो जानता है, वह आत्मा है; शरीर ही हूं, ऐसा जो जानता है, वह जीव है--उपाधिग्रस्त हो गया, भ्रम में पड़ गया, भूल में पड़ गया; भ्रांति में पड़ गया; जो है, नहीं समझ रहा अपने को और जो नहीं है वह समझने लगा।
शरीर हूं मैं, यह क्यों पैदा हो जाता है? वही सुख-दुख के कारण; क्योंकि जिससे सुख-दुख मिलते हैं, जब सुख-दुख की... सुख की आकांक्षा और दुख से बचने का भाव प्रबल होता है, तो जिससे मिलते हैं उसके साथ हम एकात्म अनुभव करने लगते हैं। प्रेमी अपनी प्रेयसी से कहता है, मुझमें और तुझमें अब कोई भेद नहीं; हम बिल्कुल एक हो गए... कभी हो नहीं सकते... हम बिल्कुल एक हो गए-- क्यों? क्योंकि जिससे सुख मिलता है, हम उससे एकता साधना चाहते हैं, फासला नहीं रखना चाहते; क्योंकि फासले से कहीं सुख चूक न जाए। जरा सा भी फासला हुआ तो सुख पार कैसे आएगा--तो हम सब रंध्र-रंध्र तोड़ देना चाहते हैं, स्थान मिटा देना चाहते हैं, बिल्कुल पास हो जाना चाहते हैं। इतने पास हो जाना चाहते हैं कि बीच में कोई जगह खाली न रह जाए, नहीं तो सुख के आने में बाधा पड़ेगी।
इसलिए जिससे हमें सुख मिलता है उससे हम अपने को एक कर लेते हैं। जिससे दुख मिलता है, उससे बड़ा फासला करते हैं; उससे बचते हैं, उसे देखना भी नहीं चाहते; उसके पास नहीं होना चाहते, उससे दूर होना चाहते हैं। इसलिए जिससे दुख मिलता है उसकी हम हत्या तक करने का विचार करते हैं; उसका जीवित होना भी हमारे लिए निकटता मालूम पड़ती है। वह कहीं भी जीए--हिमालय पर रहे, तिब्बत चला जाए, लेकिन जिंदा है, तो लगता है कि उसी हवा को छू रहा है जिसको हम छू रहे हैं; उसी आकाश के नीचे है जिसके नीचे हम हैं। उसको हम इतना भी बर्दाश्त नहीं करना चाहते, उसको मिटा ही डालना चाहते हैं--वह रह ही न जाए; वह कहीं न हो, तभी हमें चैन मिलेगा। फासला इतना हो जाना चाहिए, जितना जिंदा और मुर्दे के बीच होता है।
जिससे दुख मिलता है उसे हम दूर करना चाहते हैं, जिससे सुख मिलता है उसे हम पास करना चाहते हैं।
अब यह बहुत मजे की बात हैः जब भी हमें सुख मिलता है तो हम समझते हैं वह हमारे शरीर से मिल रहा है; और जब भी दुख मिलता है हम समझते हैं वह दूसरे के शरीर से मिल रहा है। यह बहुत मजे का मामला है। यह बहुत ही मजे का राज हैः जब भी हमें सुख मिलता है, तो हम समझते हैं हमारे शरीर से मिल रहा है। सुख के लिए हम कभी किसी दूसरे को जिम्मेवार नहीं ठहराते, सुख के लिए हम सदा स्वयं

ही जिम्मेवार होते हैं; और दुख के लिए हम सदा दूसरे को जिम्मेवार ठहराते हैं।
अगर मुझे कोई प्रेम करता है, तो मैं समझता हूं कि मैं प्रेम करने योग्य हूं ही। होना ही चाहिए, जैसा हो रहा है, इसमें कोई... इसमें कोई धन्यवाद देने तक का कारण नहीं है; मैं प्रेम करने योग्य हूं ही। और जब मुझ पर कोई क्रोध करता है तो मैं समझता हूं, यह आदमी दुष्ट है, क्रोधी है। तब मैं ऐसा नहीं सोचता कि मैं क्रोध करने योग्य हूं ही।
और दोनों बातें एक साथ हैं। यह विभाजन तरकीब है, और धोखा है। या तो मैं दोनों हूं, या मैं दोनों नहीं हूं। दो में से कुछ भी आदमी चुन ले तो सत्य की तरफ आसानी हो जाती है। दो में से कुछ भी चुन लेः या तो मैं दोनों हूं--प्रेम करने योग्य भी और घृणा करने योग्य भी। अगर मैं दोनों चुन लूं तो दोनों काट देते हैं एक-दूसरे को, क्योंकि मैं दोनों एक साथ कैसे हो सकता हूं? या मैं यह चुन लूं कि मैं दोनों नहीं हूं--न घृणा करने योग्य, न प्रेम करने योग्य; तब भी मैं खाली रह जाता हूं।
लेकिन हमारी तरकीब यह है कि हम अपने को समझ लेते हैं कि मैं समस्त सुखों को पाने का अधिकारी हूं, और अगर मुझे दुख मिलते हैं तो दूसरों की कृपा से; सदा दूसरे कारणभूत हैं।
इसलिए कोई आदमी यह नहीं पूछता कि संसार में सुख क्यों है। मुझसे लोग आकर पूछते हैं, संसार में इतना दुख क्यों है? अभी मुझे एक ऐसा आदमी नहीं मिला जिसने आकर पूछा हो कि संसार में इतना सुख क्यों है? उसको तो वह मानता ही है कि अधिकारी है, उसमें कोई पूछने का सवाल ही नहीं... टेकन फॉर ग्रांटेड। होना ही चाहिए, ऐसा है। दुख क्यों है, यह सवाल है। कोई मुझसे आकर नहीं पूछता कि आदमी जीता क्यों है? लोग पूछते हैं कि आदमी मरता क्यों है? मृत्यु क्यों है? जीवन तो होना ही चाहिए, लेकिन मृत्यु क्यों है? ऐसा लगता है कि जीवन तो हमारे भीतर है, मृत्यु कहीं बाहर से आती है। यह मजा है। तो मृत्यु को हम सदा दूर सोचते हैं... कहीं बाहर से आती है और हमको मार डालती है। और जीवन हम हैं, और मृत्यु कहीं बाहर है--कभी बीमारी की शक्ल में आती है, कभी जर्म्स की शक्ल में आती है, कभी दुश्मन की शक्ल में आती है, लेकिन है बाहर। आती है और हमको मार डालती है--इससे कैसे बचें? और हम हैं जीवन। हमारी सदा की तरकीब यह है कि जो प्रीतिकर है, जो सुखद है, उसे अपने से जोड़ लेते हैं, जो अप्रीतिकर है, दुखद है, उसे किसी और से जोड़ देते हैं। इसलिए धर्मों को ईश्वर के साथ-साथ शैतान की भी कल्पना करनी पड़ती है। इसी... इसी तर्क के कारण यह उपद्रव पैदा होता है कि बिना शैतान के जिंदगी को समझाना बहुत मुश्किल मालूम पड़ता है। भगवान दयालु है, समझ में आता है। लेकिन फिर एक छोटा सा बच्चा कैंसर से मर जाता है, तो अब क्या करो? इस बच्चे ने न अभी कोई पाप किया, न अभी इसने कोई चोरी की, न हत्या की, न कुछ किया, और यह कैंसर से मर गया! यह मरा हुआ ही पैदा हुआ। अगर मरा हुआ ही पैदा होना था, तो भगवान ने इसको पैदा ही किसलिए किया? जब मरा हुआ ही पैदा करना था तो यह नासमझी क्यों की? यानी कम से कम भगवान को तो इतना पता होना ही चाहिए कि मरा हुआ ही पैदा होगा तो यह पैदा करने का उपद्रव क्यों करना?
तो हमें एक दूसरा व्यक्तित्व खोजना पड़ता है, क्योंकि भगवान से हम अपने को जोड़ना चाहते हैं। अगर भगवान भी ऐसा करता है कि बच्चों को कैंसर दे देता है, बूढ़े मरना चाहते हैं और मर नहीं सकते, घसिटते रहते हैं, सड़ते रहते हैं; करोड़ों लोग भूखे हैं, रोज युद्ध होता है, लाखों लोग मरते हैं, कटते हैं। अगर भगवान को भी यह सब-कुछ है, तो फिर हम भगवान से अपने को एक नहीं कर पाएंगे। इसलिए भगवान को हमें बिल्कुल अच्छा बना कर रखना पड़ता है। अब यह बुरा कहां जाए? यह कौन कर रहा है? तो इसके लिए एक दूसरा भगवान पैदा करना पड़ता है। उसको हम शैतान कहते हैं। वह बुराई का भगवान है। वह करवा रहा है। डेविल--वह यह सब काम कर रहा है।
सिर्फ हिंदू धर्म एकमात्र धर्म है पृथ्वी पर, जिसने अपने परमात्मा में दोनों को रखने की हिम्मत की है--सिर्फ। इसलिए मैं मानता हूं कि हिंदू जितने गहरे जा सके हैं जीवन के सत्य को समझने में, उतना कोई भी नहीं जा सका।

जिसे हिंदुओं ने "महादेव" कहा है, "शिव" कहा है, उसे दोनों एक साथ कहा है--बनाने वाला भी, मिटाने वाला भी... वही। वही जहर भी, अमृत भी वही--एक। बड़ी हिम्मत की बात है यह कहनी। और ऐसे भगवान के साथ अपने को एक समझना बड़ी क्रांति है, क्योंकि हमारा सारा तर्क गिर जाएगा... वह जो तर्क है हमारा अच्छे को अपने साथ जोड़ने का और बुरे को कहीं और हटा देने का, वह तर्क गिर जाएगा। अगर आप चोरी करते हैं तो आप कहते हैं शैतान ने करवाई, और अगर प्रार्थना करते हैं तो आप कर रहे हैं! बहुत मजेदार आदमी हैं! अगर दान देते हैं तो आप दे रहे हैं, और चोरी करते हैं तो... यह संसार में बुराई की शक्तियां काम कर रही हैं, वे आपसे चोरी करवा रही हैं।
भले से हम अपने को जोड़ना चाहते हैं, बुरे से नहीं। लेकिन जगत दोनों का जोड़ है। या तो दोनों को इनकार कर दो या दोनों को स्वीकार कर लो--दोनों हालतों में दोनों से मुक्ति हो जाती है।
इस शरीर के साथ हमारा बंधन इसलिए निर्मित हो जाता है कि हम कहते हैं, सुख इससे मिलता है, दुख कोई दूसरे देते हैं। सुख इससे मिलता है; इसलिए दूसरों से बचो, या दूसरों को बदलते जाओ, या जब तक दूसरे सुख देते मालूम पड़ते हैं तब तक उनके साथ रहो, जब दुख देते मालूम पड़ते हैं तो उनसे हट जाओ। विवाह और तलाक की सारी व्यवस्था पति और पत्नी के बीच ही नहीं है, सभी संबंधों में है।... सभी संबंधों में है!
एक मित्र मेरे पास आते थे, सदा आकर कहते थे कि मेरी बुद्धि कैसे विकसित हो, विवेक कैसे जागे? मैं उनको कहता था, जागेगा, संभावना है, प्रयास करने चाहिए। बड़े खुश लौटते थे--संभावना से; जागता-वागता नहीं संभावना से, जगाना पड़ता है, लेकिन बड़े खुश लौटते थे। यह भी काफी उनकी प्रसन्नता थी। महीने-पंद्रह दिन में आकर मुझसे वे यह सुन जाते थे। इससे उनको फिर से गति मिल जाती थी दस-पंद्रह दिन वैसे ही रहने की, जैसे वे सदा से रहे हैं--यह भरोसा कि संभावना है, पंद्रह दिन वे फिर इस भरोसे में गुजार देते। जब उनका ईंधन चुक जाता, वे फिर आकर मुझसे पूछ जाते, फिर भरोसा ले जाते। काफी दिन यह चला, मैंने कहा कि अब यह कोई संभावना तो कोई वास्तविक भी बन नहीं सकती... इस ढंग से। एक दिन आए तो मैंने कहाः कोई संभावना नहीं है? उन्होंने कहाः क्या कहते हैं? पहले तो वे समझे ही नहीं, कहाः क्या कहते हैं? कोई संभावना नहीं? मैंने कहाः कोई भी संभावना नहीं; बुद्धि तुममें है ही नहीं, जो विकसित हो सके; और विवेक इतनी आसान बात नहीं। तुम्हारे बस की नहीं, तुम छोड़ों यह खयाल। एकदम चेहरे पर से उनका रंग उड़ गया; बड़े दुखी लौटे। अब मेरे खिलाफ हो गए हैं कि यह आदमी ठीक नहीं है। तब तक मैं आदमी ठीक था, जब तक कहता था संभावना है। प्रसन्न होकर वे लौटते थे--प्रफुल्लित, गदगद! अब मैं आदमी बुरा हो गया हूं। इस आदमी के पास नहीं फटकना--लोगों को समझाते हैं--यह आदमी ठीक नहीं है।
यह बड़े मजे की बात हैः मैं तब तक ठीक था जब तक सुखद था; और जब तक मैं सुखद था तब तक वे अपने को ही श्रेष्ठ मान रहे थे, क्योंकि संभावना है। अब मैं दुखद हो गया, क्योंकि मैंने कहा कि नहीं, कुछ उपाय है नहीं तुम्हारे साथ; तुम्हारा नरक निश्चित है।
हम उससे अपने को जोड़ना चाहते हैं, जिससे हमें लगता है, सुख मिल रहा है; उससे हम अपने को एक मानने लगते हैं; जिससे दुख मिल रहा है, उससे हम अपने को तोड़ना चाहते हैं। और चूंकि हम अपने शरीर को समझते हैं कि इससे सुख मिल रहा है, हम शरीर के साथ बंध जाते हैं।
आत्मा जब शरीर को समझने लगती है कि मैं शरीर ही हूं तो इसको ही उपाधि, बीमारी, दि वेरी डि.जी.ज, दि ओनली डि.जी.ज--एकमात्र बीमारी, ज्ञानियों ने कहा है। यही है उपाधि, यही है बीमारी। इस बीमारी से छूटने का एक ही उपाय है... कि शरीर से सुख भी मिलता है तो दुख भी मिलता है--इस पूरे सत्य को देख लें; तो सुख और दुख एक-दूसरे को काट देंगे, निगेट कर देंगे--और आपको लगेगा कि अब हम उसकी तलाश करें, जिससे न दुख मिलता, न सुख मिलता, जिससे आनंद मिलता है।
आनंद न दुख है, न सुख; आनंद दोनों का अभाव है। उस खोज पर हम निकलें।

आज इतना ही।

अब हम... अब हम कोशिश करें शरीर से थोड़ा पीछे हटने की।...

सर्वसार उपनिषद
नौवां प्रवचन

अज्ञान की पांच ग्रंथियां

मन आदिश्च प्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्वादिश्च
पुण्यादिश्चैतेपंचवर्गा इत्येषां पंचवर्गाणां
धर्मीभूतात्मज्ञानादृते न नश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेन
प्रतीयमान
आत्मोपाधिर्यस्तल्लिंग शरीरं हृदयगं्रथिरित्युच्यते।। 7।।
तत्र यत्प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते।। 8।।

मन आदि, प्राण आदि, इच्छा आदि, सत्व आदि और पुण्य आदि
के पांच समूहों को पंच वर्ग कहा जाता है।

इन पांच वर्गों के स्वभाववाला बनकर जीवात्मा
बिना ज्ञान के इनसे छुटकारा नहीं पा सकता।

मन आदि सूक्ष्म तत्वों की उपाधि जो आत्मा को सदैव लगी रहती
जान पड़ती है उसे लिंग शरीर कहा जाता है,
और वही हृदय की ग्रंथि है।

उसमें प्रकाशित जो चैतन्य है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

मनुष्य का बंधन मनुष्य के बाहर नहीं है। उसका कारागृह आंतरिक है-उसके
ही हाथों निर्मित, उसके अपने ही भीतर है। ऐसा लगता है कि हम बाहर जीते हैं; ऐसा लगता है कि बाहर सुख हैं, दुख हैं; ऐसा लगता है, बाहर उपलब्धि है, पराजय है, जीत है, सफलता-असफलता है-लेकिन, बस लगता है; है सब भीतर। दौड़ भी भीतर है, पहुंचना भी भीतर है, पराजित हो जाना भी भीतर है; जिस सुख को हम बाहर देखते हैं, वह भी भीतर अनुभव होता है; और जिस दुख हो हम बाहर पाते हैं, वह भी भीतर ही छिपता है।
प्रेमी भला बाहर दिखाई पड़ता हो लेकिन प्रेम की ग्रंथि भीतर है। और भीतर से प्रेम की ग्रंथि टूट जाये तो बाहर फिर कोई भी प्रेमी नहीं है। स्वर्ण बाहर दिखाई पड़ता है, लेकिन लालसा भीतर है। और लालसा खो जाये जो सोने और मिट्टी में फर्क क्या है? वह भेद लालसा का भेद है। विस्तार बाहर है, लेकिन बीज भीतर है।
ऋषि ने पांच बीमारियों की मूल ग्रंथियां कही हैं; फाइव बेसिक कॉम्प्लेक्सेस। पांच समूह हैं... मनुष्य की अगर हम उपाधि को, मनुष्य की व्याधि को, मनुष्य के अंतर रोग को अगर विभाजित करें, तो पांच वर्गीकरण हैं। एक-एक वर्गीकरण का थोड़ा-थोड़ा समझ लेना.जरूरी है।
पहला वर्गीकरण हैः मन आदि... मन और मन से संबंधित सारा विस्तार। मन को ग्रंथि कह रहा है-एक रोग, एक बीमारी-क्यों?
यदि हम एक सागर के तट पर खड.े होकर देखें... तूफान आया है, लहरें हैं जोर की, बड़ी आंधी है... सागर तो दिखाई ही नहीं पड़ता, बस कंपित लहरों का तांडव नृत्य दिखाई पड़ता है। इन लहरों में भी सागर है; ये लहरें भी सागर का ही रूप हैं-उस पर ही निर्मित हैं, उसका ही आकार हैं-लेकिन फिर भी यह लहरें सागर नहीं हैं; क्योंकि सागर बिना लहरों के हो सकता है... तूफान खो जाये, आंधी चली जाये, सागर शांत हो जाये, लहरें विदा ही जायेंगी, सागर फिर भी रह जायेगा।
इससे उलटा नहीं हो सकता... ऐसा नहीं हो सकता कि सागर खो जाये और लहरें
बच जायें। लहरें खो सकती हैं, सागर बच सकता है। सागर के बचने में लहरों के खोने से कोई बाधा नहीं पड़ती; लेकिन सागर खो जाये तो लहरें नहीं बच सकतीं।
इसलिए सागर मूल है, लहरें आती हैं और जाती हैं।

ठीक ऐसा ही समझें, मनुष्य की चेतना सागर है और मन उस पर उठी हुई लहरें हैं, आकृतियां हैं। इसीलिए कल मैंने आपसे कहा, शांत मन जैसी कोई चीज नहीं होती। शांत तूफान कभी देखा है? क्योंकि शांत तूफान कहने में कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। तूफान है तो शांत नहीं होगा, शांत है तो तूफान नहीं होगा। लेकिन हम कहते हैं कि "शांत मन"-शब्द की भूल है। मन जब तक होता है तब तक अशांति होती ही है। अशांति का नाम ही मन है। अशांति और मन, अस्तित्व का जहां तक संबंध है, पर्यावाची हैं-शब्दकोष में नहीं; शब्दकोष में अगर खोजने जाइयेगा, तो अशांति का कहीं भी अर्थ मन नहीं होगा; और मन का कहीं भी अर्थ अशांति नहीं होगा।
भाषा जो बनाते हैं, .जरूरी नहीं कि अस्तित्व को जानते हों। अस्तित्व
को जानते हैं जो, वे कहते हैं कि भाषा में कुछ कहना मुश्किल है इसलिए भाषा बनाते नहीं हैं। अस्तित्व का अनुभव तो यह है कि जहां अशांति है वहीं मन है- मन यानी अशांति। इसलिए "शांत मन" शब्द बिल्कुल ही विरोधाभासी है, कंट्राडिक्टरी है; हो नहीं सकता है। जैसे कोई स्वस्थ बीमारी नहीं होती, और जैसे कोई शांत तूफान नहीं होता, ऐसे ही कोई शांत मन भी नहीं होता।
बीमार स्वस्थ हो सकता है, ध्यान रखें बीमारी स्वस्थ नहीं हो सकती। बीमार स्वस्थ हो सकता है, क्योंकि बीमार बीमारी नहीं है, उस पर आयी हुई चीज है; आयी-गयी हो सकती है।
यह भी बड़े मजे की बात है कि बीमार बिना बीमारी के हो सकता है, लेकिन बीमारी बिना बीमार के नहीं हो सकती। मन के बिना चेतना हो सकती है, लेकिन मन चेतना कि बिना नहीं हो सकता है।
मन है एक बीमारी। ऋषि इसको एक ग्रंथि, एक बंधन, एक रोग, एक उपाधि मानकर चलते हैं।
मन है एक बीमारी। मन है चेतना की वह अवस्था जिसे हम कहें-विक्षुब्ध, विक्षिप्त, चंचल, लहरों से भरी। तो जब शांति उपलब्ध होती है तो मन खो जाता है, मन बचता ही नहीं; जब शांति खोती है तो मन हो जाता है।
अगर इसको और गौर से समझें, तो इसे ग्रंथि कहने का, कॉम्प्लेक्स कहने
का कारण है।
ग्रंथि को भी थोड़ा समझ लें, क्योंकि यह बहुत... बहुत कीमती शब्द है, योग
की दिशा में। इतना कीमती शब्द है कि जैनों ने तो महावीर जब परम ज्ञान को उपलब्ध हुए तो उन्हें नाम दिया "निर्ग्रंथ"... जो ग्रंथि से मुक्त हो गया; जिसके पास अब कोई गांठ न रही। इस गांठ को थोड़ा समझ लें।
गांठ बड़ी अदभुत चीज है। देखी आपने बहुत होगी गांठ, लेकिन ख्याल नहीं किया होगा। एक रस्सी पर आप गांठ बांध देते हैं। जब रस्सी पर आप गांठ बांधते हैं, तो रस्सी में कुछ परिवर्तन हो जाता है क्या? ... उसके स्वभाव में, उसके अस्तित्व में? क्या उसका वजन बढ़ जाता है? क्या उसका गुण बदल जाता है? क्या हो जाता है रस्सी में?
रस्सी में कुछ भी नहीं होता... और फिर भी बहत कुछ हो जाता है। रस्सी में कुछ भी नहीं होता, रस्सी में रत्तीभर न तो गांठ से कुछ जुड़ता है, न घटता है। रस्सी जैसी थी अब भी वैसी ही है, लेकिन फिर भी वैसी ही नहीं है-गांठ भरी है, उलझ गयी है। स्वभाव जरा भी नहीं बदलता, लेकिन उलझाव खड़ा हो सकता है बिना स्वभाव के बदले; स्वरूपतः कुछ भी नहीं बदला है रस्सी में, लेकिन सब बदल गया। रस्सी किसी काम की न रही; कुछ बांधना हो तो अब नहीं बांध सकते, क्योंकि रस्सी खुद ही बंधी है। रस्सी का कोई उपयोग नहीं रहा अब, लेकिन क्या उसके गुण में, धर्म में कोई अंतर पड़ा है? .जरा भी अंतर नहीं पड़ा।
और यह गांठ क्या है? क्या गांठ कोई वस्तु है? इसे और थोड़ा ठीक से समझ लें। क्या गांठ कोई वस्तु है? अगर वस्तु होती गांठ, तो रस्सी के बिना भी हो सकती थी। अलग निकालकर गांठ को रख देते, रस्सी को अलग करके चल देते। लेकिन रस्सी से गांठ अलग की नहीं जा सकती। इसका यह मतलब नहीं है कि रस्सी को गांठ से मुक्त नहीं किया जा सकता। रस्सी को गांठ से मुक्त किया जा सकता है, लेकिन गांठ को रस्सी से अलग नहीं किया जा सकता। आप निकालकर गांठ अलग और रस्सी अलग, ऐसा नहीं कर पायेंगे।

तो गांठ कोई वस्तु नहीं है, गांठ कोई पदार्थ नहीं है, गांठ का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है... गांठ केवल आकृति है, केवल रूप है-केवल रूप; जस्ट ए फॉर्म विदाऊट एनी सबस्टेंस इन इट-सिर्फ रूप... भीतर कुछ भी नहीं है उसके। भीतर तो रस्सी है, गांठ के भीतर कुछ भी नहीं है। गांठ खुद में कुछ भी नहीं है-कोरा रूप, कोरी आकृति है।
इसलिए इसे ऐसा समझें कि गांठ का अस्तित्व वस्तुगत नहीं है, केवल रूपगत है, सिर्फ रूपगत। इसलिए ऋषियों ने जगत को "नामरूप" कहा है-कहा है उसका अस्तित्व नहीं है, वह सिर्फ एक गांठ है। गांठ का नाम भी है, रूप भी है, लेकिन अस्तित्व बिल्कुल नहीं है। गांठ है-रूप भी है, नाम भी है, पहचानी भी जाती है, और बाधा भी डालती है; सुलझाई भी जा सकती है फिर भी नहीं है। गांठ माया है। जगत को जो जानते हैं, वे कहते हैं, वह नाम-रूप गांठ है; वह एक ग्रंथि है।
जैसा जगत के संबंध में सच है, ऐसा ही मनुष्य के संबंध में सच है। मनुष्य भी एक गांठ है-नाम-रूप। अगर गांठ खोल दें तो पीछे जो बचेगा वह परमात्मा है; आदमी सिर्फ गांठ है, आदमी सिर्फ एक ग्रंथि है-खोल दें गांठ, तो नहीं बचेगा... वह जो नामधारी था वह नहीं बचेगा, वह जो रूपधारी था वह नहीं बचेगा, वह जो कहता था "मैं" वह नहीं बचेगा; गांठ खुल गयी तो "मैं" गया सब गांठों का जोड़ है। यह जो पंचवर्ग की हम बात करेंगे, इन पांच गांठों के जोड़ का नाम "मैं" है।
मन को पहली गांठ कहता है ऋषि; क्योंकि मन है नहीं, सिर्फ आकृति है, रूप है। चेतना जब विक्षुब्ध है तो मन निर्मित हो जाता है-सिर्फ रूप। रात एक सपना बनता है, अस्तित्व नहीं है उसका कोई, रूप है। फिल्म देखने जाते हैं आप, परदे पर दिखाई पड़ता है सब कुछ, सिर्फ रूप है वहां, अस्तित्व नहीं है जरा भी। अस्तित्व भासता है। और बड़े बजे की बात है, बुद्धिमान आदमी भी रूमाल से अपनी आंख पोंछता हुआ फिल्म देखते देखा जा सकता है; बुद्धिमान आदमी भी रोता हुआ, हंसता हुआ देखा जा सकता है। और यह भलीभांति जानता है... कि परदे पर कुछ भी नहीं, फिर भी रूप धोखा दे जाता है होने का, जैसे है। और क्षण भर को जब हम आसक्त हो जाते हैं रूप से, या स्वयं को भूल जाते हैं जब, तब रूप बिल्कुल वास्तविक हो जाता है। फिल्म... अगर आप याद रख सकें, अब दुबारा कभी फिल्म देखने जायें तो एक प्रयोग करें-पूरे समय अपने को याद रखने की कोशिश करें और फिल्म को देखें, फिर अगर आंसू आ जायें तो असंभव है। आंसू आ सकते हैं एक ही व्यवस्था से कि आप अपने को भूल जायें-आप भूल ही जायें कि आप भी हैं वहां, द्रष्टा भी है वहां-फिल्म ही रह जाये... आप इतने तल्लीन हो जायें कि आपको यह याद भी न रहे कि मैं भी हूं, आया हूं देखने-यह भूल जाये; जो दिखाई पड़ता है वही सब कुछ हो जाये; दृश्य सब कुछ हो जाये और द्रष्टा भूल जायेत्तो आंख में आंसू भी आ सकते हैं, रोना भी हो सकता है, चित्त उदास भी हो सकता है, चित्त प्रसन्न भी हो सकता है... और वहां परदे पर कुछ भी नहीं है, और चित्त में सब कुछ हो सकता है।
मन भी रूप है। लेकिन वह जो भीतर बैठा हुआ द्रष्टा है, वह जो क्षेत्रज्ञ है, वह भूल जाता है कि मैं भी हूं। बस, इतनी विस्मृति और दृश्य सब कुछ हो जात हैं; फिर गांठ बंध जाती... फिर गांठ बंध जाती... फिर गांठ भारी हो जाती। और जन्मों-जन्मों से हम बैठे हैं उस सिनेमागृह में जिसका नाम मन है। बनती चली गयी है गांठ, रूप सघन होते चले गये हैं।
पागल को हम क्यों पागल कहते हैं? पागल को हम इसलिए पागल कहते हैं केवल... कि उसके पास हमसे जरा ज्यादा बड़ा मन है; और कुछ कारण नहीं है... जरा हमसे जरा ज्यादा बड़ा मन है। हम भीतर ही भीतर दृश्य देखते हैं, उसके पास हमसे ज्यादा समर्थ मन है; वह बाहर भी दृश्य देखने लगता है। आप भी अपने प्रियजन से भीतर-भीतर बातें करते हैं, पागल के पास आपसे ज्यादा और उसी दिशा में बढ़ा हुआ मन है; वह अपने प्रियजन से खुलेआम कमरे में बैठकर बात करता है जो वहां मौजूद नहीं है। आप भी करते हैं, आप जरा भीतर गुपचुप करते हैं। उसका प्रोजेक्शन, उसकी क्षमता प्रक्षेपण की आपसे ज्यादा बड़ी है। वह ज्यादा कुशल है। वह सामने कुर्सी पर बिठाकर ही बात करना शुरू कर देता है। फिर हम कहते हैं, यह आदमी पागल हो गया।

हममें उसमें कोई फर्क है-गुणात्मक? कुर्सी पर हम भी बिठाते हैं प्रियजन को, भीतर ही बिठाते हैं। हमारे प्रोजेक्शन की जो यंत्र-व्यवस्था है, थोड़ी कमजोर मालूम पड़ती है; उसकी भारी है। उसकी इतनी भारी है कि आप कमरे में आ जायें वास्तविक, तो आपकी फिक्र उसे कम होती है। वह जो कुर्सी पर बैठा है, नहीं जो है, उसकी ही चिंता उसे ज्यादा होती है।
बहुत कवियों ने लिखा है कुछ ऐसा, प्रेयसी के लिए... कि महफिल तो पूरी भरी रहती है, लेकिन तू उठ जाती है तो हमारे लिए फिर वहां कोई नहीं रह जाता; और तू अकेली ही वहां हो और कोई भी न हो, तो सारी दुनिया वहां है।
यह कवि भी थोड़ा सा पागल तो होता ही है। इसलिए जो हम नहीं देख पाते, वह देख पाता है; जो हम नहीं पहचान पाते, वह पहचान पाता है; जो हम नहीं बना पाते, वह बना पाता है। इसलिए कवि में और पागल में थोड़ा सा जातीय संबंध है। शायद कवि जो है वह व्यवस्थित पागल है, और पागल जो है, अव्यवस्थित कवि है; उसको व्यवस्था नहीं आती। लेकिन एक गुण उन दोनों में है, और वह गुण यह है कि जो नहीं है उसे वे देखने में समर्थ हैं।
मन, जो नहीं है उसको देखने का यंत्र है। और इसलिए मन पागल करनेवाली व्यवस्था है। मन स्वप्न का विस्तार ही है। यह पहली ग्रंथि है। और जो मन से बंधा है, वह स्वयं को कभी उपलब्ध नहीं हो सकता; क्योंकि मन से बंधने की एक ही व्यवस्था है और वह है स्वयं को भूल जाना। यह दोनों एकसाथ नहीं हो सकताः कि आप स्वयं को भी जान लें और मन को भी बचा लें। मन को बचाना है तो स्वयं को भूलना अनिवार्य है; उसे बिना भूले मन होता ही नहीं। और स्वयं को स्मरण करना है तो मन खोयेगा। स्वयं का बोध लाना है, जागना है उसको जो द्रष्टा है, तो दृश्य थोड़े ही दिन में फीके और नाम-रूप रह जायेंगे; उनमें कुछ सार नहीं रह जायेगा; उनकी कोई पकड़ नहीं रह जायेगी।
तो क्या करें? यह मन की पहली ग्रंथि है। इस ग्रंथि के भीतर अगर हम द्रष्टा को ला सकें तो यह ग्रंथि टूट जायेगी। द्रष्टा को लाना किसी भी ग्रंथि को खोलने का उपाय है; साक्षीभाव किसी भी ग्रंथि को सुलझाने का उपाय है। सुलझाना हम भी बहत चाहते हैं, इसलिए एक मजेदार घटना घटती है। हम सभी सुलझाना चाहते हैं उलझनों को-सभी। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है जो सुलझाना न चाहता हो उलझनों को, लेकिन फिर भी सुलझती क्यों नहीं हैं?
और अक्सर यह देखा जाता है कि सुलझानेवाले अंत में और बुरी तरह उलझा लेते हैं-बुरी तरह उलझा लेते हैं। सुलझाने की कोशिश से सुलझती मालूम नहीं पड़ती और उलझ जाती है... और सब सुलझाना चाहते हैं। तो.जरूर कहीं कोई बुनियादी भूल होती है।
हम सब सुलझाना चाहते हैं, लेकिन साक्षी को बिना जगाये। मन से ही मन को सुलझाना चाहते हैं, यहीं भूल हो जाती है। मन उलझाव है, इसलिए मन से कोई सुलझाव नहीं हो सकता। और हम मन से ही मन को सुलझाने की कोशिश करते हैं। जैसे कोई अपने हाथ से अपने ही उसी हाथ को पकड़ने की कोशिश करता रहे; जैसे चमीटे से उसी चमीटे को कोई पकड़ने की कोशिश करता रहे; जैसे कोई चश्मा लगाकर उसी चश्मे को खोजता रहे, कि कहां है! खोजते हैं कुछ लोग। कोई बहुत कठिनाई नहीं है। जहां तक मन का संबंध है हम सभी यही करते हैं।
कुत्ते को देखा कभी न पूंछ पकड़ते आपने? बैठा है सुबह सड़क पर, सुबह सूरज उगा है, कुत्ता बैठा है फुर्सत में, पूंछ पड़ोस में उसके पड़ी है-उसी की पूंछ-झपटकर पकड़ता है। झपटता है पूंछ उछल जाती है। स्वभावतः, कुत्ते को क्रोध आता है... और चेलैंज, और चुनौती भी हो जाती है कि हद हो गयी! एक जरा सी पूंछ है पकड़ में नहीं आती! कुत्ता और ताकत से कूदता है; वह और ताकत से कूदता है, पूंछ उतनी ही ताकत से उछल जाती है। यह भारी दुश्मनी पैदा हो जाती है। लेकिन उसकी ही पूंछ, वही पकड़नेवाला है। यह पकड़ आनेवाली नहीं। थकेगा। क्योंकि उसे पता नहीं कि पकड़ने के लिए जो वह छलांग ले रहा है, वही छलांग पूंछ की कूदने की छलांग बन जाती है; वे दो चीजें नहीं हैं।
तो जिस मन से आप सुलझाने चलते हैं, वह मन ही उलझाने का यंत्र है। तो आप
जो भी उससे करते हैं उससे और उलझता ही चला जाता है।
इसलिए आप जानें कि जितना मन विकसित होता है, उतनी पागलों की संख्या बढ़ जाती है; जितना मन अविकसित होता है, पागलों की संख्या कम होती है। आदिम

समाज पागल बहुत कम पैदा करते हैं। और समाजशास्त्री कहते हैं कि बहुत प्राचीन समय में, जब कि आदिम समाज कभी-कभी किसी को पागल पैदा कर पाता था, तो उसको पागल नहीं कहते थे, वह आदमी पूज्य हो जाता था; क्योंकि वह रेयर... वह आदमी विशिष्ट था। इसलिए आदिम समाज में पागल जो था वह पैगंबर भी हो सकता था, पागल जो था वह पूज्य हो जाता था; क्योंकि जो किसी के पास नहीं था, ऐसा गुणधर्म उसके पास आ जाता था।
अब हमें पागलों के बाबत बड़ी मुश्किल खड़ी हो गयी है; अब कोई पागल को पैगंबर मानने को तैयार नहीं है, बल्कि पैगंबर को पागल मानने को बहुत लोग तैयार हैं। बिल्कुल हालत बदल गयी है, बिल्कुल हालत बदल गयी है। और पागलपन इतना धीरे-धीरे स्वाभाविक होता चला जा रहा है... कि जैसे बड़े अमीर आदमी भारत में गौरव से कह सकते हैं कि फलां बड़ा डॉक्टर हमारा प्राइवेट फिजिशियन है, ऐसा अमरीका में बड़ा आदमी अब कह पाता है कि फलां बड़ा मनोवैज्ञानिक हमारा प्राइवेट सायकियाट्रिस्ट है, हमारा निजी मनोचिकित्सक है। सिर्फ गरीब आदमी दीन रह जाते हैं, वे नहीं कह पाते कि हमारा कोई निजी मनोचिकित्सक है। उनको तो अभी अस्पताल जाना पड़ता है, जहां जनसमूह की भीड़ में खड़े होकर मन की चिकित्सा करवानी पड़ती है।
यह कभी कोई सोच भी नहीं सकता था कि ऐसा वक्त भी आयेगा कि कोई आदमी गौरव
से कहेगा। पश्चिम में आज यह हालत हो गयी है कि लोग एक-दूसरे से पूछने लगे हैं, मनोविश्लेषण करवाया या नहीं? जिसने नहीं करवाया वह दीन अनुभव करता है। इसका मतलब यह है कि वह अफोर्ड नहीं कर सकता, क्योंकि मनोविषण महंगी चीज है; मन का विषण बड़ी महंगी चीज है-पांच साल, तीन साल दो साल लगते हैं; ह.जारों डॉलर का खर्च भी है।
तो जो बहुत समृद्ध हैं, वे कहते हैं, एक बार नहीं, तीन बार करवा चुके हैं। जो बहुत समृद्ध हैं वे नियमित करवाते ही रहते हैं। बंधा हुआ वक्त है उनका... हर सप्ताह दो बार मनोचिकित्सक के पास जाना और मन का विषण करवाते रहना।
मन का रोग इतना सामान्य हो जायेगा यह कभी सोचा नहीं था। लेकिन होने का
एक ही कारण है कि अगर आप शिक्षा देंगे, विचार देंगे, संस्कृति देंगे, सभ्यता देंगे, प्रत्येक व्यक्ति को बहुत कुछ सिखायेंगे, मन विकसित होगा; गांठ सघन हो जायेगी। और जब मन विकसित होगा तो उसकी और क्षमताएं भी जो हैं प्रोजेक्ट करने की, वे भी विकसित हो जायेंगी। वे इतनी विकसित हो जा सकती हैं कि आपको अपने मन से तृप्ति ही मालूम न पड़े और आपको मन के लिए और सहारे की.जरूरत पड़ जाये। एल. एस. डी और मारीजुआना, इसी तरह की चीजें हैं, जो आपके मन को और भी ज्यादा प्रोजेक्टिव कर देती हैं। जो रंग आपने कभी नहीं देखे अपने मन से वे आपको एल. एस. डी. के प्रभाव में दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं; जो सौंदर्य आपने कभी नहीं देखा वह चारों तरफ फैल जाता है।
हक्सले ने अपने संस्मरणों में लिखा हैः कि जब मैंने पहली दफा मेस्कलीन लिया तो मेरे सामने जो कुर्सी रखी थी वह थोड़ी ही देर में ऐसी सतरंगी हो गयी कि मैंने कोई इंद्रधनुष नहीं देखा है। कुर्सी! थोड़ी ही देर में उसमें किरणें प्रगट होने लगीं।
वॉनगान ने-पश्चिम के एक बहुत बड़े चित्रकार ने-कुर्सी नाम का एक चित्र बनाया है। उसकी कुर्सी को मानने को कोई तैयार नहीं था जब तक हक्सले ने अपना संस्मरण नहीं लिखा। डेढ़ सौ साल पहले बनाया उसने। क्योंकि उसकी कुर्सी इतनी रंग-बिरंगी थी जैसी कुर्सी होती नहीं। उसने इंद्रधनुष खींचा था। लोगों ने कहा, सिर्फ कल्पना है। ऐसी कहीं कुर्सी होती है! लेकिन जब आल्डुअस हक्सले ने अपना मेस्कलीन का संस्मरण लिखा, उसमें लिखा कि मेस्कलीन के प्रभाव में मेरे सामने की कुर्सी खो गयी, और ऐसी अलौकिक, और ऐसी पारदर्शी, और ऐसी सतरंगी कुर्सी वहां खड़ी हो गयी... कि उस क्षण में मैं मर जाता, तो मुझे ऐसा न लगता कि मैंने कुछ भी अनुभव खोया है; वह अनुभव कुर्सी का इतना प्रगाढ़ था, और इतना तीव्र था... !
उसकी कुर्सी के अनुभव के बाद यह ख्याल आया कि अगर एक आदमी मेस्कलीन लेकर-और हक्सले जैसा बुद्धिमान आदमी-अगर कुर्सी में ऐसे रंग देख सकता है, तो कोई आश्चर्य नहीं कि वॉनगान जैसा चित्रकार बिना मेस्कलीन लिए कुर्सी

में ऐसे रंग देख पाया हो। लेकिन वॉनगान पागल होकर मरा, क्योंकि मन अराजक हो गया... वह वह सब देखने लगा जो नहीं है; वह वह सब देखने लगा जो भीतर से ही बाहर की तरफ फैला जाता है और आरोपित हो जाता है।
हम सब भी छोटे-मोटे रूप में यह काम जारी रखते हैं। जब एक रुपये को प्रेम करनेवाले आदमी के हाथ में रूपया होता है, तो आप यह मत सोचना कि जितना आपको दिखाई पड़ रहा है उतना ही होता है; कुछ उसे दिखाई पड़ता है जो, जिसने रूपये को प्रेम नहीं किया उसे कभी पता ही नहीं चल सकता। वह सिर्फ उसी को दिखाई पड़ता है।
मैं एक सज्जन को जानता हूं; दूसरे के नोट को भी वे हाथ में लेते हैं तो ऐसे कि कोई प्रेमी क्या अपनी प्रेयसी को ऐसे अपने हाथ में लेगा! उसे ऐसा उलट-पुलटकर देखते हैं कि किसी कवि ने कभी किसी फूल को नहीं देखा होगा। उनके चेहरे से सब कुछ टपकता हआ मालूम पड़ने लगता है उस रुपये पर। उनके बीच एक ऐसा... रॅपॉर्ट... रूपया और उनके बीच ऐसा संबंध जुड़ जाता है, जो कि कल्पनातीत है।
अब इस आदमी को लोग कहेंगे, कंजूस है, क्योंकि वह पैसा खर्च नहीं कर सकते; पैसा खर्च करना असंभव है। लेकिन हमें पता ही नहीं कि वे किस कविता में जी रहे हैं! वे किस काव्य का अनुभव कर रहे हैं, हमें पता ही नहीं। उनकी हालत वही है जो किसी कवि की होती है।
कवि को हम आदर देते हैं, उनको हम आदर नहीं देते, उसका कारण कुल इतना है
कि कवि हमसे कुछ नहीं छीनता, वे रुपये छीन लेते हैं; और कोई फर्क नहीं है। कवि को हम कहते हैं कि ठीक है, देखो सपने आकाश में, कोई हर्जा नहीं; क्योंकि किसी के सपने तो नहीं छीनता। यह आदमी भी सपने देख रहा है रुपये में; लेकिन यह जरा उपद्रवी मालूम पड़ता है, इसलिए समाज इसको घृणा करेगा... क्रोध करेगा कि यह आदमी बुरा है, पापी है। मगर इसमें और कवि में कोई फर्क नहीं। फर्क इतना ही है कि इसकी कविता का ऑबजेक्ट रूपया है। इनका जो रोमांस है वह रूपये के साथ चल रहा है।
इसलिए जो रुपये को प्रेम करता है, वह फिर किसी को प्रेम नहीं कर पाता। फिर किसी प्रेम की.जरूरत ही नहीं है; वह इतने बड़े प्रेम में पड़ा हुआ है कि अब कोई पत्नी, कोई बेटा, कोई साहित्य, कोई धर्म-सब गौण है।
मन ग्रंथि बनता है, क्योंकि मन के विस्तार में द्रष्टा भूल जाता है।
जब यह आदमी रुपये को देख रहा होता है, तब यह मानना बिल्कुल असंभव है कि
यह आदमी होता भी है; रुपया ही होता है-और इसके भीतर कोई देखनेवाला नहीं होता; इसे यह साफ नहीं होता कि मैं देखनेवाला हूं; और रुपया मुझ से अलग है, ऐसा नहीं मालूम पड़ता। यह आदमी रुपया ही हो जाता है।
मन का अर्थ हुआ... चेतना जब भी द्रष्टा को भूल जाती है, साक्षी को भूल जाती है, तभी तरंगित होकर उपाधिग्रस्त हो जाती है-यह पहली ग्रंथि है। प्राण-दूसरी ग्रंथि कहा ऋषि ने। प्राण... हम सब प्राण से भी बड़ी बुरी तरह आकर्षित हैं। प्राण से आकर्षण का अर्थ होता है; जीवेषणा... जीवेषणा- लस्ट फॉर लाइफ; जीओ! किसी भी तरह जीओ! बिना इसकी फिक्र किये कि क्यों? कोई आदमी नहीं पूछता कि क्यों? बस जीओ। जैसे जीना अपने आप में पर्याप्त है। एक आदमी सड़क पर भीख मांग रह है-घुटने टूट गये हैं, हाथ-पैर गल गये हैं, नाली में पड़ा है, सड़ रहा है, कीड़े पड़ गये हैं-उससे भी कहो कि मरना चाहते हो तो वह आपको क्रोध से देखेगा। और ऐसा नहीं कि वह कोई गलती कर रहा है; क्योंकि कीड़े कितने ही पड़ गये हों, जीवेषणा नहीं सड़ती है; वह जो जीने की आकांक्षा है वह उतनी ही उसके भीतर है जितनी आपके। और हो सकता है, और भी ज्यादा हो; क्योंकि बुझती हुई दीये कि लौ और भी भभककर जलती है; और सुबह होने के पहले अंधेरा और गहरा हो जाता है। हो सकता है, मौत को एकदम करीब पाकर वह भरसक अपनी पूरी चेष्टा जीने की कर रहा हो जो आपने कभी न की हो। आप कल की प्रतीक्षा भी कर सकते हैं, उसके लिए कल भी नहीं है। जीना है... किसी भी मूल्य पर जीना है। और यह आश्चर्य की बात है कि आदमी को किसी भी मूल्य पर जीने के लिए राजी किया जा सकता है। इसलिए दुनिया में इतने उपद्रव घट सके, नहीं तो नहीं घट सकते थे।

पांच हजार साल तक हम शूद्रों को बिल्कुल जमीन पर कीड़ों की तरह रगड़वा सके; कोई और कारण नहीं है सिवाय इसके कि जीवेषणा इतनी प्रबल है कि कोई भी स्थिति में वह आदमी जीना ही चाहेगा। दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों को गुलाम रखा जा सका पशुओं की तरह, उसका कोई और कारण नहीं है, इसका कारण सिर्फ इतना नहीं है कि दुनिया में बहुत शरारती और दुष्ट लोग थे। नहीं, इसका बहुत गहरा कारण यह है कि कोई भी आदमी किसी भी शर्त पर जीने को राजी किया जा सकता है, क्योंकि जीवेषणा इतनी प्रबल है। जीवेषणा इतनी प्रबल है कि अगर कोई कहे कि घिसटो, जिंदगी भर उठ नहीं सकते घुटने के ऊपर, पैर पर खड़े नहीं हो सकते, घुटने से ही घसिटना पड़ेगा। तो भी आदमी राजी हो जायेगा... वह कहेगा, ठीक है, मरने से तो यही बेहतर है। मरने से कुछ भी बेहतर है।
जीवेषणा का अर्थ हुआ कि मरने से कुछ भी बेहतर है। जीना... किसी भी शर्त
पर हम राजी हैं। इतनी जीवेषणा अगर हो-और हैत्तो आदमी अंतर की यात्रा पर नहीं जा सकता। तब वह शरीर से बंधा रहेगा, मन से बंधा रहेगा, प्राण से बंधा रहेगा-वह इतने जोर से बंधा रहेगा कि हिल भी नहीं सकता पीछे; इतने जोर से जकड़े रहेगा सबको कि कुछ छूट न जाये हाथ से; नहीं तो कहीं खो न जाऊं।
मेरे पास लोग ध्यान करने आते हैं। ध्यान में अनिवार्यरूप से एक क्षण आता है, जब आदमी जीते जी मृत्यु से गुजरता है; अनिवार्य वह वक्त आ जाता है भीतर, जब उसे लगता है कि यह तो मौत घटने लगी; अब जैसे मैं मरा। लोग आते हैं मेरे पास; वे कहते हैं, हम ध्यान सीखने आये थे, हम कोई मरने नहीं आये हैं। और यह क्या हो रहा है भीतर? ऐसा लगता है कि यह कहीं मर तो नहीं जायेंगे? मैं उनको कहता हूं कि वही क्षण कीमत का है; मर ही जाओ भीतर। डरो मत, उसको भी राजी हो जाओ। तो फिर तुम कभी नहीं मरोगे। मगर वे मुझसे पूछते हैं, कोई और तरकीब नहीं है? यह भीतर डूबना, यह मिटना-इससे किसी तरह... और कोई रास्ता सरल...
नहीं, कोई रास्ता नहीं है। ध्यान मृत्यु का अनुभव है-स्वेच्छा से। मृत्यु तो आती ही है, लेकिन तब ध्यान का अनुभव नहीं हो पायेगा। मृत्यु तो कई बार आयी है, कितनी बार हम मरे नहीं! और कितनी बार अभी हम मरेंगे नहीं! मरते ही हम रहेंगे, क्योंकि जीवेषणा और कुछ नहीं करवा सकती-मृत्यु और जन्म... मृत्यु और जन्म... मृत्यु और जन्म! जीवेषणा थका डालती है... और जीने का काम तो पूरा हो नहीं पाता, जीवन का अनुभव नहीं हो पाता; शरीर चुक जाता है, जीवेषणा नहीं चुकती। फिर जीवेषणा नया शरीर पकड़ लेती है-पकड़ती चली जाती है... और हर बार मरना पड़ता है। जीवेषणा की ही मृत्यु होती है बार-बार; लेकिन फिर भी वह मरती नहीं, प्रबल है-और बार-बार फिर पुनः पुनर्जीवित हो जाती है। ध्यान में भी वही घटता है जो मृत्यु में, लेकिन मृत्यु में घटता है जबरदस्ती। इसलिए मृत्यु में लोग बेहोश हो जाते हैं; अधिकतम लोग बेहोश मरते हैं। और जो बेहोश मरता है, उसका दूसरा जन्म नि9 चत है; जो होश से मर सकता है, उसका दूसरा जन्म समाप्त हुआ। बेहोश मरते क्यों हैं हम? बेहोश मरना कोई मृत्यु की अनिवार्यता नहीं है। बेहोश मरते हम इसलिए हैं कि जीवन की एक, एक सुरक्षा की व्यवस्था है। कभी-कभी लोग कहते हैं एक-दूसरे से कि मैं बहुत असह्य दुख भोग रहा हूं। यह बिल्कुल झूठ हैं, क्योंकि असह्य दुख कोई भोगता ही नहीं। असह्य दुख होने के पहले ही आदमी बेहोश हो जाता है। यह बिल्ट इन, यह व्यक्ति के भीतर सुरक्षा का आयोजन है... जैसे ही सहने की सीमा के पार दुख जाता है कि आप बेहोश हो जाते हैं। असल में बेहोशी का मतलब ही यह है कि दुख सहने की सीमा के पार गया, अब होश में नहीं रहा जा सकता; अब बेहोश होकर ही सहा जा सकता है। इसलिए बेहोश हो जाते हैं।
इसलिए हम ऑप्रेशन में बेहोशी का उपयोग करते हैं। सर्जरी में आदमी को पहले बेहोश करते हैं, क्योंकि असह्य दुख बीच में घटित होगाः और उसके लिए बेहोशी दे देनी पहले से ही उचित और उपयोगी है। तो प्रकृति की भी भीतरी सर्जिकल व्यवस्था हैः जब भी दुख असह्य होता है, हम बेहोश हो जाते हैं। इसलिए असह्य दुख का अनुभव किसी ने किभी नहीं किया है। जिन दुखों का आपने अनुभव किया है, वे सब सहनीय थे; नहीं तो आप बेहोश हो गये होते।
मृत्यु सबसे बड़ा सर्जीकल ऑप्रेशन है... एक चेतना को एक पूरे शरीर से निकाला जाता है। बाकी किसी... किसी सर्जीकल ऑप्रेशन में, किसी ऑप्रेशन-

101

टेबल पर जो भी ऑप्रेशन होते हैं, सब आंशिक हैं। कभी कोई हड्डी निकाली जाती है, कभी कोई हिस्सा निकाला जाता है, कभी कोई टुकड़ा, कभी कुछ-लेकिन मृत्यु पूरी चेतना को इस शरीर से अलग करती है... और उस चेतना को जो इतने जोर से शरीर को जकड़े हुए है कि असह्य पीड़ा की संभावना पैदा होती है, इसलिए बेहोश हो जाते हैं। सिर्फ बुद्ध जैसा व्यक्ति बेहोश नहीं मरता।
और दूसरी मजे की घटना घटती हैः जो व्यक्ति बेहोश नहीं मरता उसे अपनी मृत्यु का पूर्व-स्मरण सहज ही हो जाता है। वह भी भीतरी व्यवस्था है, आपको मृत्यु की खबर नहीं दी जाती, क्योंकि खबर अगर मिल जाये तो आप मरने के पहले मर जाओगे-पता चल जाये कि सात दिन बाद मरना है, तो यह सात दिन इतनी भयंकर मृत्यु होगी जिसका हिसाब नहीं। इसलिए आप भरोसे योग्य नहीं हो, आपका शरीर भी आपको खबर नहीं देता; आपका शरीर भी आपसे छिपाता है। जो आदमी होशपूर्वक मर सकता है, उसे पता हो जाता है।
बुद्ध मरने के दिन कहते हैं कि आज अब मैं विदा होता हूं, तुम्हें कुछ आखिरी बात तो नहीं पूछनी? पूछने का तो सवाल न रहा, लोग तो रोने लगे, चीखने- चील्लाने लगे; बुद्ध ने कहा, समय मत खोओ; यह तुम पीछे भी कर सकते हो, इतनी जल्दी कुछ नहीं; मेरा समय चुका जा रहा है, तुम्हें कुछ पूछना तो नहीं है? पर वे तो इतने विह्ल हो गये हैं... क्या पूछना, क्या ताछना? ये सब फुर्सत की बातें हैं पूछना वगैरह। और यह बुद्ध भी कैसा आदमी है! यह कोई वक्त है? आनंद कहता है, कोई प्रश्न ही नहीं सूझता।
बुद्ध तीन बार पूछते हैं और फिर कहते हैं, तब ठीक है, तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करूं।
वे वृक्ष के पीछे चले गये हैं, आसन लगाकर बैठ गये हैं, आंख उन्होंने बंद कर ली। और बुद्ध की कथा कहती हैः वे धीरे-धीरे मृत्यु में प्रवेश करने लगे। पहला चरण पूरा... मृत्यु के चार चरण बुद्ध ने कहे हैं। वे ही चार चरण ध्यान के चार चरण भी हैं। पहला चरण पूरा किया, दूसरा चरण पूरा किया, वे तीसरे चरण को पूरा ही कर रहे हैं तब गांव से एक आदमी भागा हुआ आया, और उसने कहा कि मैंने सुना है कि बुद्ध की मृत्यु का दिन आ गया; मुझे कुछ पूछना है। लोगों ने कहा, अब तुम चुप हो जाओ, अब तुम बहुत देर करके आये हो; अब तो वे भीतर की उस यात्रा पर निकल भी चुके...
बुद्ध के लिए मृत्यु भी एक यात्रा है-एक सचेतन यात्रा। यह कोई मौत नहीं है जो बुद्ध पर आ रही है, यह बुद्ध हैं जो मौत में जा रहे हैं। इस फर्क को ठीक से समझ लेंः यह कोई मौत नहीं है जो बुद्ध पर आ रही है। मौत हम पर आती है; हम तड़फड़ाते रहते हैं और वह आयी चली जाती है। ये बुद्ध हैं जो मौत में जा रहे हैं एक-एक कदम। भिक्षुओं ने कहा कि अब नहीं...
उस आदमी ने कहा, लेकिन नहीं, मैं रुक नहीं सकता, मुझे पूछना ही है; क्योंकि पता नहीं, अब कितने जन्मों के बाद बुद्ध जैसे व्यक्ति की फिर से उपलब्धि होगी। और यह मेरा प्रश्न...
तो उन्होंने कहा, लेकिन नासमझ! कितने दिन से बुद्ध इस गांव में रुके हैं? उसने कहा कि यह सवाल ही नहीं... बुद्ध, पहले तीस साल से मैं उनको जानता हूं, इस गांव से निकलते रहे हैं, लेकिन दुकान पर कभी भीड़ थी, कभी ग्राहक थे, कभी घर में बच्चा बीमार था, कभी लड़की की शादी थी-मैंने सोचा, कभी... फुरसत से, सुविधा से... लेकिन अब तो कोई उपाय ही नहीं है, वे मरने के ही करीब हैं। और बुद्ध वापिस लौट आये वृक्ष के पास से और उन्होंने कहा कि मत रोको उसे; अभी मैं तीसरे में ही था, अभी चौथे में नहीं पहुंचा था... और मेरे नाम पर यह बदनामी न रह जाये कि मैं जिंदा था और एक आदमी पूछने आया और बिना उत्तर के वापिस लौट गया। तो इसका उत्तर पूछ लेने दो।
यह भी एक मरना है। लेकिन यह मरना उसी को उपलब्ध होता है, जो इसके पहले ध्यान में मरना सीख गया हो। जो ध्यान के चरण हैं, वे ही मृत्यु के चरण हैं; क्योंकि ध्यान भी शरीर से छुड़ाकर वहां ले जाता है जहां चेतना का केंद्र है और मृत्यु भी शरीर से छुड़ाकर वहां ले जाती है जहां चेतना का केंद्र है। लेकिन मृत्यु में आप बेहोश हो गये होते हैं, क्योंकि वह आपकी इच्छा के विपरीत होती है; और ध्यान में आप होशपूर्वक होते हैं, क्योंकि वह स्वेच्छा की गति है।

प्राण दूसरी... जीवेषणा दूसरी हमारी ग्रंथि है।
तीसरी ग्रंथि हैः इच्छा आदि-डि.जायरिंग, वासना, कामना, तृष्णा।
ऐसा कोई क्षण आपने जाना है, जब आपके भीतर कोई इच्छा न रही हो? अगर एक क्षण को भी आप इस अवस्था में आ जायें जब कह सकें मेरे भीतर इस क्षण कोई भी इच्छा नहीं, तो उसी क्षण आप परमात्मा हो जाते हैं। लोग कहते हैं, परमात्मा कहां है? खोजना है; परमात्मा को पाने की बड़ी इच्छा है। इच्छा की वजह से ही न पा सकेंगे। इतनी सी इच्छा भी छोटी नहीं है, काफी है।
इच्छा का अर्थ यह है... कि जो है उसमें मुझे रस नहीं है, जो होना चाहिये उसमें मुझे रस है। इच्छा का अर्थ क्या है? तृष्णा किसे कहते हैं हम? जो है उसमें मुझे कोई रस नहीं है, जो होना चाहिए उसमें मुझे रस है। और जब वह होगा तब उसमें भी मुझे रस नहीं होगा, क्योंकि तब फिर वह मौजूद हो जायेगा; मुझे उसमें रस है जो मौजूद नहीं है। मुझे सदा आगे... आगे... मुझे आगे रस है।
तो इच्छा हमेशा तनी रहती है भविष्य के लिए और वर्तमान को चूकती चली जाती है। और जो भी है वह अभी है और यहीं है।
इसलिए इच्छा से ग्रसित व्यक्ति ग्रंथि से बंधा हो जाता है... जितनी ज्यादा इच्छाएं उतनी ग्रंथियां; जितनी बड़ी इच्छाएं उतनी ग्रंथियां। और हम तो सिर्फ इच्छाओं के पुंज हैं-सब अधूरी इच्छाओं के, क्योंकि कोई इच्छा पूरी होती नहीं। इच्छाएं... इच्छाएं... और उनका हम पुंज हैं। हम सिर्फ मांग हैं... हजारों तरह के भिखारी हमारे भीतर खड़े हैं; एक-एक इच्छा एक-एक भीख के लिए मांग कर रही है। कुछ मिलता नहीं, भिक्षा के पात्रों का ढेर है भीतर; सब खाली हैं और हम भागे चले जाते हैं। और भिक्षा के पात्र रोज-रोज इकट्ठे करते चले जाते हैं।
कोई पुरानी इच्छा तो पूरी नहीं होती, लेकिन नयी इच्छाएं संगृहीत होती चली जाती है; क्योंकि इच्छा को जन्म देना एकदम आसान, इच्छा को पूरा करना एकदम असंभव। चारों तरफ जो भी दिखाई पड़ता है, सभी की इच्छा बन जाती है-यह भी होना, यह भी होना, यह भी होना-और मजा यह है कि अब तक जितनी इच्छाएं बनाईं, उसमें एक भी पूरी नहीं हई है, और ये सब अधूरी इच्छाएं इकट्ठी होती चली जाती हैं। तब हम सिर्फ एक भिक्षा के पात्र रह जाते हैं-एक भिखारी!
बुद्ध अपने संन्यासियों को भिक्षु कहते थे। खूब मजाक किया उन्होंने। दिस इ.ज वेरी आयरॉनिकल। और मजाक में ही कहा, लेकिन मजाक गहरा है और गंभीर है।
बुद्ध एक गांव में गये हैं, भिक्षा का पात्र लेकर भीख मांगने निकले हैं, और गांव का जो बड़ा धनपति है, नगरसेठ है, उसने कहा कि क्यों? तुम जैसे सुंदर-सर्वांग सुंदर व्यक्तित्व था बुद्ध का; शायद उस समय वैसा सुंदर व्यक्ति खोजना मुश्किल था-त्तुम जैसा सुंदर व्यक्ति, और तुम भीख मांगते हो सड़क पर भिक्षा का पात्र लेकर? तुम सम्राट होने योग्य हो। मैं नहीं पूछता, तुम कौन हो, क्या होत्तुम्हारी जाति, तुम्हारा धर्म, तुम्हारा कुल; मैं तुम्हें अपनी लड़की से विवाहे देता हूं; और मेरी सारी संपत्ति के तुम मालिक हो जाओ, क्योंकि मेरी लड़की ही अकेली संपदा की अधिकारिणी है।
बुद्ध ने कहा, काश! ऐसा सच होता कि मैं भिक्षु होता और तुम मालिक होते! बाकी तुम सबको भिखारी देखकर और अपने को मालिक समझता देखकर हमने भिक्षा का पात्र हाथ में लिया है; क्योंकि अपने को मालिक कहना ठीक नहीं मालूम पड़ता, तुम सभी अपने को मालिक कहते हो-हम भिखारी हैं; क्योंकि जिस दुनिया में भिखारी अपने को मालिक समझते हों, उस दुनिया में मालिकों को अपने को भिखारी समझ लेना ही उचित है।
अनूठी घटना घटी थी इस जमीन पर। इतने बड़े सम्राट दुनिया में बहुत कम पैदा हुए हैं जो भिक्षा मांगने की हिम्मत कर सके हों। और अकेला भारत जमीन पर एक देश है जहां बुद्ध और महावीर जैसा व्यक्ति सड़क पर भिक्षा मांगने निकला है-अकेला! बिल्कुल अकेला! लेकिन यह किसी भीतरी मालकियत की खबर है। और यह बड़ा व्यंग्य है हम सब पर। भारी व्यंग्य है।
जिनके भीतर भिक्षा के पात्र ही पात्र भरे हैं, वे मालिक होने के वहम में जीते हैं; और जिनके भीतर से सारी तृष्णा चली गयी, वे भिक्षा का पात्र लेकर सड़क पर निकलते हैं। साईकोड्रामा है। यह बहुत मजे का व्यंग्य है। और

बुद्ध जैसे व्यक्ति के व्यंग्यों को भी हम नहीं समझ पाते, यह बड़ी अड़चन हो जाती है।
वासना, इच्छा, तृष्णा-मांग... मांग... और मांग। जो मांगता ही चला जाता है
वह बाहर की यात्रा पर ही भटकता रहेगा। भीतर तो वही आता है जो मांगना बंद कर देता है।
तो "इच्छा" को तीसरी ग्रंथि कहा है।

आज इतना ही।
दो सूत्र रह गये हैं, वह कल सुबह हम बात करेंगे।

सर्वसार उपनिषद
दसवां प्रवचन

साक्षी, कूटस्थ और अंतर्यामी

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभाव ज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते।। 9।।
ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणि- बुद्धिष्ववशिष्टतयोपलभ्यमानः
सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा
कूटस्थ इत्युच्यते।। 10।।
कूटस्थोपहित भेदानाम
स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणेसूत्रमिव
सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूत्वेन सदा काशते
आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते।। 11।।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की उत्पत्ति तथा लय को जाननेवाला
फिर भी स्वयं उत्पत्ति और लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है।

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहनेवाला
और उनके स्थूल, सूक्ष्म आदि देहों के नाश होने पर
जो शेष रहा दिखलाई देता है, वह कूटस्थ कहा जाता है।

इन कूटस्थ आदि उपाधि के भेदों में से स्वरूप लाभ के लिए जो
आत्मा समस्त शरीर में माला के धागे की तरह पिरोया जान पडता
है, वह अंतर्यामी कहलाता है।

भारतीय मनीषा, जैसा मनुष्य है उसे बीमारियों के समूह से अधिक नहीं मानती जैसा मनुष्य है; उसे बीमारी से ज्यादा नहीं मानती है। लेकिन यह जीवन के प्रति कोई निराशाजनक दृष्टिकोण नहीं है। यह दृष्टिकोण हताश दृष्टिकोण नहीं है, पेसिमिस्ट नहीं है। जैसा मनुष्य है उसे बीमार इसीलिए मानती है, क्योंकि उस बीमारी को ही स्वयं का स्वास्थ्य समझ लेने पर जो मनुष्य हो सकता है वह नहीं हो पाता है।
मनुष्य की संभावना अनंत है। जैसे हीरा कंकड-पत्थरों में पड़ा हो, और स्वयं को कंकड-पत्थर ही मान ले, तो संभावनाओं का द्वार रुक जाता है, आंतरिक विकास की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, कुछ और होने का उपाय ही नहीं रह जाता। जो हम हैं, अगर हम मान लें कि यही हमारा होना है, तो फिर विकास का कोई उपाय नहीं है। विकास संभव है एक ही अर्थों में कि जो हम हैं वह हम अपने को न मान लें। जिस दिशा में भी गति होती है उस दिशा में हमें अपने होने को पूर्ण नहीं मान लेना चाहिये।
अनूठी घटना मनुष्य के इतिहास में घटी हैः पश्चिम ने जैसी परिस्थितियां हैं बाहर, उनको अंतिम नहीं माना। तो पश्चिम परिस्थतियां बदलने में बहुत दूर तक सफल हुआ है--गरीबी थी तो उसे स्वीकार नहीं किया, बिमारी थी तो उसे स्वीकार नहीं किया, झोपड़ा था तो उसे स्वीकार नहीं किया, रास्ता उबड़-खाबड़ था तो उसे स्वीकार नहीं किया, आदमी की गति कम थी तो उसे स्वीकार नहीं किया--बाहर की परिस्थिति को, जैसी वह थी वैसा मानने को पच्श्रिम राजी नहीं हुआ है, इसलिय पश्चिम ने बाहर की परिस्थिति को आमूल परिवर्तित कर दिया है।
लेकिन पूरब ने और भी गहरा प्रयोग किया हैः आदमी भीतर जैसा था, उसे पूरब ने स्वीकार नहीं किया। उसी... उसी बात की सूचना है यह कि हम आदमी जैसा है उसे बीमार मानते हैं, वह परिवर्तन-योग्य है, उसे परिवर्तित होना ही चाहिये, वह बदले तो ही स्वरूप को पा सकेगा, वह बदले तो ही उस स्थिति में पहुंच सकेगा जहां शांत और संतुष्ट और आनंदित हो सके।

हमारी बेचैनी बीज की बेचैनी है। बीज वृक्ष न हो जाये तो बेचैनी होगी ही। और कोई भी बीज अगर मान ले कि बीज ही होना उसकी पूर्णता है, तो फिर अंकुर फूटने का उपाय नहीं रह जाता है।
इसलिए इन पांच रुग्ण समूहों का ऋषि ने विवेचन किया है। तीन पर हमने रात बात की। चौथे पर... चौथा है सत्व, और पांचवां है पुण्य।
तीसरा था: इच्छा, तृष्णा, वासना। इच्छा का अर्थ होता है, किसी और चीज
की इच्छा... मैं धन चाहता हूं, यश चाहता हूं--धन और यश मुझ से बाहर हैं। एक और भी सूक्ष्म इच्छा है जिसे हम नहीं समझ पाते, उसी को ऋषि सत्व कह रहा है। एक आदमी धन भी नहीं चाहता, यश भी नहीं चाहता, लेकिन एक आदमी अच्छा आदमी होना चाहता है, एक आदमी साधु होना चाहता है, एक आदमी संन्यासी होना चाहता है--यह भी इच्छा है... यद्यपि बाहर कुछ भी नहीं जुड़ेगा, यह भी तृष्णा है--धन की नहीं है यह, यह धर्म की है। इच्छाएं भी बीमारियां हैं तो यह इच्छा भी एक रुग्णता है: मैं कुछ होना चाहता हूं भीतर ही सही।
एक मित्र कल आये थे, वे कहते थे, संन्यास तो मुझे चाहिये, लेकिन आंतरिक, बाह्य नहीं क्योंकि बाहर तो इच्छा मालूम पड़ती है--बाहर का संन्यास भी, लेकिन भीतर का संन्यास इच्छा मालूम नहीं पड़ती, वह बहुत सूक्ष्म इच्छा है। इच्छा तो वह भी है। जब भी मैं कुछ होना चाहता हूं, तो तृष्णा तो वहां होगी ही।
सत्व की तृष्णा को भी--ऋषि कह रहा है--अगर बांधा, तो वह भी बीमारी बन जायेगी... सत्व की इच्छा भी। अंतस को शुद्ध करने की, पूर्ण करने की...
अब यह बहुत मजे की बात है: इन सारी बीमारियों को इसीलिए समझा जा रहा है, ताकि वह जो भीतर पूर्ण है वह प्रगट हो जाये। अब एक दूसरी बात और ख्याल में ले लेनी चाहिये: मैंने आपसे कहा कि जैसे बीज, तो उदाहरण बहुत थोड़ी दूर तक ही साथ चलता है, ज्यादा दूर तक साथ नहीं चलता, कोई उदाहरण ज्यादा दूर तक साथ नहीं चलता। उसे सीमा के बाहर खींचने से उपद्रव होता है।
बीज अगर अपने को बीज ही मान ले तो वृक्ष नहीं हो पायेगा। यह ठीक है, लेकिन मनुष्य जो अपने भीतर है वह है ही। अगर कुछ और अपने को मान ले, तो जान नहीं पायेगा--है तो वह ही। भीतर जो वह है, वह कोई भविष्य की विकासमान स्थिति नहीं है, अभी मौजूद है।
जैसे एक भिखारी है, उसकी जेब में चाबी रखी है खजाने की। वह खजाना अभी मौजूद है, वह चाबी अभी मौजूद है, लेकिन भिखारी चाबी को भूल गया, याद नहीं कर पाता है, और भीख मांगने में लगा रहता है... सुबह से सांझ तक भीख मांगता है, और भीख मांगने में इतना व्यस्त रहता है कि खीसे में हाथ डालने का मौका नहीं आता, हाथ सदा दूसरे के सामने फैले रहते हैं। और जो हाथ दूसरे के सामने फैले हों, वे अपने खीसे में कैसे जा सकते हैं। वे मांगने में लगे रहते हैं, मन दूसरे की तरफ उत्सुक बना रहता है, अपनी खोज की सुविधा नहीं मिलती। रात अगर थोड़ी बहुत फुरसत भी मिलती है तो वह भी दूसरों से जो मिला है उसकी गिनती और लेखाजोखा करने में खो जाता है। सुबह उठकर फिर दौड़ है। सांझ फिर हिसाब-किताब है।
करोड़पति ही हिसाब करते हों ऐसा नहीं है, भिखमंगे भी हिसाब करते हैं।
और इसलिए भिखमंगे और करोड़पति में जो अंतर होता है वह कोई गुणात्मक नहीं होता, परिणात्मक होता है, मात्रा का ही होता है, वह थोड़ा छोटा हिसाब है उनका, उनका थोड़ा बड़ा हिसाब है, लेकिन भिखमंगेपन में कोई फर्क नहीं है।
इस हिसाब किताब में जिंदगी बीत जाती है। और अगर भीतर कुछ था तो उसे उसका मौका ही नहीं मिलता। और भिखारी को एक बात निश्चित हो जाती है कि मेरे पास नहीं है... और सबके पास है जिसने मुझे लेना है। मांगते मांगते यह थिर हो जाता है कि जो भी मिलने योग्य है वह दूसरे के पास है, वह मेरे पास नहीं है। और ऐसा जब मैं कहता हूं तो हम सबकी मनोदशा ऐसी ही है। जब भी हमें कोई चीज चाहने योग्य लगती है तो वह दूसरे के पास होती है। सदा दूसरे के पास हमारी वासना की तृप्ती का उपाय होता है--सदा दूसरे के पास, इसलिए हम मांगते चले जाते हैं--मांगते... मांगते... मांगते निरंतर एक गहन आदत का निर्माण होता है और फिर भीतर हमें देखने का उपाय नहीं रह जाता।

तो ऋषि यह कह रहा है किजो अपने को श्रेष्ठ बनाने की कोशिश में भी लगे हों--धन की दृष्टी से नहीं, यश की दृष्टी से नहीं, बड़ी शुभ कामना से, बड़ी धार्मिक इच्छा से, बड़ी सद इच्छा से बड़े सात्विक भाव से सत्व की खोज कर रहे हों... सत्व की खोज का अर्थ है, सात्विक की खोज... जिसे दुनिया में कोई भी बुरा नहीं कहता।
एक आदमी धन इकट्ठा कर रहा है तो कोई भी कहेगा कि क्या कर रहे हो? और एक आदमी ज्ञान इकट्ठा कर रहा है तो कोई भी नहीं कहेगा कि क्या कर रहे हो... यद्यपि दोनों ही इकट्ठा करने की तृप्ती को पूरा... इकट्ठा करने की वासना को पूरा कर रहे हैं। जो आदमी धन इकट्ठा कर रहा है, उसको लोग कहेंगे कि क्या कचरे में पड़े हो, लेकिन जा ज्ञान इकट्ठा कर रहा है उसको कहेंगे कि वह बड़े शुभ यात्रा पर गया है, सत्व की यात्रा कर रहा है। लेकिन ज्ञान के ठीकरे भी वैसे ही बाहर से मिल जाते हैं जैसे कि धन के मिलते हैं।
और ज्ञान के भी सिक्के हैं। एक आदमी शास्त्र को कंठस्थ कर लेता है तो ज्ञानी हो जाता है। शास्त्र उतना ही बाहर है जितना धन बाहर है। तिजोड़ी में नहीं रखता यह, स्मृती में रखता है, स्मृती एक तिजोड़ी है। और एक लिहाज से यह आदमी ज्यादा हुशियार है, ज्यादा वणिक है, क्योंकि तिजोडियां बाहर की काटी और खोली जा सकती हैं, चुराई जा सकती हैं... स्मृति की तिजोडी को चुराना जरा मुश्किल है। जब तक कि माओ जैसा कोई व्यक्ति हुकूमत में न हो तब तक जरा मुश्किल है। चुराया तो वहां भी जा सकता है।
अब तो कोशिश चलती है कि आपकी स्मृती को भी छोड़ा न जाये, आप उसके भी मालिक न रह जायें। तो अब तो ब्रेन वॉश के, मस्तिष्क को धो डालने के और साफ कर देने के उपाय विकसित हो गये हैं। और आपकी खोपड़ी को साफ किया जा सकता है। कोरियन युद्ध के बाद चीन ने जो कैदी पकड़ रखे थे अमरीकन, युद्धबंदी बना रखे थे, उन पर उन्होंने गहन प्रयोग किये हैं मस्तिष्क को धो डालने के। और एक बहुत अजीब अनुभव वहां आया, और वह अनुभव बड़ा कीमती है। वह अनुभव यह आया कि सौ आदमियों में पांच आदमी ही ऐसे होते हैं, जिनके मस्तिष्क को धोने में दिक्कत आती है, पंचानवे प्रतिशत लोगों के मस्तिष्क को धोने में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि पंचानवे प्रतिशत की कोई मालकियत ही अपनी स्मृती पर नहीं होती। बहुत आसानी से धोयी जा सकती है। बड़ी सरल तरकीबों से स्मृति धुल जाती है। और वह आदमी जब स्मृती धुलकर बाहर आता है, तो वह खुद भी ख्याल नही कर सकता है कि कल मैं क्या मानता था, कल मेरा क्या भरोसा था, कल मेरा क्या विश्वास था।
स्टेलिन और माओ ने, दोनों ने बडे महत्वपूर्ण प्रयोग किये हैं--खतरनाक
और आदमी की स्वतंत्रता के प्रतिकूल, पर महत्वपूर्ण, क्योंकि उनसे कुछ बातें जाहिर हुईं। जिस आदमी ने हत्या नही की है उसे राजी करवाया जा सकता है कि उसने हत्या की है और वह अदालत में आकर वक्तव्य देता है कि मैंने हत्या की है।
और मजा तो तब हुआ जब कि बाद में वह आदमी भी पकड़ा जा सका जिसने हत्या की थी। और इस आदमी ने कनफेस भी कर लिया, इसकी फांसी भी हो गयी, और इसने स्वीकार किया था। और इसने स्वीकार किसी दमन और दबाव में नहीं किया था--जो नयी घटना है वह यह हैः इसको कोई मारपीट कर स्वीकार नहीं करवाया गया था, इसकी स्मृति को धोकर इसे स्वीकार करवाया गया था। एक दफा स्मृती धुल जाये तो दूसरी तरकीब उसके भीतर कुछ भी डाल देने की... और कठिन नहीं है।
एक आदमी को सात दिन जगाये रखा जाये, सोने न दिया जाये, तो उसके भीतर अस्तव्यस्तता पैदा हो जाती है फिर उसको साफ नहीं पता चलता कि वह इस वक्त सपना देख रहा है कि वस्तुतः जागा है कि सो रहा है कि क्या कर रहा है। सात दिन उसे सोने न दिया जाये, सपना न देखने दिया जाये, तो वह खुली आंख से सपना देखना शुरू कर देता है। फिर उसे पक्का नहीं होता कि सामने जो दीवाल है वह है, या केवल दिखाई पड़ रही है
जैसे ही उसके स्वप्न और सत्य के बोध में भ्रांति खड़ी हो जाती है वैसे
ही वह वलनरेबल हो गया, अब उसके मस्तिष्क से कुछ भी बाहर और भीतर किया जा सकता है। ऐसे क्षण में उसके ऊपर रिकार्ड चलाये जायेंगे, समझाया जायेगा, बुझाया जायेगा और जो बात भी आप उसके मन में डाल देंगे... अब वह सजेस्टिबल

है, अब वह स्वीकार कर लेगा। वह बात गहरे अचेतन में उतर जायेगी। वह आदमी कल अदालत में कह सकता है कि मैंने हत्या की है, क्योंकि यह विचार उसके मन में डाल दिया गया। और अब उसके बस के बाहर है कि वह इसको इनकार कर सके। यह वह खुद ही मानता है कि उसने हत्या की है, यह उसकी स्मृति बदल दी गयी।
लेकिन फिर भी स्मृति की तिजोडी पर अब तक चोर हमला नहीं कर सके थे... तो ज्ञानियों ने लिखा है, ज्ञानी उन्हें नहीं कहना चाहिये, पंडितों ने लिखा हैः कि धन चोरी जा सकता है, ज्ञान चोरी नहीं जा सकता। अब जा सकता है, क्योंकि वह भी संग्रह है। और संग्रह की जो वृत्ति है, वह एक सी है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। आदमी क्या इकट्ठा करता है, इससे कोई फर्क नहीं पछता... वह पोस्टल स्टैंप इकट्ठा करता है कि रुपये इकट्ठा करता है कि ज्ञान इकट्ठा करता है--क्या इकट्ठा करता है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इकट्ठा करने में जो रस है वह अपने से बाहर है।
इसीलिए अपरिग्रह का इतना मूल्य है। अपरिग्रह का मतलब यह नहीं है कि बाहर जो है उसे छोड़ दो। अपरिग्रह का मूल्य, अपरिग्रह का अर्थ है कि इकट्ठा करने की जो वृत्ति है उसे छोड दो। तो भीतर की यात्रा हो सकती है।
सत्व भी एक तरह का संग्रह है। तो एक आदमी कहता है कि मैंने तीन महीने
का उपवास किया। इसने इकट्ठा कुछ भी नहीं किया, क्योंकि भोजन इकट्ठा किया जाता है शरीर में, इसने वह भी इकट्ठा नहीं किया। तीन महीने में इसका वजन भी गिरा, इसने खोया ही कुछ, इकट्ठा कुछ भी नहीं किया। लेकिन तीन महीने का उपवास, यह सात्विकता इकट्ठी की। लेकिन इसको भी यह इकट्ठा कर रहा है। यह बताना चाहता है कि मैंने तीन महीने उपवास किया। पर यह संग्रह का भाव है। एक आदमी कहता है, मैंने इतना दान किया। दान में तो इकट्ठा नहीं होता, हाथ से जाता है। धन तो जाता है लेकिन दान का भाव इकट्ठा हो जाता है।... मैंने इतना दान किया।
एक मित्र आये थे मिलने। उनकी पत्नी साथ थी। उनकी पत्नी मुझसे परिचित थी, पति को लेकर मिलाने आयी थी। मिलाते वक्त उसने कहा कि मेरे पति ने अब तक एक लाख रुपये का दान किया है। पति ने कहा कि नहीं-नहीं एक लाख दस हजार।
यह दिया है, लेकिन देने का भाव भी इकट्ठा हो जाता है। हम जो इकट्ठा करते हैं उसकी ही गिनती नहीं रखते, जो छोड़ते हैं उसकी भी गिनती रखते हैं। मगर गिनती जारी रहती है।
सत्च भी हम इकट्ठा करते हैं। कुछ अच्छा करते हैं तो उसको भी स्मरण में रखते हैं। बल्कि मजे की बात है, बुरा अगर करते हैं तो उसको स्मरण में नहीं रखते। तो बुरे आदमी के पास बुराई का बहुत संग्रह नहीं होता।
दूसरे कहते हैं कि तू बुरा है, वह कहता है, मैं कहां। लेकिन अच्छे आदमी
के पास अच्छाई का संग्रह होता है। इसलिए कई बार यह बहुत अभूतपूर्व घटना घटती है कि बुरा आदमी जितने जल्दी अंतस में छलांग लगा लेता है, कभी कभी अच्छा आदमी उतने जल्दी नहीं लगा पाता। उसका कारण है कि बुरा आदमी एक लिहाज से खाली होता है, क्योंकि जो उसने किया है उसका हिसाब नहीं रखता वह, हिसाब रखना सुखद नहीं है। जो भी उसने किया है, वह खुद ही नहीं चाहता कि किया होता, वह उसकी गिनती भी नहीं रखता।
लेकिन अच्छा आदमी... जो भी उसने किया है उसकी गिनती भी नहीं रखता है। शायद जितनी गिनती रखता है उतना उसने किया भी नहीं है। उसको थोड़ा बढ़ाकर भी रखता है। बहुत सा केवल उसने सोचा है, किया नहीं है, उसको भी जोड़ रखता है। यह संग्रह ही बाधा बनता है। इसलिए बहुत बार ऐसा हुआ है कि कोई बाल्मीकि, कोई अंगुलिमाल... एक क्षण में--निपट अपराधी व्यक्ति... और एक क्षण में ज्ञान को उपलब्ध हो गया है। उसका कारण... उसका कारण, अपराध से भी ज्यादा संग्रह बाधा बनता है। क्योंकि अपराधी क्या संग्रह करेगा। जानता ही है कि मैं कुछ भी नहीं हूं। एक... एक निरहंकारिता संभव है। लेकिन सात्विक के साथ तो अंहकार बंधा ही हुआ है।
ऋषि कहता है, सत्व भी एक रोग है। यह बड़ी हिम्मत की बात है। यह हिंदुस्तान के बाहर कोई धर्म नहीं कह सका कि सत्व भी एक रोग है। बुराई को रोग कहा है, पाप को रोग कहा है, लेकिन सत्व को, शुभ को रोग नहीं कहा जा सका।

निश्चित ही भारत के बाहर पैदा हुआ कोई भी धर्म नैतिक चिंतना से उपर नहीं उठ सका है... ठीक अर्थों में धार्मिक नहीं हो सका है।
इसलिए पहली बार जब पूर्वीय मनीषा के उदगार पश्चिम में गये तो वे बहुत हैरान हुए, क्योंकि ये तो धार्मिक बातें नहीं मालूम पड़ती, ये तो बड़ी अराजक हैं। अगर आदमी से तुम यह भी कहते हो कि सत्व का इकट्ठा करना भी बीमारी है, तब तो तुम आदमी को भटका दोगे।
लेकिन उनकी व्याख्या की भूल है। जो लोग यह सके कि सत्व को इकट्ठा करना बीमारी है, वे यह तो कहते ही हैं कि असत्व तो इकट्ठा करना महाबीमारी है। इकट्ठा करना बीमारी है, तो सत्व तक इकट्ठा करो तो बीमारी हो जाती है, तो असत्व तो बीमारी है ही। उसकी बात ही करनी व्यर्थ है। वह स्वीकृत है। उसकी चर्चा ही नहीं चलानी चाहिये।
यह कहना किसी से कि चोरी करना पाप है, इस बात का सबूत है कि समाज इतना नीचा है कि अभी उसे चोरी करना पाप है, यह भी कहना पड़ता है। लेकिन अचोर होने का दंभ भी पाप है... यह कहना तभी संभव है जब समाज उस सीमा के पार जा चुका, जहां चोरी का पाप होना तो सहज स्वीकृत हो गया। उसकी चर्चा भी उठानी नहीं चाहिये।
तो जब पहला दफा ईसाइयों ने उपनिषद पढ़े तो वे चकित हुए, क्योंकि कोई टेन कमांडमेंट्स जैसी कोई चीज उपनिषद में नहीं है कि चोरी मत करो, दूसरे कि स्त्री की तरफ मत देखो, व्यभिचार मत करो। तो उन्होंने कहा कि टेन कमांडमेंट्स कहां हैं, दस आज्ञाएं कहां हैं धर्म की, मूल आधार कहां हैं। पर उन्हें पता नहीं कि जिन्होंने ये लिखे, वे जानते थे कि उन दस आज्ञाओं की बातें करना बचकानी है, चाइल्डिश हैं। वे उन समाज की बातें हैं जो बहुत प्रिमिटिव है। जिनको अभी यह भी कहना पड़ता है कि व्यभिचार मत करो, अभी दूसरे की स्त्री की तरफ मत देखो, यह बहुत बुरा है। इसका अर्थ ही यह हुआ कि अभी पहले पाठ पढ़े जा रहे हैं। अभी वह वक्त नहीं आया जहां यह कहा जा सके कि मैंने दूसरे की स्त्री की तरफ नहीं देखा, यह मेरा गुण है, यह भी पाप है। यह गुण का बोध भी पाप है, क्योंकि यह भी अहंकार को ही सघन कर जाता है।
सत्व भी रोग है--अच्छा रोग है... कहना चाहिये, राजसी रोग है। अच्छे लोगों को होता है, लेकिन होता है। और कई बार ऐसा होता है कि इस रोग के कारण अच्छे लोग कभी कभी बुरे लोगों से भी बुरे सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके अच्छे होने की अकड़ एक गहरी अधिनायकशाही पैदा करती है, उनके अच्छे होने की अकड़ एक बहुत खतरनाक किस्म की परतंत्रता दूसरों पर लादती है।
अच्छे बाप का बेटा होना आसान मामला नहीं है, क्योंकि अच्छा बाप इतना भारी पड़ जाता है बेटे पर... कि उसका यह भारी पड़ना ही बेटे के बुरे होने का कारण बन सकता है। अच्छाई, अच्छाई की गुहार भी बुराई की तरफ आकर्षण बन जाती है। और अगर बाप इतना अच्छा हो कि बेटा अच्छाई में उसको पार न कर सके, तो फिर बुराई में ही पार करने का उपाय रह जाता है।
इसलिए अच्छे लोगों के अच्छे बेटे नहीं होते, उसका कारण बहुत गहरा है। उसका कारण गहरा है क्योंकि अच्छाई, अच्छाई रोज-रोज अरुचिकर हो जाती है। और अच्छाई में एक खराबी यह है कि दूसरा आदमी यह भी नहीं कह सकता कि आप गलत कह रहे हो। तो आपकी अकड़ को चुनौती भी नहीं होती।

मैंने सुना है एक फकीर... झेन फकीर रिन्झाई के बाबत कि रिन्झाई कुछ-कुछ ऐसे काम किया करता था जो अच्छे नहीं थे, और आदमी यह बुद्ध की हैसियत का था। जो उसे जानते थे वे भलीभांति जानते थे, उन्होंने उससे कई बार कहा कि तुम यह छोटे-मोटे कभी ऐसे काम क्यों कर देते हो, जिनसे बड़ी बेइज्जती और बड़ी अप्रतिष्ठा होती है। तो रिन्झाई कहता था, ताकि मैं आदमियों के बीच आदमी बना रहूं, जस्ट टू बी ह्यूमन अमंग ह्यूमनस, नहीं तो इनह्यूमन हो जाता... अगर मैं इतना अच्छा हो जाऊं कि मुझमें बुराई है ही नहीं तो मैं बिल्कुल अमानवीय हो जाता हूं, लोगों की छाती पर पत्थर जैसा पड़ जाता हूं। मेरे शिष्य भी मेरे संबंध में थोड़ी आलोचना कर लेते हैं तो हलकापन आ जाता है, और मेरे शिष्य भी मेरे पीछे मेरे संबंध में हंस लेते हैं तो उनको दुश्मन बनाने से बच जाता हूं।

बड़ी हैरानी की बात है। यह आदमी बहुत अजीब रहा होगा। मगर इसकी मनुष्य
की अंतरात्मा में बड़ी गहरी पैठ है।
तो अच्छा शिक्षक स्कूल में भलीभांति जानता है कि बच्चों को उसकी पीठ
के पीछे हंसने का मौका होना चाहिये। उससे जो पांच-छः घंटे उसके सामने जबरदस्ती बैठकर उनमें जो क्रोध इकट्ठा हो जाता है, उसके निष्कासन का उपाय है।
इसलिए अच्छे आदमी बहुत भारी पड़ जाते हैं, लेकिन वे भारी तभी पड़ते हैं
जब सत्व उनका रोग होता है, स्वभाव नहीं।
जब ऋषि यह कह रहा है कि सत्व भी रोग है तो वह यह नहीं कह रहा है कि सात्विक होना रोग है। वह यह कह रहा है कि सत्व का संग्रह, और सत्व के साथ अहंकार का जुड़ना रोग है। मैं अच्छा हूं, यह बोध रोग है, अच्छा होना रोग नहीं है। और जो आदमी अच्छा होता है वह इतना अच्छा होता है कि बुराई को भी सदा क्षमा कर पाता है।
बायजीद निकला है यात्रा पर--एक सूफी फकीर--तीर्थयात्रा पर जा रहा है। रमजान के दिन हैं, उपवास चलता है। बायजीद के सौ संन्यासी शिष्य साथ हैं। पहला ही दिन उपवास का हुआ है और पहले ही गांव में प्रवेश हुआ है। और गांव में, बायजीद के घुसते ही गांव के लोगों ने कहा है कि तुम्हारा जो प्रेम करनेवाला आदमी था--वह एक चमार था, गरीब चमार था--उसने अपना मकान-वकान सब बेच दिया है तुम्हारे भोजन के इंतजाम के लिये। और उसने आज पूरे गांव को निमंत्रण दिया है कि मेरा गुरु गांव में आता है, पूरा गांव आज भोजन करे। उसने सब बेच दिया है। उसने कहा, अब कल की फिकर कल कर लेंगे।
बायजीद राजी हो गया... पहुंच गया, भोजन करने बैठ गया। शिष्यों को तो बड़ी बेचैनी हुई... बड़ी बेचैनी हुई। और एक मौका मिला उनको कि अरे, किस गुरु के पीछे हम जीवन बरबाद कर रहे हैं। निर्णय किया था उपवास का--मालूम होता है, लोभ में आ गया अच्छे भोजन के। और बायजीद है कि बड़े आनंद से भोजन ले रहा है। बायजीद जब ले रहा है तो उनको भी लेना पड़ा। हालांकि बायजीद ने आनंद से लिया, उन्होंने बड़े कष्ट से लिया।
रात जब हुई और लोग विदा हो गये तो शिष्य गुरु पर टूट पडे। और उन्होंने कहा, हद हो गयी, हमने ऐसी आशा न की थी। क्या भूल ही गये विस्मरण ही हो गया या इतने से भोजन के पीछे ऐसे लोलुप हो गये।
बायजीद ने कहा, भोजन का सवाल नहीं। उपवास हम एक दिन आगे लंबा कर देंगे। लेकिन, उस गरीब को जिसने सब बेचकर भोजन बनाया था, इतने साधु होने की घोषणा करना भारी पड़ जाता, चोट हो जाती, अपराध हो जाता। यह बात ही करनी फिजूल थी, हम उपवास एक दिन आगे कर लेंगे। इसमें क्या हर्ज है लेकिन यह महात्मापन इतने जोर से जाहिर करना... और ध्यान रहे, यह मौका है जब कि आदमी महात्मापन जाहिर करना चाहेगा। यह बहुत डेलीकेट नाजुक है। यह तो मौका बहुत बढ़िया था। पूरे गांव को खबर हो जाती कि बायजीद भी कुछ है। लेकिन इस मौके को वह ऐसा चूक गया, जैसे विस्मरण ही हो गया हो, उसने इसकी बात ही नहीं उठायी कि हमने उपवास किया है।
इसे मैं कहता हूंः अच्छा होना, सात्विक होना। सत्व की भी घोषणा करनी पड़े, और सत्व का भी प्रचार करना पड़े और सत्व के लिए भी प्रतीक्षा करनी पड़े कि कोई सम्मान करे, तो सत्व रोग हो जाता है।
पांचवीं बीमारी ऋषि ने कही है, पुण्य। पाप सारे जगत में बीमारी है, पुण्य सिर्फ भारत में। पुण्य पाप है पुण्य भी पाप है, पुण्य भी बीमारी है, क्योंकि यह ख्याल कि मैंने अच्छा किया, बहुत सूक्ष्म अस्मिता को निर्मित करता है, और यह ख्याल कि मैं अच्छा कर सकता हूं, कर्ता के भाव को जन्म देता है।
हमने जैसा जाना है वह यह है कि इस जगत में और कोई चीज पाप नहीं है, अहंकार ही पाप है। इसलिये जहां से भी अहंकार निर्मित हो जाता हो, वहीं पाप हो जाता है।
बोधिधर्म भारत से गया चीन। उसके पहले और बहुत बौद्ध भिक्षु चीन पंहुच गये थे... हजारों-हजारों भिक्षु पहुंच गये थे। सम्राट वू ने बौद्ध ग्रंथों का करोड़ों रूपये खर्च करके अनुवाद करवाया था, सैंकड़ों मठ और विहार बनवाये

थे। फिर खबर पहुंची कि एक परम ज्ञानी बोधिधर्म आता है, तो वू खुद अपने राज्य की सीमा पर स्वागत करने आया। स्वागत करते ही, स्वागत के बाद ही, विश्राम मिलते ही पहली बात सम्राट वू ने बोधिधर्म से पूछी कि मैंने इतने हजार मठ और विहार बनवाये, मैंने इतने करोड़ का खर्च किया, बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद करवाया, लाखों भिक्षुओं को मैं रोज भोजन देता हूं। मेरे इस सब पुण्य का क्या फल होगा?
बोधिधर्म ने कहा, "तू सीधा नर्क जायेगा। डायरेक्ट टू हेल।"
वू ने कहा, "क्या कहते हैं? ... नर्क? आप मजाक करते हैं?"
क्योंकि किसी भिक्षु ने उसे अब तक यह नहीं... सब भिक्षु कहते थे, तुम महापुण्यात्मा हो। भिखारी ही थे भिक्षु न रहे होंगे। "तुम महापुण्यात्मा हो।" क्योंकि यह महापुण्यात्मा कह कर ही भिखारी अपना पालन करवा सकते हैं। "तुम महापुण्यात्मा हो; तुमने इतना दान किया जैसा कभी किसी ने नहीं किया; स्वर्ण अक्षरों में स्वर्ग में तुम्हारी तख्ती लगनेवाली है; परमात्मा के ठीक बगल में तुम्हारा निवास तैयार हो रहा है।"... यह सब कहा था। बोधिधर्म ने कहा, तू सीधा नर्क जायेगा।
बोधिधर्म की बात वू को न जंची। किसी पुण्य करनेवाले को न जंचेगी कि पुण्य भी पाप है। तो वू ने कहा कि मैं यह बात नहीं मान सकता।
बोधिधर्म ने कहा, तो फिर मैं तेरे पाप के राज्य में प्रवेश करने से इनकार करता हूं; मैं वापिस जाता हूं; तेरे राज्य की सीमा के बाहर रहूंगा।
जिस दिन तुझे पता चल जाये कि पुण्य भी पाप है, उस दिन प्रवेश करूंगा।
बात आयी-गयी हो गयी। वू तो खिलाफ हो गया बोधिधर्म के। और भिक्षु भी खिलाफ हो गये... कि इस आदमी से बड़ी आशाएं लगाई थीं... यह आता तो और काम बड़ा होता; सम्राट उत्सुक था और इसने सब विकृत कर दिया।
दस साल बाद... सम्राट वू अपनी मरणशैय्या पर पड़ा है, मौत चारों तरफ घिरने लगी, भय मन को पकड़ने लगा, और तब उसे बोधिधर्म की पुनः याद आयी। उसे साफ दिखाई पड़ने लगा कि इतना किया पुण्य, लेकिन मौत तो ठीक वैसी ही आ रही है जैसे गैर-पुण्य करनेवाले को आती है; इतना किया पुण्य, जराजीर्ण तो मैं वैसा ही हो गया जैसा कि पापी हो जाता है; इतना किया पुण्य, लेकिन मृत्यु में कोई शांति तो नहीं मालूम पड़ती तो उसके पार क्या शांति होगी! बहुत मन बेचैन है।
खबर भेजी उसने कि अगर वह बोधिधर्म कहीं मिल जाये तो उसे बुला लाओ, मैं व्यर्थ दस वर्ष खोया। आज मुझे भी लग रहा है कि मैं सीधा नर्क जा रहा हूं। लेकिन बोधिधर्म तो मर चुका था। लेकिन कब्र पर... कह गया था वह एक वाक्य लिखने को... कि आज नहीं कल, सम्राट वू मरते वक्त मेरा स्मरण करेगा। क्योंकि जिंदगी में धोखा देना आसान है। तब आदमी तरंग में होता है, जीने के वहम में होता है। जब मृत्यु पास आयेगी तब उसे पता चलेगा। वह मेरी याद करेगा। तो कह गया था कि एक वाक्य मेरी कब्र पर लिख देना; सम्राट वू के लिए मेरा संदेश है। और वह संदेश यह था... "कि जीवनभर तूने पुण्य किया, अगर मृत्यु के क्षण में भी पुण्य का त्याग कर दे तो स्वर्ग का द्वार निकट है।"
पुण्य का त्याग कर दे। बहुत त्याग किया तूने पुण्य के लिए, अब तू पुण्य का भी त्याग कर दे।
कठिन है बहुत। लोहे की जंजीरें छोड़नी बहुत आसान, पाप का त्याग करना बहुत आसान, स्वर्ण-जंजीरें हाथ में हों तो छोड़ना बहुत मुश्किल... आभूषण मालूम होती हैं।
और पुण्य! ... पुण्य से ज्यादा स्वर्ण और क्या होगा! शुद्ध स्वर्ण है; छोड़ने की हिम्मत नहीं होती।
लेकिन जो जानता है, जंजीरें चाहे लोहे की हों चाहे सोने की, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता--जंजीरें जंजीरें है। और कारागृह की दीवालें चाहे महल जैसी सजी हों, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता।
कारागृह है अहंकार... इसलिए पांच बीमारियों की ऋषि ने बात की है।
और इन पांचों वर्गों के स्वभाव को जब तक कोई ठीक से न जान ले तब तक इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। इन पांचों की प्रकृती में जब तक कोई ठीक से प्रवेश न कर जाये तब तक इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है।

वस्तुतः जानना ही छुटकारा है; जानना ही मुक्ति है। और जैसे ही हम किसी चीज को उसकी परिपूर्णता में जान लेते हैं, हम उससे मुक्त हो जाते हैं।
अज्ञान बंधन है। न जानना ही बंधन है। जानते ही छुटकारा हो जाता है। क्रोध बांधता है जब तक हम नहीं जानते कि क्रोध क्या है। जिस दिन जान लेते हैं, गहरा प्रवेश करते हैं, क्रोध की पर्त-पर्त उघाड़ लेते हैं, क्रोध का नग्न देख लेते हैं, उसी दिन छुटकारा है।
ऐसा नहीं है कि जानने के बाद छुटकारे के लिये कुछ करना पड़ता है; यह और
एक गहरी बात पूर्वीय मनीषा की आप समझ लें। ऐसा नहीं हैं कि पहले जान लेते हैं कि यह क्रोध है, अब छोड़ने के लिए कोई उपाय करना पड़ता है। नहीं, पूर्वीय चित्त कहता है, जानना ही छूट जाना है; जानने के बाद फिर कुछ नहीं करना पड़ता। अगर जानने के बाद भी कुछ करना पड़ता है तो उसका मतलब है कि जानना पूरा नहीं है, अधूरा है।
चित्त की बीमारियां ऐसी नहीं हैं कि पहले निदान और फिर उपचार। चित्त
की बीमारियों में निदान ही उपचार है।... क्यों? न जानने के कारण ही चित्त की बीमारियां हैं। और उनका कोई कारण नहीं है।
जैसे समझें; अंधेरा है, और अंधेरे में सांप हैं और बिच्छु हैं। दीया जलाते हैं; तो दीया जलाने से दो घटनाएं घटेंगी--सांप-बिच्छु दिखाई पड़ेगे लेकिन मिट नहीं जायेंगे; क्योंकि सांप-बिच्छु के होने का कारण अंधेरा नहीं था; अंधेरा केवल उनके न दिखाई पड़ने का कारण था। अब तो अंधेरा नहीं है, तो सांप-बिच्छु दिखाई पड़ेगे... लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि दीया जलाया कि सांप-बिच्छु गये। सांप-बिच्छु को अब हटना पड़ेगा। तो ज्ञान काफी नहीं है, कुछ करना भी पड़ेगा।
लेकिन एक और घटना घट रही है वहां। दीया जलाया, अब क्या अंधेरे को भी हटाना पड़ेगा? यह दीया तो जल गया ठीक, अब अंधेरे को कैसे हटायें? नहीं, अंधेरे के होने का कारण ही कुल प्रकाश का अभाव था।
तो शरीर की जो बीमारियां हैं... शरीरों कि जो बीमारियां हैं, वे बीमारियां निदान भी चाहती हैं और उपचार भी। लेकिन चेतना की जो बीमारी है उसमें निदान ही उपचार है... वहां दीया जला और अंधेरा गया, ऐसी बीमारी है। तो ऋशि कहता हैः "इन पांच वर्गों के स्वभाववाला बनकर जीवात्मा बिना ज्ञान के इनसे छुटकारा नहीं पा सकता।"
हम क्या करते हैं? हम इनके साथ एक हो जाते हैं; इन्हीं के गुणधर्म के
हो जाते हैं। पुण्य करते-करते हम पुण्यकर्ता हो जाते हैं; सत्व करते-करते हम सात्विक हो जाते हैं; पाप करते-करते हम पापी हो जाते हैं--जो हम करते हैं उसी के साथ एक हो जाते हैं।
यह एक हो जाना ही अज्ञान है। अगर जानना हो तो थोड़े फासले पर खड़ा होना अनिवार्य है। जानने के लिये थोड़ी दूरी, थोड़ा फासला चाहिये। असल में हम जान ही उसको सकते हैं जिससे हम पार खड़े होकर देखते हैं; नहीं तो हम जान नहीं सकते। जिसे भी जानना हो, उसे आंख के सामने रखना पड़े, उसका निरीक्षक बनना पड़े।
अगर क्रोध को जानना है तो क्रोधी बनकर नहीं हो सकेगा यह जानना। क्रोध
को जानना है तो क्रोध को करना पड़ेगा अपने से अलग; और खड़ा होना होगा क्रोध के पार, और देखना पड़ेगा क्रोध को तटस्थ भाव से। जैसे हम किसी और चीज को... जैसे एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में किसी चीज का परीक्षण करता है; उतनी ही दूरी।
योग भी उतनी ही दूरी का विज्ञान है। अपने... अपने चित्त की समस्त बीमारियों को दूर खड़े होकर देखना और उनकी पूरी-पूरी ग्रंथियों में प्रवेश कर जाना ही मुक्ति बन जाती है।
आदमी का चित्त जिन-जिन... "इन पांच बीमारियों के साथ एकात्म की भ्रांति में पड़ जाता है, उस भ्रांति का नाम लिंग शरीर है।"... उस भ्रांति का नाम। "... और वही हृदय की ग्रंथि है।"
और वही हृदय की मूल बीमारी है।
एक ही बीमारी है जहां हम जकड़ गये हैं। ये पांच बीमारियां मिलकर उस एक बीमारी को पैदा करती हैं; और वह बीमारी है आयडेन्टिफिकेशन की--हम एकात्म

हो जाते हैं उसी के साथ जो हम कर रहे होते हैं। चोरी करते वक्त चोर हो जाते हैं, साधना करते वक्त साधु हो जाते हैं--जो भी हम करते हैं वही हम हो जाते हैं; उससे हम दूर नहीं खड़े रहते।
और ठीक से समझें तो संन्यास का यही अर्थ होता हैः कि हम जो भी करें, उसके करने में कर्ता न बनें, सिर्फ द्रश्टा बने रहें। संन्यास का मौलिक अर्थ इतना होता है--करें हम जरूर, लेकिन अभिनेता से ज्यादा हमारा प्रयोजन न हो; राम हम बनें जरूर लेकिन वह रामलीला के ही राम हों। और मंच से उतरते ही हम राम से भी उतर जायें। अभिनेता उतर जाता है। वह रात फिर बिस्तर पर लेटकर सोचता नहीं कि सीता का अशोक वन में क्या हो रहा होगा! लेकिन कभी-कभी ऐसी भ्रांति भी हो जाती है।
मैंने सुना है कि एक रामलीला में ऐसी कठिनाई हो गयी। जो आदमी रावण बनता था, वह हर साल रावण बनता था गांव में; हर साल जब रामलीला होती वह रावण बनता। और जो स्त्री सीता बनती थी वह हर साल सीता बनती थी। हर साल रावण बनना और हर साल सीता को चुराना और अशोक-वाटिका में रखना और यह सब उपद्रव चलता था। वह आदमी उस स्त्री के प्रेम में पड़ गया।
फिर रामलीला हुई। स्वयंवर हुआ। रावण भी आया है स्वयंवर में। फिर दूत उसके आये और उन्होंने खबर दी कि लंका में आग लग गयी है; रावण ने कहा, इस बार लगने दो, इस बार तो स्वयंवर करके ही जाऊंगा। उसने उठाया शिव का धनुश-बाण और तोड़ दिया। जनक बड़ी मुश्किल में पड़े; सब उपद्रव हो गया। जनता भी चकित हो गयी कि यह किस प्रकार कि रामलीला हो रही है! अब क्या होगा? क्या सीता का विवाह रावण से होगा?
तो जनक बुद्धिमान बूढ़ा आदमी था, वह और पुराने जमाने से, काफी समय से जनक बनता रहा था। उसने जोर से आवाज दी कि भृत्यों! यह तुम बच्चों का खेलने का धनुश-बाण कहां से उठा लाये? शंकर जी का धनुश-बाण लाओ। परदा गिराया, रावण को हटाकर दूसरा रावण बनाया... क्योंकि वह चिल्ला रहा था कि इस बार तो स्वयंवर करके ही जाऊंगा... तब कहीं रामलीला शुरू हो सकी।
अब यह जो रावण है, यह बिचारा जाकर आसानी से नहीं सो पाता होगा। इधर सीता से मामला अभिनय का नहीं रहा; यह गहरा और वास्तविक हो गया।
संन्यास का अर्थ हैः वह जो लिंग शरीर है उसका हम विसर्जन करते हैं।
लिंग शरीर का अर्थ हैः हमने अपनी बीमारियों से तादात्म्य करके अपनी
जो एक दशा बना ली है, जैसे हम मालूम हो रहे हैं, उसका हम विसर्जन करते हैं। "और उसमें जो चैतन्य है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।"
और इस लिंग शरीर के बीच में जो बैठा हुआ जान रहा है--द नोअर--वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। लेकिन उसका हमें कोई पता नहीं है; वह जो जाननेवाला है, वह खो ही जाता है उस सबमें जिसे हम जानते हैं। उसे खोज लेना जो जाननेवाला है, धर्म का विज्ञान है।
पूछा गया हैः साक्षी कौन है? कूटस्थ कौन है? अंतर्यामी कौन है?
ये तीनों ही आत्मा की तीन विभिन्न परिस्थितियों में की गयी परिभाशाएं हैं। जैसे, अब घर पर आप अपने बेटे की तुलना में पिता हैं, पत्नी की तुलना में पति हैं, पिता की तुलना में पुत्र हैं। घर से बाहर मित्र की तुलना में ये तीनों नहीं हैं। दफ्तर में मित्र भी नहीं हैं। फिर भी आप तो एक ही हैं। साक्षी, कूटस्थ और अंतर्यामी आत्मा की तीन परिस्थितिगत परिभाशाएं हैं--सिचुएशनल। तीनों ही आत्म हैं, लेकिन ये तीन शब्द प्रयोग किये जाते हैं तीन विभिन्न संदर्भों में। उस संदर्भ को ठीक से समझ लें।
"ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की उत्पत्ति और लय को जाननेवाला, फिर भी स्वयं उत्पत्ति-लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है।"
हम अपने भीतर प्रवेश करें, तो जो भी हम जान सकते हैं वह हम नहीं हो सकते हैं, इस सूत्र को स्मरण रखेंः जो भी हम जान सकते हैं वह हम नहीं हो सकते हैं; क्योंकि हम सदा ही जाननेवाले हैं।
तो जिस चीज को भी हम जान लेते हैं उसका अर्थ हुआ कि हम उसके पीछे खड़े हैं; नहीं तो हम जान नहीं पाते। जो भी जाना जा सकता है, वह मैं नहीं हो सकता हूं।

योग-साधना का जो मौलिक सूत्र है, वह यह है--आधारभूत; जिसको हम बीज मंत्र कहें। वह बीज मंत्र यह है कि जिसे भी हम जान सकते हैं, वह हम नहीं हो सकते।
आंख बंद करके मैं भलीभांति जान सकता हूं कि मेरे चारों ओर शरीर है। मैं यह भी जान सकता हूं कि पैर में कांटा गड़ता है और पीड़ा है; मैं यह भी जान सकता हूं कि हृदय में धड़कन हो रही है; और मैं यह भी जानता हूं कि जब चिंता में होता हूं तो धड़कन तेज हो जाती है; और जब निश्चिंत होता हूं, धड़कन शांत हो जाती है।
तो यह जो जाननेवाला है, यह इस हृदय की धड़कन में और इस पैर की पीड़ा और इस शरीर की आकृति से भिन्न हो गया; क्योंकि जानने के लिये द्वैत.जरूरी है। जानने के लिये द्वैत.जरूरी है, जानने के लिये फासला.जरूरी है। उस फासले के माध्यम से ही जाना जाता है; नहीं तो जाना नहीं जाता।
इसलिए अगर आईने में आप अपनी तस्वीर देख रहे हैं तो एक खास फासले पर खड़ा होना.जरूरी है। अगर बिल्कुल आईने के पास आते चले जायें और फिर बिल्कुल सिर आईने से लगा लें तो तस्वीर दिखाई पड़नी मुश्किल हो जायेगी। फिर भी थोड़ी दिखाई पड़ेगी, क्योंकि अभी भी फासला है। और फासला मिटायें, तो और नहीं दिखाई पड़ेगी। और फासला मिटायें तो और नहीं दिखाई पड़ेगी। अगर आपकी आंख में और दर्पण में कोई भी फासला न रह जाये तो फिर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ेगा।
एक फासला.जरूरी है ज्ञान के लिये, दर्शन के लिये, जानने के लिये।
ऋशि कहता है, ये जो सब चीजें पैदा होती हैं, बनती हैं, मिटती हैं, इन सबको भी जाननेवाला कोई भीतर है।
सांझ नींद आने लगती है तब आप जानते हैं कि नींद आ रही है। एक बात तय है
कि अब आप नींद नहीं हैं; नहीं तो जानता कौन? जिस पर नींद आ रही है वह पृथक होना ही चाहिए।
सुबह आप बैठे हैं अपने द्वार पर, सूरज निकला है, चारों ओर धूप फैल गयी; आपने जाना कि धूप आ गयी। फिर सूरज की धूप सघन होने लगी, उत्ताप बढ़ने लगा, फिर आपने देखा, सूरज सिर पर आ गया, दोपहर हो गयी। आप दोपहर नहीं हैं; आप सुबह भी नहीं हैं। फिर सांझ सूरज ढलने लगा, अंधेरा उतरने लगा, आपने जाना कि अंधेरा आ गया, आप अंधेरा भी नहीं हैं।
सुबह होती, दोपहर होती, सांझ हो जाती, आप जानते हैं सूरज को उगते, बढ़ते, डूबते, खो जाते। आप... आप सूरज से एक नहीं हो सकते, भिन्न हो गये।
जीवन में जो भी घटता है उस घटने को जाननेवाला भीतर एक है। और यह बहुत मजे की बात है कि आप इसको कभी भी पकड़ नहीं पायेंगे।
समझेंः मेरे पैर में दर्द हो रहा है। मैं जानता हूं कि मेरे पैर में दर्द हो रहा है। तो जाननेवाला पैर के दर्द से अलग हो गया। अब मैं यह भी जान सकता हूं कि मैं जानता हूं कि पैर में दर्द हो रहा है, अब मैं इस जानने के भी पीछे चला गया। इसको ठीक से समझ लें। मेरे पैर में दर्द हो रहा है; मैं जानता हूं कि मेरे पैर में दर्द हो रहा है, तो मेरा जानना पैर के दर्द से अलग हो गया। लेकिन मैं यह भी जानता हूं कि मैं जानता हूं कि पैर में दर्द हो रहा है, तब यह दूसरा जो जानना है, पहले जानने के भी पीछे चला गया।
इसको भी मैं जान सकता हूं; वह तीसरा जानना होगा। उसको भी मैं जान सकता हूं; वह चौथा जानना होगा। एक बात पक्की है कि जिसको भी मैं जान लूंगा वहां से मैं पीछे हट जाऊंगा; किसी जानने की पकड़ में मैं नहीं आऊंगा--मैं सदा ही ज्ञाता ही बना रहूंगा, ज्ञेय नहीं बन सकूंगा। यह जो परम ज्ञातत्व है, यह जो परम साक्षीपन है कि कुछ भी करूं, मैं पीछे हट जाता हूं--यह बड़ा रहस्यपूर्ण है। यह बड़ा ही रहस्यपूर्ण है।
शायद जीवन में सर्वाधिक गहन रहस्य यही है कि हम कोई भी उपाय करके स्वयं को विशय नहीं बना सकते, दृश्य नहीं बना सकते, वस्तु नहीं बना सकते... हम सदा जाननेवाले ही बने रहते हैं।
इसलिए महावीर जैसे व्यक्ति ने जिसने परम साक्षी को गहरे से गहरा खोजा, उसने यह कहा कि जो परम अवस्था है उसमें यह भी कहना व्यर्थ है कि वहां ज्ञाता है; वहां केवल ज्ञान है। क्योंकि अगर हम यह भी कहें कि ज्ञाता है,

तो भी वह ज्ञाता हमने जान लिया--फिर हम पीछे हट गये। इतना ही हम कहें कि जानना मात्र है। इसलिए महावीर ने परम ज्ञान की अवस्था को "केवल ज्ञान" कहा हैः जस्ट नोईंग; नॉट इवन द नोअर, नॉट द नोन; जस्ट नोईंग; प्योर नोईंग। और यह जो शुद्ध ज्ञान है यह सदा पीछे हटता चला जाता है।
इस रहस्य को जो जान ले... इस रहस्य के अनुभव को साक्षी कहा है। आत्मा साक्षी है... क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय--ज्ञाता भी, ज्ञान भी, ज्ञेय भी तीनों जिससे पैदा होते, जिसके सामने पैदा होते, जिसके सामने लीन हो जाते, जिसमें लीन हो जाते, और जो सदा ही पीछे खड़ा रह जाता है।
अंग्रेजी में शब्द हैः एक्स्टेसी; बहुत कीमती शब्द है। इस सूत्र को, साक्षी को समझने के लिए बहुत कीमती शब्द है। एक्स्टेसी का अर्थ होता है-- मूल शब्द का--स्टैंडिंग आऊट। एक्स्टेसी का अर्थ होता है, सदा बाहर खड़े हो जाना; कुछ भी उपाय करो, भीतर नहीं रह सकते, बाहर ही खड़े हो जाते हैं। जहां भी खड़े होओ वहीं के बाहर हो जाते हैं।
इसलिए पश्चिम के रहस्यवादियों ने समाधि के लिए जो नाम दिया है वह एक्स्टेसी है।
एक्स्टेसी का अर्थ है, साक्षी। एक्स्टेसी का अर्थ समाधि नहीं है; एक्स्टेसी का अर्थ है साक्षी--द विटनेसिंग। कुछ भी उपाय करो, कुछ भी उपाय करो, वह साक्षी को हम कभी भी और कुछ नहीं बना सकते, वह साक्षी ही रहता है। यह आत्मा की एक परिस्थितिगत परिभाशा है। परिस्थितिगत यह भी, और सभी परिभाशाएं परिस्थितिगत होती हैं। इसलिए कोई परिभाशा पूर्ण आत्मा के स्वरूप को प्रगट नहीं कर पाती, और इसीलिए इतने धर्मों में मतभेद पैदा हो गया है। उस मतभेद का कोई मौलिक कारण नहीं है। किसी धर्म ने आत्मा की एक परिस्थितिगत व्याख्या की और किसी धर्म ने उस आत्मा की दूसरी परिस्थितिगत व्याख्या की... और वे दोनों व्याख्याएं भिन्न मालूम पड़ती हैं। इस लिहाज से उपनिशद धर्ममुक्त हैं, क्योंकि वे सभी परिभाशाओं को स्वीकार करते हैं। यह साक्षी की परिभाशा जैन दर्शन और जैन धर्म की परिभाशा है।
दूसरी परिभाशा में कूटस्थ क्या है, पूछा है। तो ऋशि कहता हैः
"ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहनेवाला और उनके स्थूल, सूक्ष्म आदि देहों के नाश होने पर भी जो शेश रह जाता है... "
द रिमेनिंग! कुछ भी नाश करो, कुछ पीछे शेश ही रह जाता है... समस्त विनाश के; उसे कूटस्थ आत्मा कहा है। देट ह्विच रिमेन्स आलवे.ज। कुछ भी करो!
तो वैज्ञानिक भी स्वीकार करता है पदार्थ में... कि पदार्थ का भी कुछ कूटस्थ रूप है; क्योंकि पदार्थ इनडिस्ट्रक्टिबल है; उसका हम विनाश नहीं कर सकते; हम कुछ भी करें--आकृति बिगाड़े, दूसरी आकृति दें--कुछ भी करते चले जायें; वह सब रूपांतरण है। लेकिन पदार्थ की जो कूटस्थ स्थिति है वह शेश रह जाती है।
उपनिशद कहता है, ठीक चेतना की भी एक कूटस्थ स्थिति है; वह सदा शेश रह जाती है। आप बच्चे हों, आप जवान हो जायें, आप बूढ़े हो जायें, आप पापी बन जायें, आप पुण्यात्मा बन जायें, आप पाप का विनाश कर दें, पुण्य छोड़ दें, जवानी छोड़ दें, बुढ़ापा छोड़ दें, शरीर में रहें, शरीर छोड़ दें--कुछ भी करें; सब विनाश के बाद भी जो अविनाशी पीछे शेश रह जाता है, वह आत्मा की दूसरी परिभाशा है। वह भी परिस्थितिगत है-विनाश की दृश्टि से; उसे कूटस्थ कहा है। ज्ञान की दृश्टि से उसे साक्षी कहा, अविनाशी के भाव से उसे कूटस्थ कहा है।
"इन कूटस्थ आदि उपाधियों के भेद में से स्वरूप लाभ के लिये जो आत्मा समस्त शरीर में माला के धागे की तरह पिरोया जान पड़ता है, वह अंतर्यामी कहलाता है।"
ये दोनों परिभाशाएं... लेकिन जरा दूर की हैं; क्योंकि साक्षी होना परमज्ञान है; और कूटस्थ को पाने के लिये मरने की पूरी तैयारी चाहिये।
अगर साक्षी को जानना है तो ज्ञान की परम साधना में उतरना पड़ेगा... जहां कोई विशय न रह जाये, और सिर्फ जाननेवाला ही बचे--जानने को कुछ न बचे, सिर्फ जाननेवाला ही बच जाये। बड़ी कठिन इलिमिनेशन की साधना है--हटाये जाओ; जो भी

ज्ञान में आये, कहो कि यह मैं नहीं--हटा दो उसे... जो भी जान लिया जाये, फेंक दो उसे।
यह बड़े मजे की बात हैः जानने के लिये चले हैं, लेकिन जो भी जान लिया जायेगा उसे हटा देना पड़ेगा; तो ही परम ज्ञान फलित होगा। जो भी अनुभव बन जाये, कहना कि बस, यह व्यर्थ हो गया। कठोर तपश्चर्या है; जो भी अनुभव में आ जाये, कहना, बेकार हो गया। अगर परमात्मा भी अनुभव आ जाये तो कह देना कि मैं परमात्मा के बाहर हूं, क्योंकि जो भी अनुभव बन गया वह मैं नहीं हूं। इसलिए महावीर या बुद्ध परमात्मा का इनकार ही कर दिये; उन्होंने कहा, जिसका भी अनुभव हो सकता है, वह मैं नहीं हूं।
तो परमात्मा का भी... लोग कहते हैं, अनुभव होता है; लोग कहते हैं, दर्शन
हो गये; साक्षात्कार हो गया, ईश्वर का दर्शन कर लिया। अगर ईश्वर का दर्शन कर लिया तो एक बात पक्की है कि अभी अपना भी दर्शन नहीं हुआ है; क्योंकि जिस चीज का भी तुमने दर्शन किया हो, वह पदार्थ हो गया, पर हो गया, विशय हो गया, ऑबजेक्ट हो गया, तुम उसके पार निकल गये, तुम परमात्मा के भी पार निकल गये। तो निश्चित ही जिसका तुमने जाना है वह मन की ही कोई कल्पना होगी, वह परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो नित्य साक्षी है। तो परमात्मा को उस दिन जाना जाता है जिस दिन अनुभव--समस्त अनुभव शून्य हो जाते हैं। तो यह कहना, "परमात्मा का अनुभव" सिर्फ आज्ञानियों की बात है। परमात्मा का अनुभव नहीं कहा जा सकता। अनुभव ही कहना बेकार की बात है... समस्त अनुभवों का क्षीण हो जाना।
इसलिए बुद्ध जैसे व्यक्ति की बात नहीं समझ में पड़ती, क्योंकि वे परम बात कहते हैं। वे कहते हैं, कोई परमात्मा नहीं, कोई मोक्ष नहीं, कोई आत्मा नहीं; क्योंकि जो भी जान लिया वह बेकार है। और जो नहीं जाना उसे शब्द क्या दें? इसलिए बुद्ध चुप रह जाते हैं।
जब भी उनसे कोई पूछता... तो छोड़िये इन सबको, उसके बाबत बताइये जो असली में है। बुद्ध कहते हैं, जो असली में है, अगर मैं कहूं तो वह भी विशय हो गया; उसकी बात नहीं करूंगा। तुम जानने को छोड़ते चले जाओ, अनुभव को त्यागते चले जाओ, एक दिन तुम वहां पहुंच जाओगे जहां कुछ भी नहीं बचता है।
यह बड़ा मुश्किल है समझना... क्योंकि हम तो कुछ पाने के लिये चलते हैं।
तो बुद्ध कहते हैं, जहां कुछ भी नहीं बचता है। इसका मतलब... ? इसका मतलब यह नहीं है कि वहां कुछ भी नहीं है। जब बुद्ध कहते हैं, वहां कुछ भी नहीं बचता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वहां कुछ भी नहीं है। वहां कुछ भी नहीं बचता है, क्योंकि जानने को कुछ नहीं है, पहचानने को कुछ नहीं है--प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, ज्ञान नहीं होता, ज्ञाता नहीं होता, ज्ञेय नहीं होता तो जानने की जो पूरी त्रिपुटी है, पूरी ही टूट गयी। लेकिन वहीं जो है, वही सब है। लेकिन ये दो दूर की परिभाशाएं हैं। इसलिए तीसरी परिभाशा जो निकट की मालूम पड़ती है... वह यह है कि सब शरीरों में रहते हुए भी, जैसे माला के मनके में धागा पिरोया हो, ऐसे इन पांच शरीरों में डूबे हुए, इन पांच बीमारियों में डूबे हुए, इस बड़े संसार में उलझे हुए भी...
मनके ही हैं ये संसार के, धागा सदा आत्मा का है। मनके ही हैं ये शरीरों के, बीमारियों के; धागा सदा आत्मा का है। लेकिन एक बड़े मजे की बात है कि माला में सर्वाधिक महत्वपूर्ण धागा है। धागे के बिना माला नहीं हो सकती। मनके बिखर जायेंगे। उनका जोड़नेवाला सेतु धागा है। लेकिन धागा दिखाई नहीं पड़ता और मनके दिखाई पड़ते हैं। इसलिए जिसने कभी माला को बनते न देखा हो, और अचानक माला उसके सामने रख दी जाये, तो धागे का उसे ख्याल नहीं आयेगा, मनके का ही ख्याल आयेगा; क्योंकि धागा तो अदृश्य है, मनकों में छिपा है।
हमारी भी हालत वैसी ही हैः शरीर दिखाई पड़ते हैं, धागा दिखाई नहीं पड़ता। सब दिखाई पड़ता है, धागा भर दिखाई नहीं पड़ता। और हम एक मनके से दूसरे मनके पर छलांग लगाते चले जाते हैं।
ये शरीर संभव नहीं हो सकते हैं आत्मा के बिना, लेकिन दिखाई नहीं पड़ती।
एक शरीर से दूसरा शरीर सटा हुआ है। एक मनके से दूसरा मनका सटा हुआ है। एक मनके से दूसरे पर सरक जाते हैं, दूसरे से तीसरे पर छलांग लगा जाते हैं... धागा चूकता ही चला जाता है।

सब शरीरों के बीच में, सब उपाधियों के बीच में, जो भी हम हैं वहां भी-- कूटस्थ तो है ही आत्मा, साक्षी तो है ही आत्मा, अंतर्यामी भी है। अंतर्यामी का अर्थः यहां भी है। वहां तो है ही, जब हम परम स्थिति को पहुंचेंगे; तब उसे हम साक्षी कहेंगे--वहां तो है ही। जब हम परम विनाश को पहुंचेंगे, जब सब विनश्ट हो जायेगा तब हम उसे परम अविनाशी कहेंगे, क्योंकि वह बच रहेगा। तब हम उसे कूटस्थ कहेंगे। लेकिन यहां भी है--जहां हम खड़े हैं वहां भी है। लेकिन यहां प्रगट नहीं है, यहां मनकों में दबा है। वहां मनकों से रहित होगा, धागा ही होगा। यहां मनके अति हैं, और उनमें दबा है, लेकिन यहां भी है। क्योंकि जो वहां है वह यहां भी होना चाहिये, अन्यथा फिर पहुंचने का कोई मार्ग ही न रह जायेगा। इसलिए कहा--
"इन कूटस्थ आदि उपाधि भेदों में से स्वरूपलाभ के लिये जो आत्मा समस्त शरीर में माला में धागे की तरह पिरोया हुआ जान पड़ता है, वह अंतर्यामी कहलाता है।"
अंतर्यामी से यात्रा शुरू करें; साक्षी को साधना का मंत्र बनायें; कूटस्थ उपलब्धि होगी।
अंतर्यामी से शुरू करें, साक्षी को साधें, कूटस्थ उपलब्धि।

आज इतना ही।

सर्वसार उपनिषद
ग्यारहवां प्रवचन

त्वं-स्वरूप प्रत्यगात्मा

सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्द सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं कटकमुकुटाद्युपाधिरहित सुवर्ण धनवद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभावात्मा यदा भासते तदा त्वं पदार्थः प्रत्यगात्मुच्यते।
सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।
सत्यमविनाशि।
अविनाशि नाम देशकाल
वस्तुनिमित्तेषु विनश्यत्सु
यन्न विनश्यति तदविनाशि

सत्य, ज्ञान, अनंत और आनंदरूप सर्व उपाधि से रहित और कड़ा, मुकुट आदि की उपाधि से रहित केवल सोना जैसा ज्ञान और चैतन्य रूप आत्मा जब भासमान होता है तब उसे "त्वं" नाम से पुकारा जाता है।

ब्रह्म, सत्य, अनंत और ज्ञानरूप है। जो अविनाशी है, वह सत्य कहलाता है।
देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता
वही अविनाशी है।

स्वर्ण के आभूषण बन सकते हैं बहुत। बहुत रूप आकृतियां हो सकती हैं- सुंदर या कुरूप; पर आकृति स्वर्ण नहीं है। यद्यपि आकृति स्वर्ण के बिना प्रगट नहीं हो सकती; आकृति अकेली नहीं हो सकती। रूप का शुद्ध कोई अस्तित्व नहीं होता। रूप तभी दिखाई पड़ता है जब किसी पर रूपायित होता है।
तो स्वर्ण बहुत रूप ले सकता है, लेकिन कोई भी रूप स्वर्ण नहीं है। स्वर्ण का होना रूपों से मुक्त है। और इसीलिए एक रूप दूसरे रूप में बदल जाता है। अगर स्वर्ण ही किसी एक रूप का हो तो फिर दूसरा रूप ग्रहण नहीं हो सकता है। यद्यपि हमने वैसा स्वर्ण भी नहीं देखा है जो किसी रूप में न हो। जब भी स्वर्ण दिखाई पड़ेगा, कोई रूप होगा उसका। लेकिन चूंकि स्वर्ण रूप को बदल सकता है-आज है कड़ा, कल कुछ और बन सकता है, परसों कुछ और बन सकता है। रूप बदल जाता है लेकिन स्वर्ण का स्वभाव थिर होता है। इसलिए चाहे हमने रूपरहित स्वर्ण न देखा हो, फिर भी स्वर्ण रूप नहीं है।
इस उदाहरण से ऋषि चर्चा शुरू करता है। वह कहता है, जगत में जो भी हम देख रहे हैं वह सब रूप है। जिस पर ये रूप प्रगट होता है वह रूपमुक्त है। उस रूपमुक्त की ही खोज सत्य की खोज है। उसे खोजना हो तो रूप का त्याग करना पड़े... सब रूप छोड़ देने पड़ें, सब उपाधि छोड़ देनी पड़ें, सब सीमाएं तोड़ देनी पड़ें... तो ही उस असीम और अनंत और शा9 वत के निकट पहुंचना हो सकता है। लेकिन रूप से मन घिर जाता है। रूप से ही पहली पहचान होती है। आकार ही पहले दिखाई पड़ता है। निराकार से तो कोई मिलन बाहर होता नहीं। बाहर जो भी दिखाई पड़ता है, सब आकार हैं। इसीलिए हम आकार से ग्रस्त हो जाते हैं... और यह भूल ही जाते हैं कि जो है वह निराकार होगा, अन्यथा इतने आकार कैसे ले सकता था!
बीज है; अभी बीज है, कल वृक्ष हो जायेगा। जो बीज वृक्ष हो सकता है, उस बीज में.जरूर कुछ निराकार छिपा है, जो बीज का आकार भी ले लेता है, कभी वृक्ष का आकार भी ले लेता है। और उस बीज में.जरूर ही निराकार छिपा है, क्योंकि उस अकेले एक बीज से संसार के सारे वृक्ष पूरी पृथ्वी को भर दें, इतने वृक्ष पैदा हो सकते हैं। एक बीज से एक वृक्ष पैदा होता है और करोड़ों बीज लग जाते हैं वृक्ष पर। फिर करोड़ों बीजों को हम बो दें तो और एक-एक बीज

से करोड़-करोड़ बीज हो जाते हैं। एक बीज पूरी पृथ्वी को वृक्षों से भर दे, पृथ्वी छोटी पड़ जाये और इनकार करने लगे कि बस, अब नहीं...
इतना एक बीज में छिपा हो, तो आकार में नहीं छिपा हो सकता है। आकार तो बड़ा क्षुद्र है बीज का; न के बराबर है। तो बीज में जरूर ही निराकार छिपा होगा; क्योंकि एक बीज अनंत बीजों को पैदा कर सकता है। आकार से अनंत कभी पैदा नहीं होता; आकार से जो भी पैदा होगा उसकी सीमा होगी। बीज की एक क्षमता होनी चाहिये सीमित, तब उसके आकार का कोई अर्थ है। लेकिन मैंने कहा, एक पृथ्वी को भर दे यह भी छोटी बात है, अगर हम इस गणित को ठीक से फैलाएं, तो इस पूरे ब्रह्मांड को एक बीज भर सकता है वृक्षों से और फिर भी ब्रह्मांड छोटा पड़ जाये, और बीज कहे कि अभी मुझे और जगह चाहिये। क्योंकि कोई अंत नहीं है न! एक बीज से करोड़, करोड़ बीज से... एक-एक बीज से फिर करोड़., फिर एक-एक बीज से करोड़... इसका कोई अंत नहीं है।
तो उस पहले बीज में तो छिपा था, क्या वह आकार में छिपा हो सकता है? आकार में अनंत तो छिपा नहीं हो सकता। आकार में तो जो भी छिपा होगा वह सांत ही होग.ा, उसकी सीमा ही होगी। आकार ही खुद सीमा है तो निराकार को अपने भीतर कैसे छिपा पायेगी? तो बीज में जब हमें आकार दिखाई पड़ रहा है तो वह हमारी देखने की भूल ह.ै, क्योंकि हम बीज को पूरा नहीं देख पा रहे हैं जितना वह हो सकता है। और जो वह हो सकता ह.ै, अभी भी किसी अर्थ में है, अन्यथा हो नहीं सकेगा। अगर इस बीज में संसार के सारे बीज न छिपे हों, तो कभी प्रगट कैसे हो सकेंगे? छिपे हैं आज और अभी और यहीं, सिर्फ हमारी आंख उन्हें पकड़ नहीं पाती।
तो बीज का आकार हमारी भ्रांति है, बीज का स्वरूप तो निराकार है। जहां
भी आकार दिखाई पड़ता है, वहां हमारे कारण आकार दिखाई पड़ता है।
इसे हम यूं समझें कि मैं अपने... अपने मकान की खिड़की पर खडा होकर आकाश
को देखता हूं। और अगर मैंने कभी मकान के बाहर जाकर आकाश न देखा हो तो मुझे आकाश मेरे मकान की खिड़की के चौखटे में जड़ा हुआ मालूम पड़ेगा-मेरे मकान की खिड़की का आकार आकाश का आकार बन जायेगा; खिड़की का आकार आकाश का आकार मालूम पड़ेगा। आकार मेरी खिड़की दे रही है, आकाश निराकार है। लेकिन हम मकान के बाहर खड़े होकर भी जब आकाश को देखते हैं, कोई खिड़की नहीं होती, फिर भी पृथ्वी चारों तरफ से खिड़की का ही काम करती है, इसलिए आकाश हमें गोल दिखाई पड़ता है। गोल दिखाई पड़ने का कारण केवल इतना है कि पृथ्वी गोल है, आकाश गोल नहीं है। पृथ्वी फिर खिड़की बन जाती है, पृथ्वी फिर आकार दे देती है। और हमारी आंख भी खिड़की से ज्यादा तो नहीं है; हम जो भी देखेंगे, हमारी आंख उस पर आकार को जड़ देगी।
तो वस्तुतः हम बाहर जब भी खोजने जायेंगे, हमें रूप मिलेगा, अरूप नहीं। अगर अरूप को खोजना है तो हमें भीतर जाना पड़े; क्योंकि वहां सभी खिड़कियों को तिलांजली दी जा सकती है। आंख बंद करके भीतर यह स्मरण रखने की कोई भी .जरूरत नहीं कि हम किसी खिड़की पर खड़े हैं-न किसी आंख की.जरूरत, न किसी खिड़की की, न किसी पृथ्वी की-भीतर प्रवेश करते ही हम निराकार में प्रवेश कर जाते हैं।
सत्य तो बाहर भी है, सत्य भीतर भी है, लेकिन खोजी को पहले सत्य को भीतर
ही जानना होता है। जिस दिन भीतर वह जान लेता है निराकार को, उस दिन बाहर भी निराकार ही रह जाता है; उस दिन आकार सिर्फ ऊपर से बैठी हुई आकृतियां रह जाती हैं-हमारी दी हुई आकृतियां।
यह जो निराकार है, यह जो सत्य है, ज्ञान है, अनंत है, आनंदरूप है, उपाधिरहित है, शुद्ध सोने जैसा ज्ञान और चैतन्य है, ऐसा जब चैतन्य का भास होता है, तब यह सूत्र बहुत कीमती है... ऐसे चैतन्य का जब भास होता है तब उसे "त्वम" कहकर पुकारा जाता है; तू कहकर पुकारा जाता है, मैं कहकर नहीं-दाउ, तू, त्वम्।
जिस दिन किसी ऐसे निराकार सत्य का अनुभव होता है, उस दिन उसे मैं कहने
का कोई उपाय नहीं रह जाता, क्योंकि मैं की तो सीमा है। और जिसको हमने अब तक मैं कहा था वह तो बचता नहीं, अब हम इसे क्या कहें? यह हमें चारों तरफ से घेर लेता है-बाहर भीतर सब तरफ से मौजूद हो जाता है। और हमारे पास दो ही शब्द

हैं कहने के लिये: मैं कहें या तू कहें। मैं कह नहीं सकते, क्योंकि मैं जब मिटता है तभी इस निराकार का अनुभव होता है। इसलिए एक ही उपाय बचता है असमर्थ भाषा के पास कि इसे तू कहें। इसलिए भक्तों ने परमात्मा को तू कहा है; उसे "दाउ" कहा है।
इसे तू कहने के पीछे कारण इतना ही है सिर्फ कि मैं कहने का कोई उपाय नहीं है। ऐसे तो तू कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तू सदा मैं के ही संदर्भ में होता है; वह तो एक संबंध है। जब तक मैं होता हूं तब तक कोई तू होता है। और जब तक कोई तू होता है, तब तक मैं तो मैं होता ही हूं। ऐसे क्षणों में जाकर ही भाषा कितनी व्यर्थ होती है, इसका अनुभव शुरू होता है। मैं कह नहीं सकते क्योंकि बचा नहीं, तू भी कहें तो मुश्किल मालूम पड़ती है, क्योंकि कौन कहे तू? ... कौन कहे तू? लेकिन, जब कहना ही हो तो मैं से तू कहना ज्यादा उचित है। है तो वह भी अनुचित; है तो वह भी ठीक नहीं, लेकिन मैं से ज्यादा उचित है... कम से कम मैं के अभाव की घोषणा तो करता है-एक।
और दूसरा कारण और है। हम उसे "वह" भी कह सकते थे-न कहें मैं, न कहें तू,
वह भी कह सकते थे; ज्ञानियों ने वह भी कहा है-दैट। लेकिन जब परमात्मा को "वह" कहें, तो कोई प्रेम का संबंध झलकता नहीं दिखाई पड़ता; जब उसे वह कहें तो वस्तु जैसी मालूम पड़ती है। वह तो हम वस्तुओं के लिए उपयोग करते है, तू हम व्यक्तियों के लिये उपयोग करते हैं। और परमात्मा का जब अनुभव होता है तो वस्तु की भांति नहीं होता, परम व्यक्तित्व की भांति होता है; परम जीवंत; अनंत प्रेम की वर्षा से भरा हुआ होता है। उसकी जो प्रतीति है वह किसी के आलिंगन में पहुंच जाने की प्रतीति है-किसी प्रेमी के आलिंगन में। तो "वह" कहना बेहूदा होगा। "मैं" कह नहीं सकते।
तो इस चैतन्य को ऋषि कहता हैः ऐसे शुद्धतम निराकार, उपाधिरहित चैतन्य
की जब प्रतीति होती है, तब उसे त्वम्, तू कहा जाता है।
इस सदी के एक बहुत कीमती यहूदी विचारक मार्टिन बूबर ने एक किताब लिखी है, "मैं और तू"-आइ एंड दाउ। संभवतः मार्टिन बूबर मनुष्य जाति के इतिहास में उन थोड.े से लोगों में से है, जिसने मैं और तू के बीच के गहनतम संबंधों की खोज की है।
तीन तरह से आदमी जी सकता है: मैं को केंद्र बना ले और तू को परिधि बना ले... जैसा कि सभी साधारण आदमी जीते हैं-मैं सदा केंद्र पर होता है, तू सदा परिधि पर होता है। तू का हम उपयोग कर लेते हैं, तू का हम शोषण कर लेते हैं, तू से हम संबंध निर्मित कर लेते हैं लेकिन सदा मैं के लिए। कभी झुकते भी हैं तू के सामने तो इसी आशा में कि कभी तू को झुका लेंगे मैं के लिए; लेकिन सदा प्रयोजन मैं होता है। यही अहंकार की अवस्था है... जहां पूरा जगत चरणों में रखने की आकांक्षा है, और मैं को सिंहासन पर बिठा देने की। तो मैं केंद्र हो जाता है और सारा जगत परिधि हो जाता है। यही अधार्मिक व्यक्ति की चित्त-दशा है।
एक दूसरी चित्त-दशा है, जहां तू केंद्र पर हो जाता है और मैं परिधि बन जाता है; जहां स्वयं को विसर्जित कर देने की और समर्पण कर देने की ही प्यास शेष रह जाती है-एक ही अभीप्सा रह जाती है कि तू के लिए मैं को कैसे विसर्जित कर दूं! यह भक्त की अवस्था है, धार्मिक व्यक्ति की अवस्था है; तू रह जाता है, मैं क्षीण होता चला जाता है; मैं पतली परिधि बन जाता है, तू केंद्र हो जाता है। यह निरअहंकार भाव है।
एक तीसरी अवस्था और है, जिसे प्रगट करना सदा मुश्किल रहा है; और वह यह
है कि जहां तू नहीं रह जाता और मैं भी नहीं रह जाता-जहां कोई परिधि नहीं होती और जहां कोई केंद्र नहीं होता। बुद्ध जैसे व्यक्ति इसी बात को कहने की कोशिश में उलझ जाते हैं; नहीं कह पाते हैं। कहने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि सारी भाषा मैं और तू के बीच का लेन-देन है-सारी भाषा! भाषा मात्र का जन्म मैं और तू के बीच संवाद है। इसलिए भाषा में किसी ऐसी चीज को कहने का कोई भी उपाय नहीं जो मैं और तू के पार पड़ जाती हो। इसलिए ऋषि ने कहा, उसे त्वम कहते हैं। यह ऋषि जो है, जो निकटतम, कम से कम भूल हो सकती है वह कर रहा है।

जो पूर्ण सत्य है उसे कहा नहीं जा सकता, इसलिए सत्य के जो निकटतम असत्य हो सकता है उसे कह रहा है। ठीक उसे ताक कह ही नहीं सकते क्योंकि वहां मैं और तू दोनों नहीं रह जाते, लेकिन कहना है.जरूर; किसी को संदेश देना है .जरूर। उस अपरिचित देश से लौटा हुआ अपने प्रियजनों को कहना चाहता है .जरूर... कि क्या जाना उसने; क्या देखा उसने।
तो ऋषि कहता है, त्वम्। यह वह शिष्य के लिए कह रहा है... वह जो सीखने बैठा है, जिज्ञासा करने बैठा है, उससे कह रहा है कि जब शुद्धतम चैतन्य जाना जाता है, तब हम उसे तू नाम देते हैं।
यह तू प्रीतिकर भी है, सत्य के निकटतर भी... और अगर कोई व्यक्ति इस तू
के आसपास जीवन को जीने लगे, तो अत्यंत क्रांतिकारी भी।
रामकृष्ण की समस्त साधना तू के निकट थी। एक वेदांती साधु तोतापुरी मेहमान हुआ दक्षिणे9 वर में। तोतापुरी ने कहा कि क्या तूत्तू लगा रखा है! इसे भी छोड़ो; वहां पहुंचो जहां दोनों नहीं है। रामकृष्ण वैसे विनम्र थे जैसा भक्त होना ही चाहिये। कभी-कभी विनम्रता बड़ी अदभुत घटना बन जाती है। रामकृष्ण ने कहा, पहुंचा दो; मैं राजी हूं। तोतापुरी ने नहीं सोचा था कि रामकृष्ण जैसा आदृत, समादृत परमहंस, लाखों लोग चरणों में सिर रखते हैं, वह इतनी जल्दी सीखने को राजी हो जायेगा। शायद तोतापुरी को भी कोई सिखाने के लिए कहता, तो तोतापुरी इतनी जल्दी राजी नहीं हो सकते थे। अहंब्रह्मास्मि उनका स्वर था... वेदांत का स्वर था; मैं ब्रह्म हूं।
जो घोषणा करता हो, मैं ब्रम्ह हूं, सीखने को कुछ बचता नहीं फिर और। यह घोषणा वास्तविक हो तब तो सीखने की.जरूरत भी नहीं रहती, लेकिन यह घोषणा बहुत बार धोखा भी हो सकती है। यह ब्रम्ह को जानकर कही गयी हो तो ठीक है, कहीं यह मैं के ही रस में कही गयी हो तो बहुत कठिन है। सभी कहना चाहते हैं, मैं ब्रम्ह हूं। इसे कहने में कोई किसी को... किसी को भी सुख मिलेगा; लेकिन यह जानकर हुआ हो, तो उसमें मैं ब्रम्ह हूं, यह केवल शब्द होता है, "मैं"... मैं तो होता ही नहीं, ब्रम्ह ही होता है।
तोतापुरी भी चकित हुआ था, लेकिन उसे पता नहीं था कि जिसने तू को केंद्र माना हो, वह इतनी ही सरलता से किसी भी बात के लिए राजी हो सकता हैत्तू को केंद्र माना हो तो! मैं को केंद्र माना हो तब तो कोई उपाय नहीं है। रामकृष्ण ने कहा कि बिल्कुल सही, मुझे करवा दो। यह है परिधि पर जीनेवाले व्यक्तित्व का ढंग।
लेकिन बहुत मजे की घटना घटी। तोतापुरी ने कहा कि ठीक है, तो तुम्हारी तैयारी पूरी है?
रामकृष्ण ने कहा कि जरा मैं मंदिर में जाकर मां को पूछ आऊं... कि अब तुझे भी छोड़ना चाहता हूं, आज्ञा है? तू को भी छोड़ना चाहता हूं, आज्ञा है? तोतापुरी ने कहा, हो गयी व्यर्थ बात सब। जिसे छोड़ना ही है उससे पूछने जाने की.जरूरत? जिसे छोड़ना ही है उससे पूछने जाने की.जरूरत... और पूछकर कैसे छोड़ोगे?
रामकृष्ण ने कहा, लेकिन मैं तो बचा नहीं, तो मैं तो कैसे छोड़ूंगा! वही बची है अब... छोड़े-पकड़े... मैं तो बचा नहीं अब; इतना भी निर्णय मैं नहीं ले सकता हूं कि छोड़ूं। जिस दिन सब छोड़ दिया उसके हाथ में, उस दिन यह निर्णय भी छोड़ दिया। अगर उसकी आज्ञा न मिली तो अज्ञानी मर जाऊंगा, लेकिन अब कोई उपाय नहीं है।
यह तू को केंद्र मानकर जीनेवाले का भाव है; वह अज्ञान में भी मरने को राजी है। क्योंकि मैं के लिये इतनी भी जगह नहीं रखना चाहता कि अगर ज्ञान का मौका आ जाये, तो मैं उठकर कहे कि अच्छा चलो, राजी हूं।
भक्तों ने गाया है कि मुक्ति नहीं चाहिए हमें, मोक्ष नहीं चाहिए, निर्वाण नहीं चाहिए; बस तेरी वृंदावन की गली काफी है, पर्याप्त हैत्तेरे वृंदावन की गली काफी है, पर्याप्त है; क्योंकि मोक्ष तो मैं का होता है, वृंदावन की गली तू की होती है।
तो भक्तों ने कहा, मोक्ष नहीं चाहिए क्योंकि मोक्ष का तो मतलब हुआ, मेरा मोक्ष। कोई परमात्मा का तो मोक्ष होता नहीं। ख्याल रखिये, मोक्ष तो मेरा होता है, निर्वाण मेरा होता है, ज्ञान मेरा होता है। तो भक्तों ने

गाया है कि नहीं ज्ञान चाहिए, नहीं मोक्ष चाहिए, नहीं निर्वाण चाहिए, बस तेरे वृंदावन की गली में पड़े रहें, इतना काफी है। यह तू को केंद्र मानकर जीनेवाले का भाव है।
इस शुद्धतम चेतना को तू कहने के पीछे बहुत कारण हैं, उनमें एक यह भी है
कि शुद्धतम चेतना को पाना हो तो वह शुद्धतम चेतना तू स्वभाव की है, ऐसा मानकर चलना बहुत सहयोगी हो जाता है। वह मैं स्वभाव की है तो कभी-कभी खतरे हो जाते हैं। सौ में निन्यानबे मौके पर खतरा है इस बात का कि उसको मैं स्वभाव का मानकर चलने पर अहंकार प्रबल न हो जाये, विसर्जित होने के बजाय। उपनिषदों ने ठीक कहा है, "अहं ब्रह्मास्मि", लेकिन उन लोगों ने कहा है,
जो सौ में कभी एक ही बार घटित होते हैं। यह अपवाद घोषणा है। यह उन्होंने कहा है जिन्होंने अपने "मैं" में सभी कुछ समा लिया; जिनका मैं इतना बड़ा हो गया कि बाहर कोई तू ही न बचा; यह उन्होंने कहा है। बड़ा मुश्किल है, क्योंकि रस बहुत रहता है मैं का। और मैं का सारा रस इसमें रहता है कि वह किसी तू के सामने अकड़ कर खड़ा हो सके; नहीं तो उसका फिर रस नहीं रह जाता। अगर इस जगत में कोई तू नहीं है, मैं ही अकेला हूं तो मैं कहने से भी क्या अर्थ रह जायेगा? अहंकार का रस ही दूसरों पर निर्भर है। इसलिए बड़े मजे की बात है, अहंकार कितनी ही घोषणाएं करे स्वतंत्र होने की, उसे पता नहीं कि वह आमूल परतंत्र है; दूसरे के बिना वह हो ही नहीं सकता। जब एक आदमी कहता है, मैं सम्राट हूं तो उसे पता नहीं कि वह जिस प्रजा की छाती पर खड़े होकर अपने को सम्राट कह रहा है, उस प्रजा के प्रति परतंत्र भी है; क्योंकि उसके बिना सम्राट नहीं हो सकता। जो कहता है, मैं मालिक हूं, उसे पता नहीं कि गुलाम के बिना वह मालिक नहीं हो सकता; और जिस गुलाम के बिना मालकियत न हो सकती हो, वह मालकियत मालकियत कैसी? वह गुलाम से परतंत्र है, गुलाम से बंधी है। मैं की सभी घोषणाएं दूसरे तू को छोटा करके दिखाने में ही खड़ी होती हैं। तो अहंकार यह रस भी ले सकता है।
उपनिषदों ने जब यह घोषणा की थी "अहं ब्रह्मासिम" की, तब बड़े सरल चित्त
और बड़ा निर्दोष जगत था। लेकिन क्रमशः अनुभव में आना शुरू हुआ कि मैं को केंद्र पर रखकर खतरा ज्यादा है। सौ में एक शायद मैं को केंद्र पर रखकर भी परमात्मा को उपलब्ध हो जाये, निन्यानबे भटक जाते हैं। और यह सर्वसार उपनिषद जो है, यह अधिकतम... अधिकतम लोगों की साधना बन सके, और अधिकतम सत्यों का निचोड़ इसमें आ जाये, उस दृष्टि से है। इसलिए उसे "त्वम्" कहा है, "अहंब्रह्मास्मि" नहीं कहा... कि वह "तू" स्वभाववाला है।
इसलिए पहले से ही तैयारी रखना कि उसकी तरफ जाने का मतलब मैं को मिटाना है; उसकी यात्रा मैं के विसर्जन की यात्रा है। अगर कोई इतना भी स्मरण रख सके सतत 9 वास लेते-छोड़ते कि मैं नहीं हूं तू है, तो सिर्फ थोड.े ही दिनों में उसे पता लगेगा कि चित्त के सारे तनाव विसर्जित हो गये; चित्त का सारा संताप गिर गया; चिंता खो गयी; क्योंकि चिंता के लिए, संताप के लिए, तनाव के लिए मैं की खूंटी बिल्कुल.जरूरी है, उसी पर टंगती हैं ये चीजें; उसके बिना नहीं टंग सकतीं।
अगर इतना ही भाव गहन होता चला जाये कि मैं नहीं हूं, तू ही है, तो एक दिन अचानक आप पायेंगे कि चिंतित होना मुश्किल हो गया। करना भी चाहें तो चिंता नहीं कर सकते है, क्योंकि चिंता मैं की छाया है। मैं खो जाये तो चिंता नहीं है। ओैर निश्चिंतता तू की छाया है। तू का भाव प्रगाढ़ हो जाये कि तू ही है, तो निश्चिंतता अपने आप फलित हो जाती है।
नीत्शे ने जीवन भर चेष्टा की इस भांति जीने की, जैसे परमात्मा नहीं है-घोषणा की कि वह रहा भी हो कभी तो अब मर चुका है। लेकिन नीत्शे ऐसे अदभुत प्रतिभाशाली व्यक्ति था, उसी हैसियत का जैसा कोई बुद्ध, या जैसा कोई कृष्ण-उतनी तीव्र मेधा का व्यक्ति था; लेकिन ईश्वर के इनकार करने से सारी मेधा चिंता ही बन गयी; सारी प्रतिभा चिंता बन गयी। और जब छोटी-मोटी लोग िंचंतित होते हैं तो उनकी चिंता भी छोटी होती है, ध्यान रखना। जब महा प्रतिभावाले लोग चिंतित होते हैं तो उनकी चिंता भी महान हो जाती है।
तो नीत्शे के लिए सिवाय पागल होने के कोई उपाय न बचा; विक्षिप्तता ही फलित हुई। इतनी बड़ी प्रतिभा थी कि छोटी-मोटी चिंता तो ऐसे व्यक्ति को होती

ही नहीं; महाचिंता फलित हुई। उस महाचिंता में आधारभूत कारण सिर्फ एक था कि यह व्यक्ति नीत्शे बुद्ध जैसी शांति को उपलब्ध हो सकता था; इसमें जरा भी, रत्तीभर कमी न थी। लेकिन यह ह.जारों पागलों के पागलपन को अकेला उपलब्ध हो गया। और एकमात्र कारण कि पूरे व्यक्तित्व को मैं के आधार पर खड़ा करने की कोशिश की।
नीत्शे ने लिखा है अपनी एक डायरी में कि अगर कहीं कोई परमात्मा है तो पहले मैं ही परमात्मा होना चाहूंगा; उसे नंबर दो ही जगह हो सकती है। अगर कोई परमात्मा हो ही सकता है तो मुझमें ही ऐसी क्या कमी है? और अगर परमात्मा है ही तो कम से कम मैं उसे इनकार करने की घोषणा और स्वतंत्रता तो कर ही सकता हूं... कि नहीं है। नीत्शे ने कहा, कम से कम इतनी बात के लिए तो मैं आत्यंतिक हो सकता हूं कि मैं कहता हूं कि नहीं हो तुम। और इस बात के लिए मुझे मजबूर नहीं किया जा सकता कि ईश्वर है। ईश्वर भी मजबूर नहीं कर सकता। कम से कम इस मामले में तो मैं ईश्वर से भी श्रेष्ठ हो जाता हूं-इतनी बात में कि तुझे भी होने के लिए कम से कम मेरी स्वीकृति चाहिए। अगर मैं इनकार करता हूं तो तेरा भी उपाय नहीं है कोई कि तू मुझे राजी कर ले कि तू है।
यह, यह "मैं" को केंद्र पर रखकर जीने का जो रूप हो सकता है वह है।
नीत्शे की पीड़ा को समझना बहुत कठिन है। लेकिन थोड़ि बहुत पीड़ा हम समझ सकते हैं क्योंकि छोटा-मोटा अहंकार हमारा भी होता है; उसको लेकर हम जीते हैं।
कभी एक छोटा प्रयोग करें... चौबीस घंटे के लिए "मैं" को केंद्र से हटा दें, सिर्फ चौबीस घंटे के लिए; "तू" को केंद्र पर रख लें। सिर्फ चौबीस घंटे के लिए सतत स्मरण रखें कि तू। जब पैर में पत्थर लग जाये, तब भी; जब कोई गाली दे जाये, तब भी; जब कोई अंगारा फेंक दे ऊपर, तब भी; जब कोई फूल की माला गले में डाले, तब भी; जब कोई चरणों में सिर रख दे, तब भी-चौबीस घंटे के लिए स्मरण रख लें कि मैं नहीं हूं केंद्र पर तू है। तो आपकी जिंदगी में एक नये अध्याय का प्रारंभ हो जायेगा। अगर चौबीस घंटे यह स्मरण संभव हो सका, अगर पूरा न भी हुआ, चौबीस घंटे में चौबीस मिनट भी पूरा हो गया, तो आप वही आदमी दुबारा नहीं हो सकेंगे; क्योंकि एक बार तू के साथ जीने की निश्चिंतता मिल जाये जो फिर आप मैं के साथ कभी जीना न चाहेंगे।
मैं से भार तू पर चला जाये तो इस शुद्ध चेतना को खोजना आसान हो जाता है; या शुद्ध चेतना मिल जाये तो मैं से तत्काल तू की तरफ भाव चला जाता हैं इसलिए उसे "त्वम्" कहा है।
"ब्रम्ह सत्य, अनंत और ज्ञानरूप है। जो अविनाशी है वह सत्य कहलाता है।"
सत्य की परिभाषा की बड़ी चेष्टाएं हुई हैं। सत्य क्या है? बहुत-बहुत... बहुत-बहुत द्वारों से मनुष्य ने सोचा है, सत्य क्या है? किसे हम कहें सत्य? विज्ञान तथ्य को सत्य कहता है, और विज्ञान की परिभाषा आज बड़े पैमाने
पर स्वीकृत है। विज्ञान कहता हैः जो तथ्य है, वही सत्य है। तथ्य का मतलब यह है कि जिसे प्रयोग से जांचा-परखा जा सके, जिसके लिए प्रमाण वस्तुजगत में उपलब्ध हो सकें।
समझेंः यह हाथ मैं ऊपर उठाता हूं, अगर यहां बैठे हुए इतने लोगों में
से एक व्यक्ति कहे सिर्फ कि हां, मैं हाथ को उठा हुआ देखता हूं और बाकी लोग कहें कि नहीं देखता हूं, तो विज्ञान कहेगा, यह आदमी स्वप्न देख रहा है, क्योंकि कोई गवाही दूसरी इसे मिलती नहीं है। यह तथ्य नहीं है, क्योंकि अगर यह तथ्य होता तो बाकी लोग जो मौजूद हैं उनको भी यह हाथ दिखाई पड़ता। यह स्वप्न है। स्वप्न होते हैं वैयक्तिक, तथ्य होते हैं सामूहिक। समूह... आपके घर में रखी टेबल को सभी लोग देख पाते हैं, सब राजी हो सकते हैं कमोबेश कि टेबल है; लेकिन आप जाकर कहें कि मेरे कमरे में परमात्मा मौजूद है, तो वे सभी लोग कहेंगे कि आप... आपको दिखाई पड़ता हो भला, हमें दिखाई नहीं पड़ रहा है। तो आप किसी कल्पना में खो गये हैं, आप किसी स्वप्न में हैं।
यह मजे की बात है कि स्वप्नों में साझेदारी नहीं की जा सकती। आप एक ही सपना दो आदमी साथ-साथ नहीं देख सकते हैं; कि देख सकते हैं? अब तक तो नहीं

हुआ ऐसा। स्वप्न में कोई साझेदारी, कोई दोस्ती नहीं चलती। स्वप्न सदा वैयक्तिक है। इसलिए जो वैयक्तिक है, विज्ञान कहता है वह स्वप्न है, वह तथ्य नहीं है। और जो सामूहिक है वह तथ्य है। और तथ्य ही सत्य की परिभाषा है-विज्ञान के लिए।
उपनिषद को इससे कोई एतराज नहीं है। पूर्वीय मनीषा को इससे कोई एतराज नहीं कि तथ्य सत्य है। लेकिन पूर्वीय मनीषा एक और गहन सवाल उठाती है और विज्ञान दिक्कत में पड़ जाता है। पूर्वीय मनीषा यह कहती है कि माना कि समूह के सामने वस्तुगत रूप से, ऑबजेक्टिवली जो मौजूद है, वह सत्य है; लेकिन जो आज मौजूद है, वह कल गैरमौजूद हो जाता है; और जो कल गैरमौजूद था वह आज मौजूद हो जाता है। तो पूर्वीय मनीषा यह कहती है कि हम सत्य तो उसको कहते हैं जो कभी गैरमौजूद नहीं होता। ऐसा नहीं है कि आज है और कल नहीं हो गया। जो सदा ही है, हम सिर्फ उसी को सत्य कहते हैं; बाकी को हम तथ्य कहते हैं।
तो पूर्वीय मनीषा तीन हिस्से करती है-स्वप्न उसे कहती है, जो व्यक्ति
की निजी कल्पना है; तथ्य उसे कहती है, जो समूह का अनुभव है; और सत्य उसे कहती है, जो शा9 वत की व्यवस्था है, जो सदा है; क्योंकि जो कल तथ्य था, वह आज तथ्य नहीं है।
कल आप जवान थे और सभी ने गवाही दी थी कि आप जवान हैं; और आज आप जवान नहीं हैं! सत्य का क्या हुआ? और अगर सत्य भी ऐसा बदल जाता है दस साल में तो रात भर जो सपना चला और दस घंटे बाद बदल गया, उसमें और इसमें जो फर्क है वह केवल समय की अवधि का ही तो हुआ। एक आदमी सपने में सम्राट था, रात आठ घंटे सम्राट रहा, सुबह होकर फिर वापिस भिखारी हो गया, तो आठ घंटे तो वह सम्राट था। आप कहेंगे, हम सब इसमें गवाह नहीं हैं, लेकिन वह आदमी कहेगा कि सपने में जितने भी लोग मौजूद थे, सब इसके गवाह थे। मैं अकेला ही सम्राट नहीं था- नौकर-चाकर थे, मंत्री थे, फौंजे थीं, बड़ी राजधानी थी-सब था; और वे सब गवाह थे, क्योंकि सब मुझे स्वीकार करते थे कि मैं सम्राट हूं।
तो फर्क इतना हुआ कि वह आदमी आठ घंटे सपना देखता है, और आपकी जवानी दस
या बीस साल... समय का फासला हुआ। अगर ऐसा समझ लें कि एक आदमी कोमा में पड़ जाये बीस साल तक और अपना सपना देखता रहे सम्राट होने का...
ऐसा हो जाता है। मैं एक गांव में गया तो एक स्त्री नौ महीने से बेहोश
है और चिकित्सक कहते थे कि वह तीन साल कम से कम बेहोश रह सकती है और जिंदा... कोमा में पड़ी है! अगर यह स्त्री सपना देख रही होगी नौ महीने से कोई, और .जरूर देख रही होगी। एक तो बेहोश पड़ी है ओैर दूसरे स्त्री! सपना.जरूर देख रही होगी। तो नौ महीने में ऐसा कोई भी तो उपाय नहीं है जानने का कि जो यह देख रही है वह सपना है। और सपने में जो भी होंगे वे सब राजी होंगे। तो क्या नौ महीना लंबा होने से इसका सपना सत्य हो जायेगा? फिर ऐसा भी नहीं है, आज जिसे मैं सपना देखता हूं, कल हो सकता है वह समूह का सत्य भी हो जाये। अब्राहम लिंकन ने मरने के तीन दिन पहले सपना देखा। आधी रात उठ गया और अपनी पत्नी को उसने उठाया और कहा कि बड़ी हैरानी का सपना मैंने देखा हैः कि मेरी हत्या कर दी गयी है और मैं ह्वाईट हाउस के फलां-फलां कमरे में मुर्दा पड़ा हुआ हूं; तू मेरे सिर कि तरफ खड़ी है, मेरे पैर की तरफ दो आदमी खड़े हैं... और एक आदमी ने काले रंग के कपड़े पहन रखे हैं, लेकिन वह मेरा परिचित नहीं मालूम होता। पत्नी ने कहा, सो जाओ, सपना है। लिंकन ने भी कहा कि बस, बता दिया।... सो गया।
तीन दिन बाद हत्या हो गयी लिंकन की... और जिस कमरे में सपना उसने देखा
था उस कमरे में उसकी लाश पड़ी है और पत्नी सिर के पास है। और पैर के पास दो आदमी खड़े हैं, और एक आदमी काला कपड़ा पहने हुए है और पत्नी जानती है कि यह लिंकन से अपरिचित आदमी है। सारा चित्र वही का वही है।
तो जो तीन दिन पहले सपना था, वह तीन बाद सत्य हो गया सामूहिक। तो सपने
को और तथ्य को कितना फासला करियेगा? तीन दिन का ही फर्क पड़ा केवल। अवधि का ही फर्क हुआ।
सपने सत्य हो जाते हैं, सत्य सपने हो जाते हैं। जिन्हें हमने बिल्कुल तथ्य माना था एक दिन खो जाते हैं हाथ से और बिल्कुल पता नहीं चलता। आज मैं किसी को प्रेम करता हूं और मैं कह सकता हूं कि जान दे सकता हूं, यह प्रेम

इतना सत्य है। और कल... ? कल प्रेम की कहीं राख भी नहीं मिलती; कहीं खोजे से धुआं भी नहीं मिलता कि जो आग इतने जोर से जलती थी, वह कम से कम कुछ धुआं तो पीछे छोड़ गयी होती! वह कहीं पता नहीं चलता। वह जो इतना सत्य था, इतना तथ्य था कि मैं जीवन दांव पर लगा देता, वह इतना असत्य हो जायेगा यह किसने सोचा था?
भौतिकवादी चिंतन दो बातों में फर्क कर पाता है केवल; वह कहता है, एक तो
है स्वप्न-अर्थात अतथ्य, फिक्शन; और एक है तथ्य। और तथ्य से उसका मतलब है जिस पर अधिक लोग राजी हैं, समूह राजी है; और जिसकी वस्तुगत सत्ता है; जिसे हम वस्तुगत रूप से जांच-परख सकते हैं। लेकिन उपनिषद का यह ऋषि कहता हैः जो अविनाशी है, वही सत्य है।
हम तीन हिस्से करते हैं... स्वप्न हम उसे कहते हैं जो व्यक्तिगत अनुभव है।.जरूरी नहीं कि अतथ्य हो; तथ्य भी हो सकता है कभी। जो सामूहिक अनुभव है उसे हम तथ्य कहते हैं, लेकिन जरूरी नहीं कि सदा ही तथ्य हो; कभी स्वप्न भी हो सकता है। इन दोनों को हम सत्य नहीं कहते; हम सत्य उसे कहते हैं जो सदा एकरस, एक जैसा है-जो न कभी स्वप्न है, न कभी तथ्य है, न कभी बदलता है, न कभी यह से वह होता, न वह से यह होता, जो बस है। उसके पहले हम सत्य को मानने को राजी नहीं है। इसलिए सत्य की हमारी परिभाषा... अविनाश शाश्वतता को, नित्यता को आधार मानती है। इसलिए हमने जगत को माया कहा; और कोई कारण नहीं है।
जब हम कहते हैं, जगत माया है या शंकर कहते है, जगत माया है, तो उसका यह मतलब नहीं कि जगत नहीं है; उसका केवल मतलब इतना है कि जगत ऐसा है कि सदा नहीं रहेगा। शंकर जब कहते हैं कि जगत माया है तो बहुत लोगों ने भ्रांति समझी और उन्होंने समझा कि शंकर कहते हैं, जगत नहीं है... यह जो वृक्ष दिखाई पड़ रहा है, यह नहीं है; कि आप जो यहां बैठे हैं, आप नहीं हैं। नहीं, शंकर का ऐसा अर्थ नहीं है।
शंकर कहते है, आप बिल्कुल हैं, लेकिन आप ऐसे हैं कि अभी हैं और कल नहीं होंगे। इसलिए हम आपको सत्य नहीं कहते; हम आपको माया कहते हैं। हम तो आपके भीतर उस तत्व को सत्य कहते हैं जो अभी भी है, और कल जब आप नहीं होंगे तब भी होगा, और कल जब आप नहीं थे तब भी था-जब आप पैदा नहीं हुए थे तब भी था आपके भीतर, और जब आप मर जायेंगे तब भी होगा, जब आप जवान हैं तब भी, और जब बूढ.े हैं तब भी, और जब यश के शिखर पर होते हैं तब भी, और जब आप असम्मान की गर्त में गिर जाते हैं तब भी-जो हर हालत में होगा। हर हालत में होगा... काई हालत जिसके होने में रत्तीभर का फर्क नहीं करती है, हम केवल उसी को सत्य कहते हैं, शेष सब माया है। शेष सब माया है।
तो फिर माया और स्वप्न में हम क्या फर्क करेंगे?
पूर्वीय मनीषा की दृष्टी से सामूहिक स्वप्न का नाम जगत है और व्यक्तिगत जगत का नाम स्वप्न है। सामूहिक स्वप्न का नाम जगत है; व्यक्तिगत जगत का नाम स्वप्न है... और सत्य इन दोनों में नहीं है।
पर इसे सोचना पड़ेगा। अविनाशी तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता। कोई अविनाशी चीज देखी? अविनाशी तो कुछ दिखाई पड़ता नहीं; सभी चीजें नाशवान मालूम होती हैं। सभी क्षणभंगुर हैं। सभी समय की सीमा पार करके आगे नहीं जा पातीं, समयातीत नहीं हो पातीं, सब समय में बिखर जाती हैं। कोई जरा जल्दी, कोई जरा देर, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। देर-अबेर का सवाल नहीं है, लेकिन समय सबको मिटा देता है।
अविनाशी कोई चीज आपने देखी जिसको आप कह सकें, यह कभी नहीं मिटती? बाहर
तो हम नहीं देख सकते, क्योंकि बाहर जिस माध्यम से हम देखते हैं वह माध्यम ही अविनाशी नहीं है; जिस आंख से हम देखते हैं वही विनाशवान है। इसलिए विनाशवान से अविनाशी नहीं देखा जा सकता; यह तो बहुत सीधी सी बात है। आंख अपने से ज्यादा बड़े को नहीं देख सकती। आंख अपनी सीमा के भीतर देख सकती है, आंख खुद ही विनाशशील है इसलिए विनाशशील को देख सकती है; कान खुद विनाशशील है इसलिए विनाशशील को सुन सकता है; हाथ खुद विनाशशील है इसलिए विनाशशील को स्पर्श कर सकता है। हाथ अविनाशी को कैसे स्पर्श करेगा! ... अविनाशी को कैसे स्पर्श करेगा?

अविनाशी को जानने के लिये अविनाशी माध्यम खोजना पड़े, विनाशशील माध्यम
से अविनाशी का पता नहीं चलता। और हमारे शरीर के पास जितनी इंद्रियां हैं वे सब विनाशवान हैं; शरीर की इंद्रियां हैं। तो अगर अविनाशी की तरफ चलना हो तो ऋषि कहेगा कि अपने भीतर चलें, जहां इंद्रियों का उपयोग नहीं करना पड़ता। भीतर आंख के बिना भी देखने की क्षमता होती है; और प्रकाश के बिना भी देखने की क्षमता होती है; और भीतर कान के बिना भी सुना जाता है, और हाथ के बिना भी भीतर स्पर्श हो जाते हैं।
तो वे स्पर्श, वे दृश्य, वे अनुभूतियां विनाशशील इंद्रियों से नहीं होतीं; लेकिन क्या जो विनाशशील इंद्रियों से नहीं होता वह अनिवार्य रूप से अविनाशी होगा? क्योंकि भीतर भी जो दृश्य दिखाई पड़ता है वह भी अभी दिखाई पड़ता है, फिर कल दिखाई नहीं पड़ता।
एक मित्र कल आये थे; उन्होंने कहा, पहले दिन तो बहुत प्रकाश दिखाई पड़ा था, फिर दूसरे दिन ध्यान में नहीं दिखाई पड़ रहा। तो निश्चित ही वह प्रकाश अविनाशी तो नहीं हो सकता, जो दिखा और नहीं दिखा... खो गया; था और अब नहीं है; वह भी एक रूप ही रहा, वह भी एक आकार ही रहा। उनको मैंने कहा कि प्रकाश दिखे तो, न दिखे तो, दोनों स्थितियों में एक चीज शा9 वत हैः देखनेवाला। प्रकाश दिखा तो देखनेवाले ने कहा, प्रकाश दिखता है; प्रकाश नहीं दिखा तो देखनेवाले ने कहा, प्रकाश नहीं दिखता है। बाकी एक दोनों मे थिर है।
तो भीतर के अनुभव भी अनिवार्य नहीं कि अविनाशी हों, क्योंकि वे भी आज हैं और कल नहीं होते हैं। लेकिन एक तत्व भीतर सदा होता हैः वह जो ज्ञाता है, वह जो द्रष्टा है, वह जो देखता है, वह सदा होता है। वही एक हमारे भीतर अविनाशी स्वर है। उसे हम पहचान लें तो हम जगत में भी अविनाशी स्वर को पहचानने लगेंगे। उसके अलावा शेष सब विनाशशील है।
मैं बच्चा था; बचपन नहीं रहा, लेकिन जिसने बचपन देखा था वह अभी भी मेरे भीतर है; जवान हूं, जवानी न रही, लेकिन जिसने जवानी देखी थी वह अब भी मेरे भीतर है; बूढ़ा हूं, बुढ़ापा भी चला, लेकिन जिसने बुढ़ापा देखा वह भी मेरे भीतर है-बचपन, जवानी, बुढ़ापा, जिसने तीनों देखे वही मेरे भीतर शाश्वत स्वर मालूम पड़ता है, बाकी तो सब आया और गया। सुख देखे, दुख देखे, सम्मान-असम्मान देखे, लेकिन सिर्फ देखनेवाला भर बना रहता है, शेष सब बिखरता चला जाता है। इस देखनेवाले को अगर हम थोड़ा खोज लें, तो हमें पता चलेगा, इस देखनेवाले ने जनम भी होते देखा, और हमें पता चलेगा कि यह देखनेवाला मृत्यु को भी होते देखेगा तब हमने एक शाश्वत कहीं स्वर को पकड़ लिया। बस यह एक स्वर हमारे हाथ में आ जाये तो यह सारा जगत तत्काल शाश्वत हो जाता है। इस एक शाश्वत को पहचान लेने से हमें वह दृष्टि उपलब्ध हो जाती है कि जहां भी शाश्वत है, हम उसे पहचान लेंगे और जहां अशाश्वत है उसे भी हम पहचान लेंगे। तब रूप सभी अशाश्वत रह जाते हैं और पीछे छिपा हुआ अरूप शाश्वत हो जाता है। तथ्य रूप हैं और सत्य अरूप है।
इसलिए विज्ञान की जो परिभाषा है तथ्य की, धर्म की सत्य की परिभाषा उससे ज्यादा गहन है... और ज्यादा पारगामी है।
"ब्रह्म सत्य, अनंत और ज्ञान-रूप है।"
सत्य है अर्थात अविनाशी है।
अनंत है, उसकी कोई सीमा नहीं; क्योंकि जिसकी भी सीमा हो वह नाश को उपलब्ध हो जायेगा।
असल में सीमा से ही विनाश शुरू होता है। सीमा ही सड़ने लगती है... सीमा
ही सड़ने लगती है, क्योंकि सीमा से ही आप किसी और से संबंधित होते हैं और वहीं संघर्ष है। अगर आपका शरीर असीम हो तो मृत्यु नहीं घट सकती है; क्योंकि असीम शरीर का अर्थ यह हुआ कि आपके बाहर अब कुछ भी नहीं है। आप मरेंगे भी तो किसमें मरेंगे? मृत्यु प्रवेश भी करेगी तो कैसे प्रवेश करेगी? मृत्यु का संदेशवाहक भी कोई न हो सकेगा। कोई बीमारी, कुछ भी आपके अतिरिक्त नहीं है तो आप मर नहीं सकते हैं।
शरीर मरता है... क्योंकि शरीर के बाहर बहुत कुछ है जिससे वह चौबीस घंटे संघर्ष में है। वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी का शरीर सैकड़ों साल तक जी सकता है, लेकिन घिस जाता है संघर्ष में। जैसे लोहे पर जंग खाती रहती है, जैसे

हवा के झोंके आकर वृक्ष को कमजोर करते रहते हैं, जैसे धूप... चारों तरफ से संघर्ष है। वैसे ही आपके शरीर पर भी संघर्ष है। घिसपिस जाते हैं। सत्तर साल में जराजीर्ण हो जाते हैं। मौत करीब आ गयी उसका मतलब केवल इतना है कि आपकी सीमा पर पड़नेवाले आघातों ने आपको जराजीर्ण कर दिया।
तो जो सीमित है वह जराजीर्ण हो जायेगा, अविनाशी नहीं हो सकता; क्योंकि सीमा के पार से हमले होते ही रहेंगे, संघर्ष होता ही रहेगा। प्रतिपल संघर्ष है। अगर हम एक व्यक्ति के शरीर को बिल्कुल फ्री.ज कर दें, बिल्कुल ठंडा कर दें, और सब संघर्ष से मुक्त कर दें, तो उस शरीर को ह.जारों-लाखों साल तक जिंदा रखा जा सकता है। कोई अड़चन नहीं है। क्योंकि मौत आती है बाहर के संघर्षण से। लेकिन, ह.जारों-लाखों साल के बाद भी वह सड़ ही जायेगा। क्योंकि उसकी सीमा फिर भी सीमा ही है। लंबा हो सकता है समय, लेकिन शाश्वत नहीं हो सकता।
इसलिए हम ब्रम्ह को अनंत कहते हैं; उसकी कोई सीमा नहीं है; उसका कहीं कोई अंत नहीं है। और जब अंत नहीं है तभी वह पूर्ण हो सकता है; क्योंकि अगर अंत होगा तो अंत सदा दूसरे से होता है, स्वयं से नहीं होता।
आपका मकान वहीं समाप्त होता है जहां दूसरे का शुरू होता है। अगर दूसरा मकान ही न हो पृथ्वी पर तो आपको अपने मकान के आसपास बाऊंड्री-वॉल (चार दीवारी) उठाने की.जरूरत नहीं है; सारी पृथ्वी ही आपका मकान है। वह तो पड़ोसी की वजह से आपके मकान की बांउड्री बनती है; दूसरे की वजह से सीमांत आता है।
परमात्मा पूर्ण अगर है, तो फिर अनंत ही हो सकता है। और जो पूर्ण नहीं है, वह अविनाशी नहीं हो सकता; क्योंकि अपूर्णता से विनाश जन्मता है; अपूर्णता से मौत फलित होती है।
इसलिए ब्रम्ह को कहा सत्य, अनंत और ज्ञान।
मनुष्य के अनुभव में जो श्रेष्ठतम अनुभव है वह ज्ञान है। इसे थोड़ी कठिनाई पड़ेगी समझने में, क्योंकि कोई कहेगा कि मनुष्य के अनुभव में सबसे श्रेष्ठ अनुभव जो है वह प्रेम है; कोई कहेगा मनुष्य के अनुभव में जो सबसे श्रेष्ठ अनुभव है वह आनंद है-या कोई कुछ और कहेगा। लेकिन, वस्तुतः मनुष्य के अनुभव में जो श्रेष्ठतम अनुभव है वह ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान के बिना प्रेम भी नहीं जाना जाता, और ज्ञान के बिना आनंद भी नहीं जाना जाता। तो जिसके बिना प्रेम न जाना जा सके, जिसके बिना आनंद न जाना जा सके, वह दोनों के ऊपर चला गया, पार हो गया। ज्ञान बिना प्रेम के हो सकता है, और ज्ञान बिना आनंद के हो सकता है, लेकिन आनंद और प्रेम बिना ज्ञान के नहीं हो सकते। इसलिए परमात्मा को ज्ञान ऋषियों ने कहा है।
जीसस ने कहा है, "गॉड इ.ज लव"। बहुत महत्वपूर्ण बात कही है; ईश्वर प्रेम है। लेकिन कारण दूसरे हैं; परिभाषा परिस्थितिगत है, कारण बिल्कुल दूसरे हैं। वह आदमी को यह कहलवाना, समझाना चाहते हैं कि परमात्मा प्रेम है और अनुकंपा के लिए तुम आशा रख सकते हो; परमात्मा प्रेम है और तुम असहाय नहीं हो। तुम उसका प्रेम मांगो, मिल जायेगा। मनुष्य आश्वस्त हो सके, इसलिए परमात्मा की परिभाषा में प्रेम जीसस ने डाला है।
मैं भी निरंतर कहता हूं कि परमात्मा प्रेम है; या यह भी कहता हूं कि प्रेम ही परमात्मा है। वह भी सिर्फ इसी ख्याल से कि आदमी को इससे कोई प्रयोजन नहीं कि परमात्मा ज्ञान है... इससे कोई प्रयोजन नहीं। होगा परमात्मा ज्ञान लेकिन ज्ञान से हमारे संबंध नहीं जुड़ते... ज्ञान से हमारे संबंध नहीं जुड़ते; ज्ञान से एक अलिप्तता बनी रहती है, एक फासला बना रहता है, एक दूरी बनी रहती है। ज्ञान को स्पर्श करने में मुश्किल पड़ेगी, ज्ञान को स्पर्श नहीं किया जा सकता; ज्ञान और हमारे बीच कोई सेतु निर्मित नहीं होता।
इसलिए परमात्मा को प्रेम कहने का कारण सिर्फ इतना है... निश्चित ही परमात्मा प्रेम है, लेकिन वह उसकी अल्टीमेट डेफिनेशन नहीं है; वह उसकी आखरी व्याख्या तो वही है जो ऋषि कर रहा है... कि परमात्मा ज्ञान है। वह परिस्थितिगत व्याख्या है, वह मनुष्य को ध्यान में रखकर की गयी व्याख्या है कि परमात्मा प्रेम है... और मनुष्य के बड़े उपयोग की है; यह ज्ञान वाली

परिभाषा बिल्कुल उपयोग की नहीं है। यह परिभाषा बिल्कुल ठीक है; यही ठीक परिभाषा है, लेकिन काम की बिल्कुल नहीं है।
जिन्होंने कहा परमात्मा आनंद है, सच्चिदानंद कहा है, आनंदस्वरूप कहा है, वह भी परिस्थितिगत परिभाषा है। आदमी इतने देख में है कि अगर परमात्मा आनंदस्वरूप हो तो ही यात्रा पर निकल सकता है।
ब.ुद्ध का विचार-पांच सौ साल में भारत से जड.े उखाड़ दी गयीं उसकी; कट गया बिल्कुल। उसका कुल कारण इतना था कि बुद्ध ने परमात्मा की कोई परिस्थितिगत व्याख्या नहीं की। कहा, शून्य है। अब शून्य की तरफ जाने की कहीं कोई वृत्ति ही नहीं होती... बल्कि पता चल जाये कि इधर शून्य है तो आदमी वहां से बचेगा कि इस खतरे से बचो।... शून्य! क्या करेंगे वहां जाकर? बुद्ध से कोई पूछता कि क्या परमात्मा आनंद है, तो वे कहते कि नहीं, सिर्फ दुख-निरोध-बस, दुख नहीं होगा, इतना काफी है। लेकिन इतने से प्रेरणा नहीं उठती... दुख नहीं होगा, यह ठीक है; अच्छा है कि दुख न हो, लेकिन इतना काफी नहीं है पैर उठने के लिए। आदमी दुख में है, गहन दुख में है, इसलिए परिस्थितिगत व्याख्या है कि परमात्मा आनंद है।
लेकिन, जिसे हम कहें निरपेक्ष व्याख्या, जिसे हम कहें आदमी को छोड़कर सीधी व्याख्या, जिसमें आदमी की फिकर नहीं है कोई भी, तो वह व्याख्या यही हैः ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है।
इन परम व्याख्याओं के कारण उपनिषद कभी भी लोकमानस में प्रवेश नहीं कर पाये, क्योंकि परम व्याख्याओं से कोई संबंध आदमी का जुड़ता नहीं। बाइबल जितने गहरे प्रवेश कर जाती है मनुष्य में, उपनिषद नहीं कर पाता। यद्यपि बाइबल उपनिषद के समक्ष कुछ भी नहीं है। लेकिन व्याख्या परिस्थितिगत है, और आदमी के निकट है, और आदमी के काम की है। और सूरज ही जलता हो बहुत दूर, करोड़ों मील दूर तो किस काम का है? चलना यहां है, तो छोटा सा दीया भी काम का हो जाता है। चलना यहां है, कदम यहां उठाना है इस अंधेरे में, और आप परिभाषा करते हैं उस सूर्य की जो अनंत फासले पर है। होगा, लेकिन उससे एक इंच भी तो चलने का उपाय नहीं है। माना यह दीया बहुत छोटा दीया है, और सूरज नहीं है, पर कदम उठाने में सहयोगी है। और कदम उठ जाये तो शायद कभी हम उस सूर्य पर भी पहुंच जायें जहां दीये फेंक दिये जाते हैं।
लेकिन उपनिषद परम व्याख्या कर रहे हैं। उसका कारण है कि जिन दिनों उपनिषद जन्मे उन दिनों आदमी न तो इतने दुख में था कि कहा जाये कि आनंद; न इतना दीन था, असहाय था कि कहा जाये प्रेम; आदमी बड़ा स्वस्थ था, निर्दोष था। आखिरी व्याख्या कही जा सकती थी कि परमात्मा ज्ञान है।
यह जो ज्ञान है, सत्य है, यह अविनाशी है।
"देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता वही अविनाशी है।"
समय मिट जाये, स्थान मिट जाये, पदार्थ खो जाये, अस्तित्व खो जाये, फिर
भी जो बना रह जाता है, जो सब होने का आधार है, वही अविनाशी है।

सर्वसार उपनिषद
बारहवां प्रवचन

चैतन्य के तीन रूप

ज्ञानं नामोत्पत्तिविनाशरहितं नैरन्तर्यं ज्ञानमित्युच्यते। अनंतं नाम मृद्विकारेषु मृदिव स्वर्णविकारेषु स्वर्णमिव
तंतुविकारेषु तंतुरिवाव्यक्तादि-
सृष्टिप्रपंचेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते।
आनंदं नाम सुखचैतन्य-
स्वरूपोऽपरिमितानन्दसमुद्रोऽवशिष्ट-
सुखस्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते।। 12।।

उत्पत्ति और विनाश से रहित नित्य चैतन्य को ज्ञान कहते हैं। मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं में मिट्टी की तरह,
सोने से बनी हुई वस्तुओं में सोने की तरह,
और सूत से बनी हुई वस्तुओं में सूत की तरह,
समस्त सृष्टि में पूर्ण और व्यापक बना हुआ जो चैतन्य है,
वह अनंत कहलाता है।

जो सुखमय चैतन्य स्वरूप है, अपरिमित आनंद का समुद्र है,
और शेष रहे सुख का स्वरूप है, वह आनंद कहलाता है।

उस परम सत्ता को, उस ब्रम्ह को, उस अविनाशी को ऋषि ने ज्ञान कहा है।
लेकिन जिस ज्ञान को हम जानते हैं, उस ज्ञान से उसका कोई भी संबंध नहीं है।
हम किसे ज्ञान कहते हैं उसे ठीक से समझ लें, तो ऋषि किसे ज्ञान कहता है उसे समझना आसान हो जायेगा।
हमारा ज्ञान-पहली बात तो यह है-सदा किसी ज्ञेय का होता है; अकेला ज्ञान हमें कभी नहीं होता। हम सदा किसी वस्तु के संबंध में ज्ञान को उपलब्ध होते हैं; अकेला ज्ञान कभी नहीं होता। वृक्ष को जानते है, मनुष्य को जानते हैं, राह पर पड़े पत्थर को जानते हैं, आकाश के सूर्य को जानते हैं; लेकिन जब भी जानते हैं तो कुछ जानते हैं, जानना शुद्ध कभी नहीं जानते।
और जब भी हम कुछ जानते हैं तो उसे ऋषियों ने अशुद्ध ज्ञान कहा हैं; क्योंकि वह जो कुछ है, वह महत्वपूर्ण होता है, ज्ञान महत्वपूर्ण नहीं होता। आकाश में सूर्य को देखते हैं, सूर्य को जानते हैं, तो सूर्य महत्वपूर्ण होता है, जानना महत्वपूर्ण नहीं होता।
हमारा यह जो ज्ञान है, अगर सारे विषय हम से छीन लिए जायें तो तत्काल खो जायेगा; क्योंकि विषय के बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं है। तो इसका तो यह अर्थ हूआ कि यह ज्ञान हम पर निर्भर नहीं है, विषय पर निर्भर है। अगर सारे विषय अलग कर लिए जायें और चारों तरफ शून्य हो तो हमारा ज्ञान खो जायेगा; क्योंकि हमने ऐसा कोई ज्ञान तो जाना ही नहीं है जो अपने में ही ठहरा हुआ हो; हमारा सारा ज्ञान वस्तुओं में ठहरा हुआ है-ऑब्जेक्ट्स में।
तो यह बिल्कुल सीधा सा... सीधा सा, स्पष्ट सा विचार है कि अगर सारे पदार्थ अलग कर लिए जायें तो हमारा ज्ञान भी खो जायेगा। यह तो बड़े मजे की बात हैः इसका अर्थ हुआ कि ज्ञान हम में निर्भर नहीं है, जो पदार्थ हम जानते थे उस में निर्भर था। यह है हमारा ज्ञान।
जब ब्रम्ह को ज्ञान कहता है ऋषि तो ऐसे ज्ञान से प्रयोजन नहीं है; क्योंकि जो ज्ञान पर निर्भर हो, उसको ऋषियों ने अज्ञान कहा है। जो ज्ञान दूसरे पर निर्भर है, अगर ज्ञान के लिए भी मैं स्वतंत्र और मालिक नहीं हूं तो फिर और किस चीज के लिए स्वतंत्रता और मालकीयत हो सकती है?

यह ज्ञान हमारे और सारे अनुभवों के साथ जुड़ा हुआ है। हमारे सारे अनुभव इस ज्ञान जैसे ही हैं। कोई प्रेम करने को न हो तो क्या आप उस समय प्रेम के क्षण मे हो सकते हैं? कोई प्रेमी न हो, तो क्या आप प्रेम कर सकते हैं? शायद आप सोचेंगे, कर सकते हैं; लेकिन आपको खयाल होना चाहिए, तब भी आप तभी कर सकेंगे जब चित्त में आप पहले प्रेमी की कल्पना कर लें; नहीं तो नहीं कर सकेंगे। वह कल्पना सहारा बनेगी फिर भी। आप अकेले होकर प्रेमपूर्ण नहीं हो सकते हैं। तो ऐसा प्रेम भी क्या आपका स्वभाव होगा? ऐसा प्रेम भी दूसरे पर निर्भर हो गया।
इसलिए प्रेमी जिस बुरी तरह गुलाम हो जाते हैं इस जमीन पर और कोई गुलाम नहीं होता-हालांकि प्रेम से मिलनी चाहिए मालकियत; प्रेम से हो जाना चाहिए व्यक्ति परम स्वतंत्र; क्योंकि प्रेम तो बड़ी संपदा है... लेकिन उस संपदा को हम जानते ही नहीं। हम जिसे प्रेम कहते हैं, वह प्रेम सदा दूसरे पर निर्भर होता है। वह इतना निर्भर हो जाता है दूसरे पर कि प्रेम गुलामी बन जाती है। और प्रेम स्वतंत्रता है। तो हमारा प्रेम, और जिस प्रेम को स्वतंत्रता कहते हैं जीसस या बुद्ध, उसमें कोई संबंध नहीं है।
फूल को देखते हैं तो हमें सौंदर्य का बोध होता है; सूरज को डूबते देखते हैं तो हमें सौंदर्य का बोध होता है; लेकिन हमने क्या कभी ऐसा सौंदर्य जाना है जो किसी वस्तु पर निर्भर न हो-सीधा, शुद्ध सौंदर्य हो? नहीं, हमने ऐसा कोई सौंदर्य नहीं जाना। हमारी सब अनुभूतियां पर-निर्भर हैं; और इन्हीं अनुभूतियों का हम जोड़ हैं।
तो हमारा कोई होना भी है, हमारा कोई व्यक्तित्व भी है, या हम केवल जोड़ हैं? ... जोड़ अनुभवों के जो दूसरों पर निर्भर हैं। अगर फूल न खिलें तो हमारा सौंदर्य खो जाये, अगर वस्तुएं न हों तो हमारा ज्ञान खो जाये, अगर प्रेमपात्र न हो तो हमारा प्रेम खो जाये।
हममें जो भी है वह दूसरे से मिला है; हम बिल्कुल उधार हैं। और इसलिए हमें जीवन भर दूसरों के तरफ मोहताज होकर खड़ा रहना पड़ता है... क्योंकि डर लगा रहता है पूरे समय... अगर दूसरे ने हाथ खींच लिया तो हम खिसके और गये!
जब आपका प्रेमी मरता है, तो जो आपको पीड़ा होती है वह प्रेमी के मरने की नहीं है, वह आपके प्रेम के मर जाने की है; क्योंकि बिना प्रेमी के आप कोई प्रेम तो जानते नहीं। जब आपसे धन छिनता है तो धन के छिनने की पीड़ा नहीं है, धन के छिनने साथ ही आपका धनी होना छिन जाता है। अगर एक पंडित से उसकी किताब छीन लो तो किताब ही नहीं छिनती, पंडित का ज्ञान ही छिन जाता है। इसलिए पंडित अपनी किताब को अपने से भी ऊपर मानकर चलता है; अपने सिर पर रखकर चलता है। किताब के चरणों में सिर रखता है। किताब को पैर लग जाये तो घबड़ा जाता है। किताब पर इतना निर्भर है ज्ञान? तो यह ज्ञान ही नहीं है।
तो पहली बात तो यह कि हमारे सारे अनुभव उधार हैं... हम ही उधार हैं। एक-
एक अनुभव को हम खींच लें तो हम ऐसे ही समाप्त हो जायेंगे, जैसे किसी मशीन से एक-एक पुर्जा अलग करते जायें, थोड़ी देर में मशीन नदारद हो जायेगी। मशीन थी ही नहीं, सिर्फ जोड़ थी।
और जो व्यक्ति सिर्फ जोड़ है उसे उस आत्मा का कोई अनुभव नहीं होगा जो
कि परम स्वतंत्र है।
तो जिस ज्ञान को ऋषि कहते हैं कि ब्रम्हज्ञान है, उस ज्ञान को हम समझें कि वह ज्ञान क्या है। तो पहली तो बात उस ज्ञान की यह है कि वह ज्ञेय पर निर्भर नहीं है; वह किसी वस्तु पर निर्भर नहीं है।
जब ज्ञान ज्ञेय पर निर्भर होता है तो ज्ञान एक संबंध होता है। और जब ज्ञान ज्ञेय पर निर्भर नहीं होता तो ज्ञान एक अवस्था होता है। अवस्था और संबंध का फर्क समझ लेना।
मैंने कहा कि मैं आपको प्रेम करता हूं। अगर आप नहीं हैं तो मेरा प्रेम
खो जायेगा, क्योंकि मेरा प्रेम एक संबंध है, जिसमें दो का जुड़ना.जरूरी है; दो हों तो बीच में प्रेम का संबंध जुड़ जायेगा; एक हट जाये तो संबंध तत्काल गिर जायेगा। हम नदी के एक किनारे पर थोड़े ही पुल खड़ा कर सकते हैं! दूसरा किनारा चाहिये। पुल केवल बीच का संबंध है।

लेकिन बुद्ध बैठे हैं एकांत में एक वृक्ष के तले, नहीं कोई चारों तरफ-
इस समय भी उनका प्रेम उतना ही है, जब पास से ह.जारों लोग गुजरते हों। इस प्रेम में रत्ती भर भी भेद नहीं है। यह प्रेम संबंध नहीं है, यह बुद्ध की अवस्था है। यह प्रेमी से बंधा नहीं है, यह बुद्ध का स्वभाव है। यह प्रेम निर्जन में भी वैसा ही बरसता रहेगा, जैसे अनजान अपरिचित रास्ते पर, जहां कोई राही भी न गुजरता हो, कोई फूल खिले और उसकी सुगंध बरसती रहे। इसलिए नहीं कि कोई सुगंध लेनेवाला गुजरेगा तब फूल की सुगंध गिरेगी। जैसे अंधेरे में एक दीया जले, कोई देखनेवाला न हो और दीया जलता रहे, क्योंकि दीये के जलने का देखनेवाले से कोई संबंध नहीं है; दीये का जलना उसका स्वभाव है। हम पृथ्वी पर नहीं थे तब भी सूरज ऐसे ही चमकता था, और हम पृथ्वी पर नहीं होंगे तब भी ऐसा ही चमकता रहेगा; सूरज के उगने में हमारे देखने का कोई संबंध नहीं है, सूरज का चमकना उसका स्वभाव है।
बुद्ध जैसा व्यक्ति भी प्रेम से भरा है... वही सच में प्रेम से भरा है, क्योंकि उसके प्रेम को छीना नहीं जा सकता; वह अकेला भी उतना ही प्रेमपूर्ण है। यह प्रेम सेतु नहीं है, संबंध नहीं है, यह प्रेम चित्त की अवस्था है; यह चैतन्य की अवस्था है।
जब ब्रम्ह को कहा ज्ञान, या परम आत्मा को कहा ज्ञान तो उसका अर्थ है, ज्ञान स्वभाव है; वह कोई संबंध नहीं है। इसलिए ऋषि कहता हैः
"उत्पत्ति और विनाश से रहित नित्य चैतन्य को ज्ञान कहते हैं।"
संबंध तो उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है, सिर्फ स्वभाव उत्पन्न नहीं होता और विनष्ट नहीं होता।
मैं आपको प्रेम करता हूं; कल नहीं करता था, आज करता हूं। जन्मा प्रेम।
और बड़ा पागलपन तब पैदा होता है जब हम किसी जन्मी हुई चीज को शा9 वत बनाना चाहते हैं। तब पागलपन हो जाता है। जन्मी चीज तो मरेगी ही... जिस दिन जन्मी उसी दिन जान लेना था कि मरेगी। जिस दिन हम जन्म के बैंडबाजे बजाते हैं, उसी दिन अर्थी उठाने की तैयारी हो जाती है। समय का फासला थोड़ा लगेगा। फूल खिल रहा है... तभी उसके गिरने की शुरुआत हो गयी; झड़ने की शुरुआत हो गयी।
जन्म के साथ तो मृत्यु बंधी है; जन्म है एक छोर, मृत्यु है दूसरा छोर।
तो जो प्रेम जन्मता है वह मरेगा भी; और जिसकी उत्पत्ति होगी उसका विनाश भी हो जायेगा। जो ज्ञान पैदा होता है... और ज्ञान पैदा होता है-आंख खोली, सामने फूल खिला हुआ दिखाई पड़ा-ज्ञान हुआ कि फूल है, सुंदर है, सुगंधित है- यह जन्म हुआ। यह ज्ञान भी मरेगा। यह फूल भी मरेगा, यह ज्ञान भी मरेगा। ब्रम्ह तो ऐसा ज्ञान होगा, जो न जन्मता है और न मरता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञान किसी वस्तु के संदर्भ में नहीं होगा, वह ज्ञान स्वभाव ही होगा; वह सदा से ही होगा।
झेन फकीर अपने साधकों को कहते हैं कि अपने ओरिजनल फेस, अपने मौलिक चेहरे की खोज करो-जब तुम जन्मे नहीं थे तब तुम्हारा चेहरा कैसा था; और जब तुम मर जाओगे तब तुम्हारा चेहरा कैसा होगा। इस पर ध्यान करवाते हैं।
बड़ा कठिन है। क्या सोचियेगा? क्या ध्यान करियेगा? ध्यान करवाते हैं इसीलिए ताकि इसको सोचते-सोचते सोचना-विचारना बंद हो जाये; क्योंकि जो चीज नहीं सोची जा सकती, अगर उस पर सोचेंगे तो एक घड़ी आ जायेगी... जब सोचना बंद हो जायेगा।
झेन फकीर कहते हैं, एक हाथ की ताली कैसे बजेगी, इस पर ध्यान करो। एक हाथ की ताली तो बज नहीं सकती; पर वे कहते हैं, इसी पर ध्यान करो। अगर साधक कहता है, यह तो बज ही नहीं सकती, तो वे कहते हैं, तुम इसकी फिक्र छोड़ो कि बज सकती है कि नहीं बज सकती है, तुम पहले कोशिश करो, हम कहते हैं कि बज सकती हैत्तुम पहले कोशिश करो, ध्यान करो... महीनों। इस बिल्कुल फिजूल सी बात पर ध्यान करवाते हैं कि एक हाथ की ताली बज सकती है... कैसे बजेगी? नहीं का तो सवाल ही नहीं है।
साधक लौट-लौटकर आता है और कहता है कि चौबीस घंटे हो गये... नहीं बज सकती। गुरुकहता है, इसकी तुम फिकर ही मत करो कि नहीं बज सकती; मै पूछता हूं, कैसे बज सकती है? तुम जाओ और ध्यान करो।

महीनों बीत जाते हैं... सिर चकराने लगता है, बुद्धी घूमने लगती है, विचार काम नहीं आते, सब ठप्प हो जाता है भीतर-सोचते... सोचते... सोचते... और यह बिल्कुल पागलपन मालूम पड़ने लगता है-एक घड़ी आती है कि इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में सोचना असंभव है। और सोचना एक क्षण को भी बंद अगर हो जाता है तो वह साधक भागा हुआ आता है और वह कहता है, ताली बज गयी; क्योंकि जैसे ही विचार बंद होता है वैसे ही स्वभाव का दर्शन हो जाता है।
खोजो अपना चेहरा जो जन्म के पहले था। वह नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि जन्म के पहले कोई चेहरा ही नहीं था। जन्म ही तो चेहरे को जन्म देता है। और मृत्यु के बाद कोई चेहरा नहीं होगा, क्योंकि मृत्यु चेहरे को छीन लेती है। सोचो! सोचते... सोचते... सोचते घड़ी आती है कि सोचना टूट जाता है, श्रुंखला बंद हो जाती है; और तब जो दिखाई पड़ता है वही मौलिक चेहरा है; वही ओरिजनल फेस है-वह स्वभाव, वह स्वरूप जो जन्म के पहले था और मृत्यु के बाद भी होगा।
जो उत्पत्ति को नहीं, विनाश को नहीं उपलब्ध होता, उस नित्य चैतन्य को ज्ञान कहा है।
तो यहां ज्ञान का संबंध चैतन्य से है, जानने से नहीं; क्योंकि जानी तो सदा कोई चीज जाती है। यहां ज्ञान से हम अर्थ लें चैतन्य का, बुद्धत्व का। ज्ञान शब्द तो हमारा विकृत हो गया है क्योंकि हम उसे सदा किसी और चीज
के जानने से बांधते हैं।
अगर आपके बाबत कोई कहे कि बहुत बड़े ज्ञानी हैं तो कोई फौरन पूछेगा, किस बात के? अगर आप कहें, नहीं किसी बात के नहीं है, बस ज्ञानी हैं। तो कोई भरोसा नहीं करेगा कि यह क्या मतलब हुआ? क्या जानते हैं? चिकित्साशास्त्र के ज्ञानी हैं कि अर्थशास्त्र के ज्ञानी हैं कि दर्शनशास्त्र के ज्ञानी हैं कि धर्मशास्त्र के ज्ञानी हैं? आप कहें कि नहीं वे बस ज्ञानी हैं, तो बात बिल्कुल अर्थहीन मालूम पड़ेगी, क्योंकि ज्ञान सदा हम किसी चीज का बांधते हैं; किसी से जोड़ते हैं ज्ञान को।
इस ज्ञान से ब्रम्ह को दी गयी परिभाषा वाले ज्ञान का संबंध नहीं है।
वह ज्ञान है उत्पत्ति-विनाश से रहित नित्य चैतन्य। चैतन्य ठीक शब्द है उस ज्ञान के लिए... अवेयरनेस-या उससे भी बेहतर होगाः अलर्टनेस; क्योंकि अवेयरनेस में भी ऐसा लगता है किसी चीज के बाबत हम बंधे हुए हैं।
अलर्टनेस... सिर्फ बोध मात्र। दीया जल रहा है, कोई चीज प्रकाशित नहीं हो रही है; सिर्फ दीया जल रहा है-आसपास कुछ भी नहीं है जिस पर प्रकाश पड़े। प्रकाशित कुछ भी नहीं हो रहा, बस प्रकाश है। उदाहरण के लिये कह रहा हूं ताकि खयाल में आ जाये कि उस ज्ञान का क्या अर्थ है।
"मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं में मिट्टी की तरह, सोने से बनी हुई वस्तुओं में सोने की तरह और सूत से बनी हुई वस्तुओं में सूत की तरह समस्त सृष्टि में पूर्ण और व्यापक बना हुआ जो चैतन्य है, वह अनंत कहलाता है।"
और यह जो चैतन्य है, यह व्यक्ति की सीमा में आबद्ध नहीं है। हम यहां बैठे हैं इतने लोग; हमारा इतना भिन्न-भिन्न होना हमारे शरीरों के कारण है, हमारे चैतन्य के कारण नहीं।
एक कमरे में हम ह.जार दीये जला दें तो ह.जार दियों में जो फर्क होगा वह मिट्टी के दीये, तेल, बाती के कारण होगा; लेकिन कमरे का जो प्रकाश है वह तो एक होगा। ह.जार दीये हमने जलाये एक कमरे में। हर दीया अलग है, क्योंकि मिट्टी का ढंग, आकार अलग है; हर दीये का तेल अलग है, हर दीये की बाती अलग है, लेकिन क्या कमरे में आप फर्क कर पायेंगे कि कौन से दीये का प्रकाश कौन सा है? प्रकाश तो एक होगा, व्यापक होगा-दीये अलग, प्रकाश एक होगा।
हमारा भी जो भेद है वह दीयों का भेद है। शरीर की माटी अलग, आकृति अलग, शरीर में पड़ा हुआ ईंधन अलग, शरीर की बाती अलग; लेकिन वह जो चैतन्य है, वह जो प्रकाश है हम सबके भीतर वह एक है। जितने हम भीतर जायेंगे उतने हम ऐक्य को उपलब्ध होते चले जाते हैं और जितने हम बाहर आयेंगे उतनी अनेकता को उपलब्ध होते चले जाते हैं।
तो ऋषि कहता हैः सोने में सोने की तरह, मिट्टी में मिट्टी की तरह है, लेकिन जो समाया है वह एक ही है।

अब तो वैज्ञानिक भी इस बात के लिए राजी होंगे। आज से पचास साल पहले राजी नहीं होते थे, क्योंकि विज्ञान कहता था, एक चीज दूसरी में नहीं बदली जा सकती। और जो ऐसा मानते थे, बदली जा सकती है, वे सिर्फ नासमझ समझे जाते थे। पश्चिम में उस तरह के लोग कहे जाते थेः अल्केमिस्ट; पूरब में भी उस तरह के खोजी थे जिनको हम पारस-पत्थर के खोजी कहते थे। वे एक ऐसे पत्थर की तलाश मे लगे थे वे लोग... कि लोहे को छू दो तो सोना हो जाये। अल्केमिस्ट भी इस खोज में लगे थे कि कोई ऐसा राज मिल जाये कि कम कीमती धातुएं बहुमूल्य धातुओं में बदली जा सकें।
लेकिन विज्ञान पिछले दो सौ साल से कह रहा है कि यह सब पागलपन है; यह हो नहीं सकता। मिट्टी कैसे सोना हो सकती है! कोई उपाय नहीं दिखता। और जो भी इस तरह की बातें करते हैं, वे या तो नासमझ हैं, या चालाक हैं, और लोगों को धोखा देते हैं। अगर वे लोहे को सोना भी बनाते हैं तो उसमें कोई तरकीब है। लोहा तो सोना बन नहीं सकता; वह किसी तरह का धोखा और चकमा है।
यहां तक घटनाएं घटीं कि वास्तविक प्रमाण उपलब्ध हो गये, लेकिन फिर भी भरोसे योग्य नहीं समझे जा सके। जर्मनी के एक बहुत बड़े विचारक और वैज्ञानिक, जो कि वर्षों से इस खोज में लगा था कि अल्केमि सरासर झूठ मालूम होती है, एक दिन सुबह बैठा है अपने द्वार पर-हे.जन होफ उसका नाम है-और एक आदमी आया और उसने कहा कि मैंने सुना है कि तुम अल्केमी में विश्वास नहीं करते, लेकिन मैं यहीं इसी वक्त लोहे को सोना बना सकता हूं।
हे.जन होफ ने कहा कि... मजेदार आदमी मालूम पड़ते हो, लेकिन लोहा सोना नहीं बन सकता। या तो दिमाग तुम्हारा खराब है; क्योंकि मैं वर्षों से अध्ययन कर रहा हूं, यह असंभव है।
उस आदमी ने कहा, अगर मैं बनाऊंगा तो शायद तुम्हें भरोसा न हो। उसने एक छोटी सी डिब्बी खोली और कहा, इसमें जो चीज रखी है, इसके जरा से स्पर्श से लोहा सोना हो जायेगा।
हे.जन होफ ने भरोसा ही नहीं किया कि यह आदमी बिल्कुल पागल है। लोहा कैसे सोना... और वह वर्षों से अध्ययन कर रहा है अल्केमी का। फिर भी उसने हाथ फिराकर उस चीज को देखा, और अपने नाखून में थोड़ा सा खरोंच लिया। और उस आदमी से कहा कि तुम कल आ जाओ, मैं पूरा प्रयोग का इंतजाम करके रखूंगा ताकि कोई धोखाधड़ी न हो सके। और मैं लोहा बुलाकर रखूंगा और सोने के पारखियों को बुलाकर रखूंगा ताकि कल जांच हो जाये।
वह आदमी कल नहीं आया, लेकिन हे.जन होफ हैरान हुआ और जिंदगी भर रोया; क्योंकि नाखून से उसने लोहे को छुआ और वह सोना हो गया। वह जितनी थोड़ी सी उसने खरोंच ले ली थी, वह आदमी दुबारा तो नहीं आया। लेकिन वह जो थोड़ा सा खरोंच लिया था, उससे लोहा सोना हो गया।
हे.जन होफ ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मैं जन्मों-जन्मों तक अब उसकी राह देखूंगा उस आदमी की... यह तो बड़ी मुश्किल हो गयी। अगर धोखा भी है तो अदभुत है। और अब तो धोखे का कोई उपाय भी नहीं है, क्योंकि वह खरोंच मेरे ही पास थी। और मैंने अपना ही लोहा सोना किया और शुद्धतम सोना बन गया है। सारी परीक्षाएं हो गयीं। और लोग हे.जन होफ पर शक करने लगे कि यह बेईमानी कर रहा है। इसकी काई मानने को तैयार नहीं, क्योंकि अब यह भी क्या सिद्ध करे? और यह बोला कि मैं भी नहीं मान सकता हूं, वह घटना हो गयी है। लेकिन अब मेरी भी कोई मानने को तैयार नहीं है। और लोगों ने लिखा कि हे.जन होफ अक्लेमी का अध्ययन करते-करते दिखता है, पागल हो गया। इसने अपने को ही धोखा दे लिया है। आदमी ईमानदार है, सिन्सियर है, इस पर शक नहीं करना चाहिये। लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है कि यह खुद ही धोखे में पड़ गया; पढ़ते-पढ़ते दिमाग इसका विभ्रम हो गया। इतना शुद्धतम सोना!
लेकिन इधर बीस वर्षों में विज्ञान इस नतीजे पर पहुंच गया है कि इसमें कोई मौलिक कठिनाई नहीं है। अल्केमिस्ट जो खोजते थे, शायद ठीक ही खोजते थे। पारस-पत्थर की तलाश करनेवाले शायद ठीक ही खोजते थे, क्योंकि अब विज्ञान का निर्णय यह है कि प्रत्येक वस्तु एक ही तरह के परमाणुओं से बनी हुई है... सिर्फ परमाणुओं की मात्रा का भेद है। किसी में सौ-अनुमान कर लें-मात्रा

है, तो किसी में एक सौ एक। परमाणु वही हैं-मौलिक परमाणु जिससे वस्तुएं बनी हैं-इलेक्ट्रॉनस एक ही हैं।
तो अगर हम किसी भी तरह से एक सौ एक परमाणु वाली वस्तु में से एक परमाणु अलग कर दें, तो सौ परमाणु वाली वस्तु में वह रूपांतरित हो जायेगी।
सोने और लोहे में जो फर्क है, वह स्वभाव का नहीं है; सोने और लोहे में
जो फर्क है वह मात्रा का है। अगर लोहे से हम कुछ परमाणु अलग कर लें तो लोहा तत्काल सोना हो जायेगा। या हम सोने में कुछ परमाणु जोड़ दें तो सोना तत्काल लोहा हो जायेगा।
विज्ञान अपनी तलाश से पदार्थ की उस गहराई में पहुंचा है जहां उसका अनुभव है कि पदार्थ का स्वभाव एक है, रूप अलग हैं। वह जो स्वभाव है उसे वह कहता है, वह विद्युत है; वह एक सी है सभी पदार्थों में। हालांकि विज्ञान अभी ऐसी विधि नहीं खोज पाया, जिससे लोहे को हम सोना बनाये तो वह सस्ता पड़े। वह वास्तविक सोने से बहुत महंगा पड़ेगा, क्योंकि वह परमाणुओं को अलग करना बहुत महंगी प्रक्रिया है-अभी। लेकिन आज नहीं कल, हम कोई सस्ती प्रक्रिया खोज लेंगे, वह दूसरी बात है; उससे कोई संबंध नहीं है। और नहीं भी सस्ती खोज सकेंगे तो एक बात तय है कि लोहा सोना बन सकता है।
कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु में परिवर्तित हो सकती है; दूसरी वस्तु में ही नहीं, वस्तु-ऊर्जा में परिवर्तित हो सकती है; वही एटॉमिक इनर्जी का रहस्य है... वस्तु को शि7 में परिवर्तित करना; तो अणु विस्फोट हो जाता है। और एक छोटा सा अणु जब विस्फोट होता है, तो विराट ऊर्जा पैदा होती है।
उपनिषद के ऋषि सदा से यह कहते रहे हैं कि व्यक्ति के भीतर भी जो चैतन्य का अणु है, वह अलग-अलग नहीं है; वह एक ही है-ऊपर के रूप अलग हैं, भीतर जो चेतना है वह एक है।
तो जैसे ही हम भीतर अपने में जाते हैं... हम अपने के बाहर जाते हैं... जैसे ही जितने भीतर हम प्रवेश करते हैं, उतने ही हम मिटते जाते हैं और विराट होता चला जाता है। ठीक अपने ही केंद्र पर अपनी मौत हो जाती है। ठीक अपने ही भीतर प्रवेश करना अपनी ही मृत्यु में समा जाना है; क्योंकि हम तो खो जायेंगे... व्यक्ति की, दीये की तरह हम खो जायेंगे, प्रकाश की तरह हम रह जायेंगे।
वह प्रकाश असीम है।
वह सोने में सोने की तरह है, मिट्टी में मिट्टी की तरह है, सूत में सूत
ही तरह है; और समस्त सृष्टि में व्यापक जो बना है, उसी चैतन्य को हम "अनंत" कहते हैं। अनंत इसलिए कि सीमाओं में वह है.जरूर, लेकिन सीमित नहीं है; सोने में है.जरूर, लेकिन सोने पर समाप्त नहीं है; आप में है.जरूर, लेकिन आप पर समाप्त नहीं है-फैलता चला जाता है... फैलता चला जाता है; वह फैला ही हुआ है। वह व्यापक है।
हम ऐसा समझें कि हम एक विराट सागर में मछलियों की भांति हैं। मछली सागर में ही पैदा होती है, सागर में ही समाप्त हो जाती है; सागर के जल से ही निर्मित होती है, सागर के जल में ही विसर्जित हो जाती है। लेकिन जब मछली होती है तो बिल्कुल व्यक्ति होती है; फिर सागर में ही खो जाती है... और सागर से ही निर्मित होती है-सागर ही है।
या मछली को थोड़ा समझना कठिन मालूम पड़े, तो ऐसा समझें कि सागर में बर्फ
की एक चट्टान तैर रही है। बिल्कुल अलग मालूम होती है। सिर उठाये रहती है। पानी से सब तरफ अलग मालूम होती है-ठोस है, सब है, लेकिन फिर भी सागर है... और जैसे ही पिघलेगी, लीन हो जायेगी।
इस पिघलने की प्रक्रिया को ही हम अहंकार का छोड़ना कहते रहे हैं। जैसे- जैसे हम पिघलते हैं, अहंकार बिखरता है, विराट सागर में एक हो जाते हैं। चट्टान बर्फ की कितना ही अपने को भिन्न समझे, भिन्न नहीं है। हमारी भिन्नता हमारा अज्ञान है; और हमारा ज्ञान हमारी अभिन्नता की घोषणा हो जाता है।
इस अनंत, व्यापक को ब्रम्ह कहा है। ब्रम्ह शब्द बहुत कीमती है; इसका अर्थ होता है, केवल... परम विस्तार; ब्रम्ह का अर्थ होता है, परम विस्तार।

विस्तार और ब्रम्ह एक ही शब्द से बने हैं। ब्रम्ह का अर्थ है, जो विस्तीर्ण होता चला गया है; जो फैलता ही चला गया है; जो फैला हुआ है; जिसके फैलाव की कोई सीमा नहीं।

ब्रम्ह जैसा कोई शब्द दुनिया की दूसरी भाषा में नहीं है। ब्रम्ह का अनुवाद नहीं हो सकता। ईश्वर, गॉड, ब्रम्ह से कोई मतलब नहीं रखते। ... कोई मतलब नहीं रखते। इसलिए शंकर ने तो यहां तक कहने की हिम्मत की है कि ईश्वर भी माया का हिस्सा है -ईश्वर भी। क्योंकि उसकी भी आकृति और रूप है। ब्रम्हा, विष्णु, महेश ... सबकी आकृतियां और रूप हैं; वे भी माया के हिस्से हैं। जहां आकृति है, जहां रुप है, वहां माया है। उनके भी पार जो अरूप है, वह ब्रम्ह है; वह सिर्फ विस्तार का नाम है -अनंत विस्तार का ... जो सब में फैला हुआ है और कहीं रुकता ही नहीं, फैलता ही चला जाता है ... इसलिए अनंत चला।

"जो सुखमय चैतन्य -स्वरूप है, अपरिमित आनंद है, शेष रहे सुख का स्वरूप है, इसलिए उसे आनंद कहते है।"

इसे समझना होगा।

"जो सुखमय चैतन्य स्वरूप है"...

जब भी हमें सुख का अनुभव होता है तब हमें ऐसा अनुभव नहीं होता कि मैं सुख हूं, ऐसा अनुभव होता है कि मैं हूं कुछ, जिस पर सुख आया। सुख एक घटना होती है, स्वभाव नहीं; क्योंकि जो स्वभाव है उसे हम खो नहीं सकते लेकिन सुख तो खो जाता है। आज सुख है सुबह, सांझ दुख हो जाता है।

सुख आता है, दुख आता है -मेरे ऊपर आते हैं। मेरे ऊपर घटित होते हैं और विदा हो जाते हैं। वे घटनाएं हैं। तो जब ब्रम्ह को सुख -स्वरूप कहा तो उसका अर्थ है कि ब्रम्ह के लिए सुख घटना नही है, स्वभाव है; वह सुख में ही है ... या सुख ही है।

सुख जब स्वभाव होता है तब हम उसे आनंद कहते हैं।

और आनंद जब केवल एक घटना होती है तब हम उसे सुख कहते हैं। घटना का अर्थ हैः विजातीय, फॉरेन। वह हमसे बहार से होती है; बाहर ही होती है; हमारे घर के बाहर ही घटती है। हम कभी उससे एकात्म नहीं हो सकते -चाहे हम अपने को कितना ही समझें कि एकात्म हैं; हम कभी उससे एकात्म नहीं हो सकते।

डायोज् .ानीज एक यूनानी फकीर नग्न घूमता था। किसी ने डायोज् .ानीज से पूछा कि तुमने कपड़े क्यों छोड़ दिये। डायोज् .ानीज ने कहा कि मैंने पकड़ने की बहुत कोशिश की, लेकिन पकड़ नहीं पाया इसलिए छोड़ दिये। बहुत कोशिश की कि कपड़ो को पकड़ लूं और कपड़ा हो जाऊं -नहीं हो पाया। फिर मैंने सोचा कि जो चीज मैं हो ही नहीं सकता, बाहर की ही घटना रह जाती है, उसे छोड़ ही दूं। नग्नता मेरा स्वभाव है, डायोज् .ानीज ने कहा, और कपड़े ऊपर से थे - ऊपर भले कपड़े थे लेकिन भीतर मैं नग्न ही था।

कपड़ों के भीतर सभी नंगे हैं; कोई उपाय नहीं। तो कपड़े भला दूसरे की आंख को धोखा दे जाते हों कि आप नग्न नहीं हैं लेकिन आपको तो धोखा नहीं दे पाते। लेकिन हमें भी दे देते हैं, यही खूबी है। आदमी कपड़ों के भीतर खुद को भी ऐसा समझता है कि अब मैं नग्न नहीं हूं। लेकिन कपड़े बाह्य घटना हैं।

तो डायोज् .ानीज कहता है कि पकड़ने की बहुत कोशिश की, आखिर में पाया कि पकड़ ही नहीं पाता हूं वे छूटे ही रह जाते हैं, बाहर ही रह जाते हैं। कोई उपाय अपना बना लेने का नहीं है। तो जो अपना हो ही नहीं सकता उसको अपना मानने की भी क्या .जरूरत है! इसलिए छोड़ दिये हैं।

डायोज् .ानी.ज पड़ा है एक रास्ते के किनारे और सिकंदर हिंदुस्तान आ रहा है। तो डायोज् .ानी.ज से मिलता है और डायोज् .ानी.ज से कहता है, बड़े प्रसन्न मालूम पड़ते हो, बड़े आनंदित मालूम पड़ते हो, लेकिन तुम्हारे पास कुछ दिखाई तो पड़ता नहीं, जिसके कारण तुम आनंदित हो।

क्योंकि सिकंदर सोच ही नहीं सकता कि अकारण कोई आनंदित हो सकता है। अकारण कैसे आनंदित होईयेगा? हालांकि ऋषि कहते हैं, जिस दिन अकारण आनंद है, उसी दिन आनंद है। लेकिन हमारा तर्क कहता है, कुछ है तो नहीं तुम्हारे पास -कोई पत्नी नहीं, कोई बच्चा नहीं, कोई धन नहीं, कोई महल नहीं, कोई सुख सुविधा नहीं -नंगे पड़े हो रेत पर सड़क के किनारे; बड़े प्रसन्न मालूम पड़ते हो! कारण क्या है?

तो डायोज्.ानी.ज ने कहा, जब तक कारण से मैं प्रसन्न होता रहा तब तक प्रसन्न नहीं हो पाया। फिर मैंने सोचा कि कारण छोड़कर देखूं... सब छोड़कर देखूं; और उस प्रसन्नता को खोजूं जो अकारण हो; क्योंकि फिर वह मुझसे छीनी न जा सकेगी।
जिस चीज का कारण है वह छीना जा सकता है, क्योंकि कारण छीना जा सकता है।
एक स्त्री है, उसके कारण मैं सुखी हूं, स्त्री कल मर सकती है... मरेगी; छीनी जा सकती है... न मरे, न जाये कहीं, तो भी मेरे लिए खो जा सकती है; संबंध ही टूट जा सकता है। सुख खो जायेगा; धन आज है, कल नहीं होगा, सुख खो जायेगा। और हो भी तो भी खो जायेगा, क्योंकि जो सदा होता है उसमें सुख नहीं रह जाता।
जहां कारण है वहां सुख छिन जायेगा। कारण से पैदा हुआ सुख क्षणभंगुर होगा। लेकिन अकारण कोई सुख हो सकता है? उसी अकारण सुख को हम आनंद कहते हैं।
अकारण आनंद का अर्थ यह हुआ कि आनंद बाहर से नहीं आता, भीतर से जाता है। सकारण आनंद का अर्थ हुआ कि आनंद बाहर से आता है। इसलिए बाहर निर्भर रहना पड़ता है, मोहताज रहना पड़ता है। कोई भी छीन सकता है। कोई भी छीन सकता है; कभी भी छीन सकता है। बाहर पर मेरी क्या मालकियत?
लेकिन एक और आयाम भी है... आनंद भीतर से बाहर जाता है। धारा बदल जाती है पूरी।
कृष्ण की प्रेयसी का नाम है राधा। वह धारा का उलटा है। बहुत मजे की बात है इस नाम के साथ, क्योंकि कृष्ण के जीवन में कहीं भी राधा का कोई उल्लेख नहीं है-कोई उल्लेख ही नहीं है... शब्द का भी नहीं। किसी प्राचीन शास्त्र में राधा उल्लिखित नहीं है; राधा का कोई प्रसंग ही नहीं हैं बहुत बाद में... बहुत बाद में-अभी-अभी कहना चाहिये-मध्ययुग में राधा का जन्म हुआ; यह राधा जुड़ना शुरुहुआ।
ऐसा.जरूर उल्लेख है कृष्ण के जीवन में कि कोई एक सखी है, लेकिन अनाम; अनाम सखी का उल्लेख है। उसका कोई नाम नहीं है। जानकर ही नाम नहीं है; क्योंकि नाम-रूप के बाहर ही वह सखी हो सकती है। उसके रूप की भी कोई चर्चा नहीं है; उसका कैसा चेहरा-मोहरा है, कुछ भी नहीं-नाम भी नहीं, चेहरा-मोहरा भी नहीं। उसको ही बाद में मध्ययुग के संतों ने राधा कहा। और राधा जानकर कहा, क्योंकि वह धारा का उलटा रूप है।
एक आनंद की धारा है जो बाहर से भीतर की तरफ आती है; वह धारा है। और जब आनंद भीतर से बाहर की तरफ जाता है तब वह राधा हो जाता है। और कृष्ण ऐसी ही राधा को प्रेम कर सकते हैं, जो भीतर से बाहर की तरफ जाती हुई... बाहर से भीतर की तरफ आती हुई राधा का कृष्ण से कोई संबंध नहीं हो सकता। तो यह तो...
आनंद जब भीतर से बाहर की तरफ जाने लगे, राधा बन जाये, तब आप ऐसी सखी को उपलब्ध हुए जिसे खोने की अब ज्.ारूरत नहीं पड़ेगी; जिसे नहीं खोजा जा सकता। "सुखमय चैतन्य स्वरूप है उसका। अपरिमित आनंद का सागर है वह। और शेष रहे सुख का स्वरूप है।"
जब सब छूट जाये-सब, जिससे सुख मिलता था; जब सब छूट जाये और फिर भी सुख शेष रह जाये, वही सुख उसका स्वरूप है। ऐसे स्वरूप को आनंद कहा है।
हम तो आनंद को जानते ही नहीं; हमें आनंद का कोई पता ही नहीं है, क्योंकि आनंद का तो पता ही तब चलेगा जब धारा राधा हो जाये; एक बिल्कुल नया आयाम हमारे भीतर प्रगट हो।
तो डायो.जनी.ज कहता है कि मैं आनंदित हूं क्योंकि मैं आनंद हूं; मैं इसलिए आनंदित नहीं हूं कि मेरा कोई कारण है। सिकंदर का भी मन ईर्ष्या से भर जाता है। और यही इस दुनिया में परम घटना है... जब कभी किसी एक भिखारी को देखकर और सम्राट का मन ईर्ष्या से भर जाता है। और सिकंदर भी कहता है कि अगर दुबारा मुझे जन्म मिले तो मैं सिकंदर नहीं, डायो.जनी.ज होना चाहूंगा; इसी आनंद की तो मुझे भी तलाश है।
तो डायो.जनी.ज कहता है, तलाश है? तलाश से कभी न पा सकोगे। रुको, यहां जगह काफी है; तुम भी मेरे पड़ोस में विश्राम करो; हम बिना कहीं गये इसे पा लिये हैं-यहीं; तुम कहां भागे चले जाते हो? और जगह यहां काफी है; तुम भी लेट जाओ।

सिकंदर ने कहा, अभी तो बहुत मुश्किल है; अभी तो मैं एक विजय-यात्रा पर निकला हूं। तो डायो.जनी.ज ने कहा कि विजय-यात्रा पर जो निकला है उसे अभी मुश्किल नहीं है, सदा ही मुश्किल होगा; क्योंकि विजय की यात्रा दुख की खोज है। अगर जीतना ही है तो अपने को जीत लो; दूसरे को जीतने में अपनी हार है; दूसरे को जीतते जाने में आदमी भीतर हारता ही चला जाता है। आखिर में सिवाय पराजय के कुछ हाथ नहीं लगता है। दूसरे को छोड़ो, क्योंकि दूसरे के साथ आंतरिक हार ही घटित होती है; अपने को ही जीत लो; अपने को ही जान लो।
सिकंदर ने कहा, लौटते में तुम्हारे पास थोड़ी देर फिर रुकूंगा। डायो.जनी.ज ने कहा कि तुम शायद ही लौट सको; क्योंकि अभी इस क्षण को खो रहे हो-इस क्षण को जो कि निश्चित अभी है मौजूद; उस क्षण का विचार कर रहे हो जो अभी मौजूद नहीं!
और भाग्य की बात, सिकंदर वापस नहीं लौट सका; यह विजय-यात्रा में बीच में ही उसकी मृत्यु हो गयी भारत से लौटते वक्त।
कोई विजय-यात्रा कभी पूरी नहीं होती, मौत बीच में ही हो जाती है। बहुत
हम विजय-यात्राएं कर चुके अनेक-अनेक जन्मों में... हर बार विजय-यात्रा अधूरी रह जाती है, मौत आ जाती है, फिर हम विजय-यात्रा को पूरा करने निकल जाते हैं, वही कभी पूरी नहीं होती, मौत बार-बार आ जाती है।
एक ही विजय पूरी हो सकती है, और एक ही आनंद उपलब्ध हो सकता है... और वह
वह आनंद है-जो हमें बाहर से नही मिल सकता-न मिलता है, न कभी मिला है, लेकिन भीतर इसी क्षण उपलब्ध है।

आज इतना ही।
अब हम ध्यान के लिये तैयार हों।

सर्वसार उपनिषद
तेरहवां प्रवचन

परबह्म-लक्षण

एतद्वस्तुचतुष्टयं यस्य लक्षणं देशकालवस्तुनिमित्तेष्वव्यभिचारी
तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते।। 13।।
त्वं पदार्थादौपधिकात्
तत्पदार्थादौपधिकाभेदाद्विलक्षणमाकाशवत्
सूक्ष्मं केवलं
सत्तामात्रस्वभावं परं ब्रह्मेत्युच्यते।। 14।।

ये चार (अर्थात सत्य, ज्ञान, अनंत और आनंद) वस्तु जिसके लक्षण हैं और देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों के होने पर भी
जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता,
उसी को "तत्" पदार्थ अथवा परमात्मा कहते हैं।

ये दोनों "त्वं" और "तत्" पदार्थवाले भेदों से पृथक
आकाश की तरह सूक्ष्म और सत्ता मात्र जिसका स्वभाव है
वह परब्रह्म कहलाता है।

"मैं" से जो बंधे हैं, उन्हें "तू" तक पहुंचने में भी बड़ी कठिनाई है। स्वयं से ही जो घिरे हैं, वे "तू" के चरणों में भी कैसे पहुंचे? समर्पण कठिन है।
इसलिए ऋषि ने पहले "मैं" को परिधि बनाने को और "तू" को केंद्र बनाने को कहा। और कहा कि वह जो शुद्ध चिन्मय सत्ता है, वह "त्वं" स्वभाव वाली है, "तू" स्वभाव वाली है। बड़ी छलांग है "मैं" से "तू" पर। शायद इस से बड़ी कोई छलांग और नहीं है। छोड़ना स्वयं को इतना कठिन है-कपड़े उतारने जैसा नहीं, चमड़ी उतारने जैसा है। और "मैं" से उतर जाना और "मैं" से हट जाना इसलिए भी अति कठिन है कि हटाने की कोशिश में भी "मैं" पुनः-पुनः खड़ा हो जाता है। कौन हटाए "मैं" को? जो भी हटायेगा, वही "मैं" बन जाता है।
कैसे हटाओ "मैं" को? क्योंकि जिस विधि का भी उपयोग करो, वही विधि "मैं"
के हाथ में पड़ जाती है।
लेकिन जो असंभव सा दिखता है, वह भी साहस हो तो संभव हो जाता है। इस साहस को थोड़ा समझें तो यह दूसरी छलांग भी समझ में आ सके।
"मैं" को मिटाने की जिसने भी कोशिश की वह मुश्किल में पड़ेगा, क्योंकि मिटाना एक कर्म है, और सभी कर्म कर्ता को मजबूत करते हैं। "मैं" से जिसने बचना चाहा वह मुश्किल में पड़ेगा, क्योंकि जिससे हम बचना चाहते हैं उसे हम स्वीकार कर लेते हैं... कि वह है; और जिससे हम बचना चाहते हैं, उसे हम ताकतवर भी स्वीकार कर लेते हैं। हम बचते ही उससे हैं जिससे भयभीत होते हैं।
न तो हम "मैं" को मिटा सकते हैं क्योंकि मिटाने में कर्म है; और न हम "मैं" से बच सकते हैं क्योंकि बचकर हम कहां जायेंगे? और जिससे हम बचते हैं वह सदा हमारा पीछा करता है। भागेंगे जिससे, भयभीत होंगे जिससे, वह सदा के लिये छाया बन जाता है।
फिर "मैं" के साथ क्या करें कि "त्वं" पर छलांग हो जाये, "तू" पर छलांग
हो जाये? एक ही रास्ता है... और वह रास्ता यह है कि न तो भागें, न उसे मिटाने में लगें, न उससे छुटकारे का कोई उपाय करें, वरन उसे देखें, पहचानें और जानें; उससे परिचित हों।
छाया को मिटाने का एक ही रास्ता है। तलवार से छाया नहीं कटती; या कि कट सकती है? तलवार टूट जायेगी, छाया नहीं कटेगी; क्योंकि होती तो कट भी जाती- है ही नहीं, मात्र दिखाई पड़ती है। छाया से भागियेगा तो बच सकेंगे? जितनी तेजी से आप भागियेगा छाया उतनी ही तेजी से भागेगी आपके साथ; क्योंकि छाया आपकी है-भागकर जाइयेगा कहां; बचकर जाइयेगा कहां?

छाया से मुक्त होने का एक ही उपाय है यह जान लेना कि वह छाया है; फिर आदमी मुक्त हो गया-फिर न उसे काटना है, न उससे भागना है; क्योंकि जैसे ही हमने यह जाना कि छाया मात्र छाया है, तो न कोई भय रहा, न कोई प्रयोजन रहा, न मिटाने का कोई सवाल रहा... क्येंकि छाया जानते ही हमने जाना कि वह है ही नहीं, मात्र दिखाई पड़ती है।
"मैं" से मुक्त होने का एक ही उपाय है... "मैं" को इतनी गहराई से जानें
कि वह छाया की भांति दिखाई पड़ जाये; उसी क्षण उससे छुटकारा हो जाता है। इसलिए जो लोग विनम्रता की साधना करते हैं वे कभी "त्वं" तक नहीं पहुंच पाते।
विनम्रता अहंकार का ही सुसंस्कृत रूप है। और सुसंस्कृत जितना है उतना
ही खतरनाक और सूक्ष्म भी। इसलिए विनम्र आदमी जिसे हम कहते हैं उसमें प्रतिपल अहंकार भीतर से खड़ा हुआ, झलकता और सरकता रहता है। विनम्रता भी अहंकार का आभूषण है-सुंदरतम आभूषण जो अहंकार ओढ़ सकता है; और सुंदरतम चेहरा और मुखौटा जो अहंकार लगा सकता है वह विनम्रता का है।
विनम्रता कभी भी सरल नहीं होती। उससे तो अहंकार ही कहीं ज्यादा सरल होता है, सीधा होता है; क्योंकि मुखौटे नहीं होते। सज्जन आदमियों से दुर्जन आदमी कहीं ज्यादा सीधे-साफ और सरल होते हैं; क्योंकि दुर्जन सीधे अहंकारी होते हैं, और सज्जन तिरछे अहंकारी होते हैं। उनका अहंकार कई पर्त और कई परिष्कार लेकर होता है-बहुत साफ सुथरा, निखारा हुआ होता है। ऐसे ही, जैसे हीरा होता है-गैरगढ़ा पत्थर की तरह, वैसा अहंकार होता है सीधे-सादे आदमी का। जिसे हम सज्जन कहते हैं, तिरछा आदमी है। उसके पास भी अहंकार होता है, लेकिन उस अहंकार पर काफी छेनियों से हीरे को निखारा और साफ किया गया होता है। उसमें चमक आ जाती है; लेकिन अहंकार में चमक जहर है।
अहंकार को चमका लें, या छिपा लें, या भागते रहें, बचते रहें, काटते रहें, उससे छुटकारा नहीं है। अहंकार को जानें। जायें भीतर और पहचानें अहंकार क्या है। जल्दी न करें; निर्णय न लें।
हम सब की भूल जीवन में यही है कि निर्णय पहले आ जाते हैं-अनुभव के पहले निर्णय आ जाते हैं; हम निर्णय से ही शुरू करते हैं। हम उन बच्चों की भांति हैं जो गणित करते समय किताब पलट कर पहले उसका निष्कर्ष देख लेते हैं; और फिर वहीं से शुरू करते हैं; फिर वे जीवन भर कभी विधि नहीं सीख पाते-क्योंकि जिनके हाथ में निष्कर्ष हैं, वे विधि क्या खाक सीखेंगे! और.जरूरत क्या रही विधि को सीखने की?
लेकिन जो निष्कर्ष किताब को उलटा कर देखा गया है, वह उधार है; वह आपका निष्कर्ष नहीं; वह जीवन को बदलेगा नहीं। जिसने विधि नहीं जानी, और जिसने अपना निष्कर्ष नहीं लिया, वह सदा उधार जीता है। हमारे सब निष्कर्ष उधार हैं।
शास्त्र में पढ़ लेते हैं, अहंकार बुरा है। यह निष्कर्ष शास्त्र का है, आपका नहीं है। आप तो परिचित ही नहीं कि अहंकार क्या है; बुरा और भला तो बाद के निर्णय हैं, अभी तो सीधा परिचय भी नहीं है... कि क्या है? अभी तो शुद्ध उसमें झलक भी नहीं मिली कि क्या है; बुरा होगा कि भला होगा यह पीछे की बात है।
क्रोध बुरा है-शास्त्र से लिए गए निष्कर्ष हैं। फिर हमें सब पता है, क्या बुरा है और क्या भला है। और हम वही के वही रह चले जाते हैं जो हम हैं; और हमें सब पता है!
लोग मेरे पास आते हैं; वे कहते हैं, मालूम तो सब है; ऐसा क्या है जो हमें मालूम नहीं! ल्ेकिन बदलाहट क्यों नहीं होती? और मुश्किल हो गयी बदलाहट में, क्योंकि इन्हें मालूम भी सब है। यह उधार जो ज्ञान है, इन्हें सब कुछ पता है। अब इन्हें सीखने का भी उपाय न रहा; और बदलाहट भी नहीं होती है!
तो एक बात सूत्र की तरह ध्यान रख लें... कि जो ज्ञान स्वयं बदलाहट न बन जाता हो, उस ज्ञान को उधार जानना; वह निष्पत्ति आपकी नहीं है, वह निष्कर्ष आपका नहीं है; आपने जाना नहीं है। वह अनुभव आपका नहीं है। वह सब बासा और मुर्दा है, सड़ा हुआ है।

अहंकार को जानें, तय न करें... अच्छा है या बुरा; सीधे दर्शन करें उसके।
और जो अहंकार का भी दर्शन नहीं कर पाता, ध्यान रखें, जो अहम का भी दर्शन नहीं कर पाता, वह "त्वं" का दर्शन नहीं कर पायेगा; क्योंकि तू! ... तो अहंकार तो पर्त है बाहर की; और "तू" तो केंद्र है। तो अभी जो अहंकार को भी नहीं जान पाया वह "तू" को क्या जानेगा, "त्वं" को क्या जानेगा?
तो पहले जानें इस "मैं" को... और जानते ही "मैं" बिखर जाता है। ज्ञान की अग्नि उसे राख कर जाती है; धुएं की तरह उड़ जाता है... लगता है, जैसे कभी था ही नहीं-छाया की तरह "नहीं" हो जाता है। और उसके "नहीं" होते ही "त्वं" के समक्ष साधक खड़ा हो जाता है। लेकिन यह "त्वं" भी, ऋषि कहता है, अंतिम नहीं है; क्योंकि इसे "त्वं" कहना भी अभी उस "मैं" की याददाश्त में ही है जो कभी था; उस स्मृति के आधार पर ही कह रहे हैं "त्वं"।
स्थिति मिट जाती है तो भी स्मृति नहीं मिटती; स्मृति को मिटने में समय
लग जाता है। इतने-इतने जन्मों की स्मृति है "मैं" की, अगर आज वह छाया भी हो जाये, तो भी हमारी भाषा तो नहीं बदल जायेगी; भाषा तो "मैं" के आसपास ही निर्मित हुई है। भाषा तो हम वही बोलेंगे। जो गलत हो गया, जो केंद्र से बिखर गया, जो छाया सिद्ध हो गया, लेकिन हमारी सारी भाषा तो उसी छाया के पास बनी थी; आज कोई नयी भाषा तो नहीं हो जायेगी। हमने देखना तो सदा उसी तरफ से सीखा था।
अंधे आदमी की आंख भी ठीक हो जाये तो उसके हाथ की लकड़ी एकदम से नहीं छूट जाती। अंधे आदमी की आंख भी ठीक हो जाये तो कुछ दिन तो वह लकड.ी को ही टटोलकर अभी भी चलेगा। अब यह लकड़ी के साथ इतने दिन चला है कि आंख भी ठीक हो जाये, तो भी लकड़ी पर से अभी आस्था नहीं मिट सकती। व्यर्थ हो गयी है, लेकिन समय लगेगा जब कि पक्का ही भरोसा हो जायेगा कि आंख काफी है, तब लकड़ी हाथ से छूटेगी। "मैं" गिर भी जाता है, तो भी भाषा और पुरानी स्मृति सब "मैं" के पास है। इसलिए प्रभु का जो पहला दर्शन होता है वह "तू" की भाषा में ही होगा; वह "त्वं" की भाषा में होगा। और इसलिए प्रभु का जो पहला अनुभव होगा, उसमें गहन प्रेम का आभास भी होगा। उसके भी कारण हैं।
हमने सदा ही, सदा ही प्रेम चाहा है, मिला नहीं; प्रेम-पात्र खोजा है, मिला नहीं। जन्मों-जन्मों तक खोज की है और पछताये हैं। तो जब पहली दफा प्रभु का उदघाटन होता है भीतर, वह परम चेतना प्रकट होती है, तो लगता है, मिल गया प्रेमी; जिसकी तलाश थी वह मंदिर आ गया; जिसकी खोज थी उस द्वार पर खड़े हैं।
इसलिए पहली भाषा "मैं" की और प्रेम की भाषा होगी। भक्त इसी भाषा को बोलता रहा है। लेकिन ऋषि कहता है, यह अंतिम भाषा नहीं है; क्योंकि जब अंधा अपनी लकड़ी भी फेंक देगा, और जब स्मृति भी "मैं" की खो जायेगी, तो फिर उसे "तू" कैसे कहोगे? कौन कहेगा उसे "तू"? और "तू" में क्या अर्थ रह जायेगा? जब "मैं" ही न बचा तो "तू" तो बिल्कुल व्यर्थ हो जायेगा; उसमें कोई अर्थ नहीं रखा जा सकता।
इसलिए दूसरी छलांग घटती है "तू" से "तत्" पर- फ्रॉम दाउ टू दैट; और तब "तू" भी बिखर जाता है... और परमात्मा "वह" के रूप में प्रकट होता है-"तत्" के रूप में। अब हम न कह सकते "मैं" न कह सकते "तू" अब हम कहते हैं "वह"। अब इस "वह" में "मैं" की रेखा भी नहीं रह गयी। इतनी भी रेखा नहीं रह गयी कि हम "तू" कहें। "मैं" खो गया पूरी तरह, जैसे पानी पर खींची लकीर खो गयी हो। उसके साथ ही "तू" भी खो गया, क्योंकि वह उसी का जोड़ था। अब रह गया "वह"।
"वह" शुद्धतम घोषणा है। अब हमारे अतीत का, हमारी स्मृती का कोई भी संस्कार काम नहीं कर रहा है। "वह" शब्द बिल्कुल ही निर्लिप्त और निरपेक्ष है।
"सत्य, ज्ञान, अनंत और आनंद (जिनकी सुबह हमने बात की) जिसके लक्षण है"... इन्हें भी ऋषि लक्षण कहता है। लक्षण का अर्थ होता है, जिनसे "वह" पहचाना जाता है। इसका अर्थ हुआ कि इस भांति हम उसे पहचानते हैं। ये दो बातें हैं।

ऋषि अगर ऐसा कहे... सत्य, ज्ञान, अनंत और आनंद है "वह"; तो फिर उसकी भी सीमा बन जायेगी। अगर कहे कि परमात्मा अनंत है, तो अनंत होना भी उसको सांत कर देता है।
इसे थोड़ा ख्याल में ले लेना.जरूरी है। यह बारीक दर्शन की बातों में
एक है-बारीक... और बहुत सूक्ष्म... और नाजुक। जब कोई व्यक्ति कहता है कि ईश्वर की कोई परिभाषा नहीं हो सकती, तो उसने परिभाषा कर दी। उलटा दिखाई पड़ता है यह वक्तव्य... नहीं है; क्योंकि इतना तो तुमने कह ही दिया कि उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। इतनी परिभाषा तो तुमने स्वीकार कर ली। अपरिभाष्य है, इनडिफायनेबल है, ऐसा भी कहना तो एक परिभाषा हो गयी; तुमने कुछ कह तो दिया ही। और कम नहीं कहा। अगर यह सही है, तो परिभाषा पूरी हो गयी। अगर यही सत्य है कि उसकी परिभाषा नहीं हो सकती, तो फिर यह परिभाषा हो गयी। और क्या परिभाषा होगी?
परिभाषा का मतलब क्या होता है? परिभाषा का मतलब होता है, किसी वस्तु
के संबंध में कोई सत्य; किसी सत्य का कहा जाना। तो अगर हम इतना भी कहें कि उसकी परिभाषा नहीं हो सकती, तो परिभाषा हो जाती है; अगर हम इतना कहें कि सत्य उसका लक्षण है, सत्य उसकी परिभाषा है, तो भी हम उसे बांधते हैं-माना कि सत्य से बांधते हैं, तो भी हम उसे बांधते हैं। यह भी कहना कि वह सत्य है, हमने एक रेखा खींची, और हमने कहा कि यह रहा; और असत्य को बाहर किया-असत्य को काटा और अलग किया; और सत्य को बांधा, तो हमने एक सीमा-रेखा बनाई। असत्य उसके बाहर है और सत्य उसके भीतर है।
ऋषि कहता है, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अगर असत्य भी है तो उसके भीतर ही होगा, उसके बाहर तो कुछ भी नहीं हो सकता। और ऐसा कहना कि वह सत्य ही है, बहुत सीमा बना देना है।
इसलिए किन्हीं-किन्हीं ने तो कुछ भी उसके बाबत नहीं कहा-सिर्फ इसीलिए
कि कुछ भी कहने में भूल हो जाती है। अगर हमने कहाः वह ज्ञान है, तो भी हमने खींची रेखा; अगर हमने कहाः वह अनंत है, माना कि अनंत शब्द का अर्थ होता है कि उसकी कोई सीमा नहीं, लेकिन अगर हमको पता लग गया कि वह अनंत है, तो सीमा हो गयी।
एक आदमी कहता है कि सागर में कोई भी थाह नहीं, अथाह है। इसका क्या मतलब होगा? या तो यह आदमी थाह तक हो आया, इसने पूरा सागर छान डाला और पाया कि थाह नहीं है... जो कि असंभव है बात; क्योंकि अगर थाह नहीं है, तो इसने पता कैसे लगाया कि थाह नहीं है? क्या यह थाह तक पहुंच गया है; जहां तक सागर फैला था, वहां तक हो आया? अगर वहां तक यह आदमी हो आया तो थाह है; और अगर अभी यह वहां तक नहीं हो पाया, तो जहां तक हो आया है, यह कहता है... वहीं तक ठीक कहे... कि जहां तक मैं गया वहां तक थाह न थीं, अथाह न कहे।
इसलिए ऋषि कहता है, लक्षण। लक्षण का मतलब होता हैः जहां तक मैं गया, वहां तक मैंने सागर को अथाह पाया। यह मेरा अनुभव है; यह सागर की स्थिति है, कैसे कहूं? हो सकता है एक इंच आगे ही थाह हो; जहां तक मैं गया वहां तक थाह नहीं थी, इंच भर आगे ही थाह हो, ऐसी क्या असंभावना है? और जहां तक मैंने खोजा वहां तक सीमा न थी, लेकिन यह मैं कैसे कहूं कि आगे भी सीमा नहीं होगी? जितना मैंने जाना वह ज्ञान था, लेकिन यह मैं कैसे कहूं कि ज्ञान के अतिरिक्त कुछ और आगे न होगा।
इसलिए लक्षण। लक्षण का अर्थ हुआ कि ऐसा हम उसे पहचानते हैं। हमने जहां तक जाना, ऐसा जाना कि वह सत्य है, कि वह ज्ञान है, कि वह अनंत है, कि वह आनंद है। ऐसा हमने जाना।
ऋषियों ने सदा ही ध्यान रखा है कि भूलचूक जो भी हो वह आदमी पर पड़े, हम
पर पड़े। ऋषि ने सदा ही इस बात को बोधपूर्वक स्वीकार किया है कि भूलचूक मुझ से हो सकती है... लेकिन मेरी भूलचूक को उसके ऊपर आरोपित करने का कोई प्रयोजन नहीं है।
हम सबका मन बड़ा उलटा होता है। हम तत्काल कुछ भी निष्कर्ष लेते हैं तो दूसरे पर आरोपित करते हैंत्तत्काल। हमें ख्याल ही नहीं रहता कि हम एक थोड़ी सी शर्त सदा कायम रखे हैं। एक आदमी हमें सुंदर मालूम पड़ता है, तो हम कहते हैंः वह सुंदर है। कहना हमें इतना ही चाहिये कि मुझे वह सुंदर मालूम

पड़ता है। इतना ही! इतना पर्याप्त है। और एक आदमी कुरूप लगता है, तो हमें यह नहीं कहना चाहिये कि वह आदमी कुरूप है; इतना ही काफी है कि मुझे कुरूप प्रतीत होता है। यह मेरी प्रतीति है, और किसी को वह सुंदर हो सकता है। और मुझे कोई आदमी संत मालूम पड़ता है, इतना ही कहना चाहिए, मुझे संत मालूम पड़ता है। और किसी को वह बिल्कुल ही संत नहीं हो।
और वह स्वयं क्या है, इसे जानने का हमें कहां उपाय है? हम बाहर से खड़े होकर जितना जानते हैं, वे हमारी प्रतीतियां हैं; हमारी पसंदगियां, नापसंदगिया हैं। हम उसमें मौजूद हैं। लेकिन हम तत्काल अपने को बाद कर देते हैं और निष्कर्ष दूसरे पर थोप देते हैं। तब अड़चनें होती हैं।
ऋषि कह रहा है, ये लक्षण हैं। आनंद भी, वह कह रहा है, लक्षण है; क्योंकि
हम इतने दुख में रहे हैं जन्मों-जन्मों कि हो सकता है, वह हमें आनंद प्रतीत होता हो। जैसे एक आदमी बहुत दिन भूखा रहा हो, फिर रूखी-सुखी रोटी उसे मिल जाये, और वह कहे कि आज... आज जैसा भोजन, ऐसा तृप्तिदायी, ऐसा सुस्वादु-बस, यह परम भोजन है; इसके आगे क्या भोजन हो सकता है! यह वह अपने बाबत कह रहा है। वह यह कह रहा है कि वह बहुत दिन भूखा था।
असल में भोजन में जो भी स्वाद है, वह भूख के कारण ज्यादा है, भोजन के कारण कम है। इसलिए जो जानता है, वह कहेगा, मैं बहुत भूखा हूं, इसलिए भोजन बहुत सुस्वादु मालूम पड़ता है।
लक्षण का यह अर्थ होता है कि यह हमारी प्रतीति है। एक घड़ी ऐसी आती है
कि जब हम पूरे मिट जाते हैं, मैं मिट जाता है, तू मिट जाता है, और हमारी प्रतीतियां भी मिट जाती हैं, फिर हम क्या कहेंगे? क्या हम उसे अनंत कहेंगे? अनंत हमने उसे कहा था, क्योंकि जो भी हमने इसके पहले जाना था वह सीमित था; उस अनुभव के मुकाबले वह अनंत था। हमने जो जाना था, वह दुख था; उसके मुकाबले वह आनंद था। हमने जो जाना वह अज्ञान था, उसके मुकाबले वह ज्ञान था; हमने जो भी जाना था वह असत्य था, उसके मुकाबले वह सत्य था। जब हम खो जायेंगे पूरे, तब वह क्या होगा?
बुद्ध से जब भी कोई पूछता तो वे चुप रह जाते; या वे कहते, और कुछ पूछो। बुद्ध जिस गांव में जाते, खबर करवा देते कि ग्यारह प्रश्न मुझसे मत पूछना। उन ग्यारह प्रश्नों में यह ब्रम्ह की परिभाषा एक है। अनेक लोग बुद्ध से आकर कहते कि क्या आप इसलिए नहीं बताते कि आपको मालूम नहीं है? निश्चित ही, फिर हम... हम अपनी तरफ से सोचना शुरू करते हैं न! अगर बुद्ध नहीं बताते तो मालूम नहीं होगा।
तो बहुत निष्कर्ष लेकर चले जाते हैं कि बुद्ध को कुछ पता नहीं, अभी अनुभव नहीं हुआ, इसलिए चुप रहते हैं। कहना चाहिये था उन्हें कि हम ऐसा समझते हैं कि जो बोलते हैं, वे जानते हैं; जो नहीं बोलते वे नहीं जानते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि बुद्ध चुप हैं; नहीं जानते होंगे। पर नहीं, उन्होंने कहा कि नहीं जानते हैं इसलिए चुप हैं। पता ही नहीं है उन्हें तो कैसे बतायेंगे? कोई लोग निष्कर्ष लेकर जाते कि बात इतनी गहन है, शायद अभी हम पात्र नहीं हैं, इसलिए नहीं बताते हैं। पात्र हो जायेंगे तब बतायेंगे। कोई यह सोचकर जाता कि शायद ये सब चीजें नहीं हैं, और बुद्ध हमें दुख नहीं देना चाहते इसलिए इनकार भी नहीं करते हैं और चुप रह जाते हैं।
लेकिन शायद ही कभी-कभी कोई यह नतीजा समझ कर जाता कि बुद्ध चुप रह जाते हैं, क्योंकि "मैं" और "तू" दोनों के पार चले गये हैं। और उस जगह खड़े हैं जहां से लक्षण देखनेवाला मिट जाता है। जो जहां से लक्षण देखनेवाला मिट जाता है, वहां से फिर ब्रम्ह के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।
तो ऋषि कहता है, ये लक्षण हैं जिसके... लक्षण यानी जैसा हमें दिखाई पड़ता है।
"... और देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों के होने पर भी जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।"
इस जगत में दो ही तरह के परिवर्तन हैं। एक परिवर्तन है जो स्थान में घटित होता है और एक परिवर्तन है जो काल में घटित होता है। टाइम और स्पेस-दो में सारा परिवर्तन घटित होता है।

आप अपने गांव से यहां तक आये, तो दो तरह के परिवर्तन घटित हुए। आप गांव
से चले तो स्थान आपने बदला। और गांव से आप चले तो चलने में समय व्यतीत हुआ। तो समय भी आपने बदला। सुबह चले तो सांझ पहुंचे; और "अ" स्थान से चले तो "ब" स्थान पर पहुंचे। परिवर्तन दोहरा हुआ-स्थान बदला और समय बदला।
स्थान और समय परिवर्तन के आधार हैं। लेकिन परमात्मा में स्थान भी कोई परिवर्तन नहीं लाता और समय भी कोई परिवर्तन नहीं लाता। क्या कारण होगा? एक ही कारण है कि हम स्थान और समय में जीते हैं और स्थान और समय परमात्मा में जीते हैं। परमात्मा के लिए कोई उपाय नहीं है कि एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाये; क्योंकि सभी स्थान उसमें हैं। और परमात्मा के लिए कोई उपाय नहीं है कि इस वर्ष से दूसरे वर्ष में प्रवेश करे, क्योंकि सभी वर्ष उसके भीतर हैं।
इसलिए परमात्मा को हम कहते हैंः "कालातीत", "क्षेत्रातीत"- बियांड टाइम एंड स्पेस। क्योंकि समय और स्थान को होने के लिए भी परमात्मा में ही स्थान चाहिए। क्योंकि हमने परमात्मा की परिभाषा की कि परमात्मा का अर्थ हैः "है", "है" पन; "अस्तित्व"; "जो है"। अगर समय भी है, तो होने के लिए वह परमात्मा में ही हो सकता है-जो भी हो सकता है वह परमात्मा में ही हो सकता है।
इसलिए समय और स्थान उसमें काई फर्क नहीं लाते। हमारे लिए वर्तमान, भूत, भविष्य-ये समय के तीन हिस्से हैं, उसके लिए समय सदा वर्तमान है। और हमारे लिए "यहां और वहां" ऐसे दो फर्क हैं, उसके लिए सभी कुछ यहां है। और हमारे लिए कल, और आनेवाला कल, ऐसे समय के फासले हैं, उसके लिए सभी कुछ अभी है-हियर एंड नाऊ। और ऐसा अभी नहीं है, सदा से ऐसा ही है।
तो उसकी भाषा में हियर एंड नाऊ, अभी और यहीं, इनके अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं हो सकते-समय और स्थान की दृष्टि से; क्योंकि परमात्मा से हमारा अर्थ है, अस्तित्व। और अस्तित्व को कहेंगे "तत्"... "वह"। उसमें "मैं" भी समा जाता है और "तू" भी समा जाता है; उसी से "मैं" भी जन्मता है, उसी में "मैं" लीन भी हो जाता है।
जिसमें कोई परिवर्तन नहीं, ऐसे पदार्थ को कहेंगे "तत्"ं ये दोनों-"त्वं" और "तत्" "दाऊ एंड दैट" भी उपाधियां हैं। यहीं ऋषि एक-एक पर्त नीचे उतर रहा है। पहले कहता हैः "मैं" उपाधि है; कहता "तू" उसका स्वरूप है; फिर कहता है "तू" भी उपाधि है, "वह" उसका स्वरूप है; अब कहता है "वह" भी उपाधि है।
"... ये दोनों "त्वम्" और "तत्" पदार्थ उपाधिवाले भेदों से पृथक, आकाश
की तरह सूक्ष्म और सत्तामात्र जिसका स्वभाव है।"
"सत्तामात्र"-जस्ट एग्जिस्टेंस; वही परब्रम्ह है। वही वस्तुतः ब्रम्ह है। वही है। "मैं" से छलांग लगाई "तू" पर, "तू" से छलांग लगाई "वह" पर, "वह" से छलांग लगा लेनी है परम अस्तित्व में-जहां "वह" कहने का फासला भी न रह जाये; क्योंकि जब हम कहते हैं "वह", तब भी तो फासला मौजूद है-कहनेवाला मौजूद है, उंगली मौजूद है जो कह रही है "वह"। अभी भी हम कहीं अलग हैं-नहीं होंगे "मैं", फिर भी कहीं अलग हैं। जान लिया होगा कि नहीं बचा "मैं", नहीं बचा "तू", फिर भी अभी कहनेवाला मौजूद है।
इतना फासला भी... इतना फासला भी रहस्यवादियों को प्रीतिकर नहीं है; इतनी दूरी भी बरदाश्त के बाहर है। इतनी दूरी भी नहीं सही जा सकती। एक और छलांग-और वह छलांग, वहां वह "वह" भी नहीं है।
बुद्ध इसे शून्य कहते हैं, क्योंकि कोई भी नहीं बचा-न मैं, न तू, न वह। उपनिषद इसे अस्तित्व कहते हैं। बुद्ध इसे शून्य कहते हैं क्योंकि जो-जो चीजें हम जानते थे, वे कोई भी न बचीं; और उपनिषद इसे अस्तित्व कहते हैं क्योंकि जो हम जानते थे वे तो थीं ही नहीं; जो था वही बचा... जो था वही बचा, सब खो गया जो नहीं था। सब स्वप्न झड़ गये, अब तो वही बचा जो है। और इसमें से अब काटने का कोई उपाय न रहा। इसलिए इसे परब्रम्ह कहा-ब्रम्ह के भी पार है जो।
क्योंकि अभी तक हमने जो परिभाषाएं कीं, वे ब्रम्ह की थीं। वे ब्रम्ह
की परिभाषाएं थीं। इसे ऋषि कहता हैः परब्रम्ह। इसे वह कहता है, उस ब्रम्ह

को भी अब छोड़ो; "नाउ गो बियांड ईवन दैट ब्रम्ह-जिसकी अभी हम बात करते थे। जिसकी हमने इतनी-इतनी रहस्यबीन खोजबीन की, उसे भी छोड़ो अब; अब हम उसकी बात करते हैं जो उसके भी पार है; ईवन बियांड दैट।
अब इसका अर्थ तो सिर्फ इतना ही हुआ कि सब खो गये शब्द, सब खो गये सिद्धांत, खो गया खोजनेवाला, खो गया जिसे खोजते थे। अब क्या बचा?
ऋषि कहता हैः अब जो बचा, वही है-चाहे शून्य कहो उसे, चाहे पूर्ण कहो उसे; चाहे चुप रह जाओ, और चाहे जन्मों-जन्मों उसके संबंध में कहते रहो। इसकी ही तलाश है। इसे पाये बिना चैन नहीं है। इसे पाये बिना चैन हो भी नहीं सकता; क्योंकि जब तक हम इसे न पा लें, तब तक हम मरते ही रहेंगे; मृत्यु होती ही रहेगी; तब तक दुख आता ही रहेगा। जब तक हम उस जगह न पहुंच जायें, जहां जो भी मिट सकता था, सब मिट गया, तब तक मिटना कायम रहेगा। परब्रम्ह को पाकर फिर... फिर अमृत है।
जीवन, मृत्यु उस पर घटित नहीं होते जो है, उस पर घटित होते हैं जो हमने बनाया है।
अहंकार हमारी निर्मिति है, हमारा अर्जन है; वही जन्मता है, वही मरता है। चेतना हमारी निर्मिति नहीं, वह हमसे पहले और हमसे बाद भी है; वह न मरती है, न जन्मती है।
एक फकीर हुआ है, बोकोजू। सुबह उठकर उसने बुद्ध के मंदिर में-उसी मंदिर
का फकीर है वह, पुजारी भी-फूल चढ़ाये हैं बुद्ध की प्रतिमा पर। और फिर कुछ लोग उसे सुनने आ गये हैं, तो उसने सभाकक्ष में जाकर कहा कि मैं तुमसे कहता हूं आज वचनपूर्वक कि यह बुद्ध नाम का आदमी न कभी हुआ... कभी नहीं हुआ। यह सरासर झूठ है।
चौंके हैं लोग। उन्होंने समझा, बोकोजू का दिमाग फिर गया। क्या पागलपन
की बात है? बुद्ध का ही भिक्षु है... और अभी-अभी मंदिर में फूल चढ़ाते और प्रतिमा के सामने आरती करते देखा है इसे। उन्होंने पूछा कि बोकोजू, दिमाग फिर गया तुम्हारा, या कोई मजाक करते हो? अभी-अभी तुम पूजा करके आये हो। उसने कहा, पूजा करके अभी-अभी आया और सांझ फिर पूजा करूंगा, लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, यह आदमी कभी भी हुआ नहीं। और इसलिए कहता हूं कि अब तक मैं इस आदमी को समझ नहीं पाया- इसलिए सोचता था, जन्मा; इसलिए सोचता था, मरा... लेकिन आज मैं समझ गया।
और अभी तुम मुझे पागल समझ रहे हो, अभी दूसरी बात तुमने सुनी नहीं... मैं तुमसे कहता हूं कि मैं भी कभी जन्मा नहीं और कभी मरूंगा नहीं। तब तो निश्चित ही समझा कि दिमाग इसका बिल्कुल पागल हो गया। छोड़ो बुद्ध की, हुआ हो कि न भी हुआ हो यह आदमी; पच्चीस सौ साल पुरानी बात है, संदिग्ध भी हो सकती हैः न भी हुआ हो; लेकिन बोकोजू ने कहा कि अब मैं तुमसे दूसरी बात कहता हूं कि मैं भी कभी पैदा नहीं हुआ और कभी मरूंगा नहीं।
कुछ लोग उठकर जाने लगे। और उन्होंने कहा, अब हमें जाने की आज्ञा दो।
अब जरा बात सीमा के बाहर हो गयी।
बोकोजू ने कहा, तीसरी बात और सुनते जाओ कि मैं तुमसे कहता हूं कि तुम
भी कभी पैदा नहीं हुए, तुम भी कभी मरोगे नहीं।
अगर हम सब सही हैं तो बोकोजू पागल है; और अगर बोकोजू सही है तो हम सब पागल हैं। और कोई उपाय नहीं है। और इस पृथ्वी पर जो भी जाननेवाले हुए हैं, वे सब कहते हैं, बोकोजू सही है।
वह जो शुद्ध सत्व है, वह जो शुद्ध सत्ता है, वह जो शुद्ध अस्तित्व है,
वह जो शुद्ध होना है, उस पर जन्म और मृत्यु आयी हुई हवा के झोंके से ज्यादा नहीं। लेकिन हमें इतने महत्वपूर्ण लगते हैं क्योंकि हम... हम उसे जानते नहीं। और हम जिसे जानते हैं... अहंकार... वह हमारा बनाया हुआ जरा से झोंके में कंप जाता है; जरा सा हवा का झोंका-और हमारी अहंकार की लौ डगमगाने लगती है... अब गयी, अब गयी।
और जीवन का नियम बहुत अदभुत हैः छोटी सी दीये की लौ हो, तो हवा का छोटा
सा झोंका भी उसे बुझा जाता है। और जलती हुई विराट अग्नि हो तो हवा के बड़े झोंके भी उस अग्नि को और विराट कर जाते हैं।

तो अहंकार पर जब झोंके लगते हैं तो मौत घटती है, और जब अस्तित्व पर झोंके लगते हैं तो जीवन की झलक आती है। जब अहंकार पर जरा सा धक्का लगता है तो मौत और मौत दिखाई पड़ने लगती है, और जब आत्मा पर हवा के झोंके लगते हैंत्तूफान भी, तो जीवन का रस झरता है।
छोटी सी लहर हवा की दीये को बुझा जाती है और विराट अग्नि को और विराट
कर जाती है।
लेकिन अहंकार बड़ा छोटा है; हमारा बनाया हुआ है, और हम बहुत बड़े हैं; क्योंकि हम हमारे बनाये हए नहीं हैं। हम जिसके बनाये हुए हैं, वह विराट है।
इसलिए ध्यान रखना, आप अपने से सदा ही बड़े हैं।... आप अपने से सदा ही बड़े हैं; आप अपने से सदा ही पार हैं। आपका सब छोटापन आपकी ही चेष्टा का फल है। आपकी सारी क्षुद्रता आपका ही अर्जन है। आपकी सारी दीनता आपका ही पुरुषार्थ है-आपका ही पराक्रम है कि आप दीये की ज्योति बने बैठे हैं, और घबड़ा रहे हैं कि अब मरे, अब मरे! यह दुख आया, यह परेशानी, यह पीड़ा, यह चिंता।
अपने इस पागलपन के बाहर छलांग लगायें। वह छलांग अहंकार से लगाते ही शुरू हो जाती है।

आज इतना ही।
अब हम छलांग की थोड़ी कोशिश करें।

सर्वसार उपनिषद
चौदहवां प्रवचन

अनादि अंतवती माया

माया नाम अनादिरन्तवती
प्रमाणाऽप्रमाण साधारणा न सतीं नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा सतीतरलक्षणशून्या सा
अज्ञानं तुच्छाऽप्यसती
कालत्रयेऽपि पामराणां
वास्तवी च सत्वबुद्धिलौकिका-
नामिदमित्यनिर्वचनीया

वक्तुं न शक्यते।। 15।।

जो अनादि है तो है पर जिसका अंत हो जाता है, जो प्रमाण और अप्रमाण में समान रूप से उपस्थित है, जो न सत है, न असत है और न सत्असत्, स्वयमेव सबसे अधिक विकाररहित दिखायी पड़नेवाली शक्ति को माया कहते हैं।

उसका वर्णन इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता।

यह माया अज्ञानरूप, तुच्छ और मिथ्या है
पर मूढ़ मनुष्यों को तीनों काल में यह वास्तविक ही जान पड़ती है,
इसलिए यह कहकर कि वह ऐसी ही है,
उसका यथार्थ रूप समझाया नहीं जा सकता।

जीवन के यथार्थ को समझने में बड़ी सरलता हो सकती थी यदि दो ही रूप होते अस्तित्व के-सत और असत्। हम कह सकते किसी चीज को कि है, और कह सकते कि नहीं है, ऐसे दो स्पष्ट विभाजन होते जीवन के, अस्तित्व के, तो कठिनाई जरा भी नहीं थी। लेकिन एक और कोटि भी है अस्तित्व की, जिसे हम कह नहीं सकते कि है, और यह भी नहीं कह सकते कि नहीं है, उससे ही सारा उलझाव पैदा होता है।
जैसे राह में, सांझ के अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी आपको सांप दिखाई पड़ गयी है। यह जो सांप आपको दिखाई पड़ गया है, यह है या नहीं है? काश, सरलता होती और हम स्पष्ट कह सकते कि नहीं है... या कह सकते कि है, तो उलझाव कोई भी नहीं था; लेकिन रस्सी में जो सांप दिखाई पड़ गया है, वह एक अर्थ में नहीं है, क्योंकि खोजने पर रस्सी हाथ आती है, सांप हाथ में नहीं आता। लेकिन एक अर्थ में है, क्योंकि दिखाई पड़ा है। और दिखाई पड़ा है ऐसा ही नहीं, जिसे दिखाई पड़ा है वह भागेगा भी, गिर भी सकता है, चोट भी खा सकता है, हृदय की धड़कन उसकी बढ़ जायेगी, पसीने से तर-बतर हो जायेगा-और अगर कभी लौटकर न आये और खोजे न, तो सदा इसी ख्याल में जीयेगा कि सांप था।
तो जो नहीं था, उसके कारण आदमी दौड़ सकता है क्या? जो नहीं था उसके कारण पसीना बह जाता है। जो नहीं था, भय से हृदय कंप जाता है। जो नहीं था, क्या उससे भी ऐसी घटनाएं घट सकती हैं? अगर घट सकती हैं तो उसे किसी अर्थ में होना तो मानना ही पड़ेगा; क्योंकि जिसके न होने पर भी होने में घटनाएं घट जाती हैं, उसके अस्तित्व को एकांततः इनकार करना असंभव है।
रात सपने में देखते हैं आप एक... एक भयानक स्थिति। नींद खुल जाती है और जान लेते हैं कि सपना था, लेकिन हृदय की धड़कन इससे कम नहीं हो जाती; हाथ-पैर कंपते ही चले जाते हैं। माना कि सपना था, और अब तो जान भी लिया कि सपना था, लेकिन वास्तविक हृदय अभी भी कंपा जा रहा है और घबड़ाहट जारी है। और नींद के लौटने में थोड़ा समय लगेगा।
तो जो अवास्तविक होकर भी वास्तविक पर प्रभाव डाल पाता है, उसे ऋषि कहते हैं कि हम बिल्कुल ऐसा कह दें कि वह नहीं है तो अनुचित होगा। और मजे

की बात यह है कि वह जो यह तीसरी कोटि है, वह इतनी प्रभावी है कि सारा जीवन उसी से ओतप्रोत है; इसलिए उसे इनकार नहीं किया जा सकता। यह जो तीसरी कोटि है, इतनी महत्वपूर्ण है कि सारा जीवन हमारा उसी के इर्दगिर्द निर्मित होता है और चलता है।
इसलिए भारत ने एक नये शब्द का आविष्कार किया, वह हैः "माया"।
माया न तो सत है, न असत्; माया दोनों के मध्य में है। वह एक अर्थ में नहीं है और एक अर्थ में है।
माया उसे नाम दिया है इसीलिए, क्योंकि माया का अर्थ वस्तुतः होता है- जैसे एक जादूगर एक वृक्ष को बड़ा करता है। आंखों के सामने, ह.जारों आंखों के सामने वृक्ष बड़ा होने लगता है। ह.जारों आंखों के सामने क्षण भर में ही उसमें फल लगने लगते है, फल बड़े हो जाते हैं। जो देख रहें हैं वे सभी जानते हैं, यह हो नहीं सकता यह है नहीं। और फिर भी दिखाई तो पड़ता है!
माया का मौलिक अर्थ हैः भ्रांति की कला। माया का मौलिक अर्थ हैः जादू, मैजिक। उसका अर्थ है कि जो नहीं है वह भी दिखाई पड़ सकता है, इसकी संभावना है। और इससे उल्टी संभावना भी है कि जो है, वह नहीं दिखाई पड़ सकता है, इसकी भी संभावना है। जो है वह छिप सकता है और जो नहीं है वह प्रगट हो सकता है। तीन स्थितियां हैं-जो नितांत नहीं हैं, जिसकी भ्रांति भी नहीं हो सकती है। जो नितांत है, उसकी भी भ्रांति नहीं हो सकती है। लेकिन जो एक दृष्टि से है और एक दृष्टि से नहीं है, उसकी भ्रांति हो सकती है। वह तीसरा अस्तित्व का रूप भी है; उस रूप का नाम माया है।
यह तो माया का शाब्दिक अर्थ है। इसकी... इसकी परिधि को हम ठीक से समझ लें तो फिर इसके जीवन में क्या-क्या आयाम खुलते हैं वे हमारे ख्याल में आ जायें।
जो है, वह सदा से है। उसका कोई आदि नहीं है, उसका कोई प्रारंभ नहीं है,
और उसका कोई अंत भी नहीं है; क्योंकि वह सदा रहेगा। जो नहीं है, नितांत नहीं है, उसका भी कोई आदि नहीं; क्योंकि जो है ही नहीं उसका प्रारंभ कैसे होगा! और उसका कोई अंत भी नहीं होगा; क्योंकि जो है ही नहीं उसकी समाप्ति क्या होगी! माया का प्रारंभ नहीं है, अंत है; यह दोनों के बीच की कोटि है। इसका प्रारंभ नहीं है, यह सदा से है; लेकिन इसका अंत है।
इसे हम ऐसा समझेंः अंधेरा है... अंधेरा सदा से है; लेकिन अंधेरे का अंत
हो सकता है। प्रकाश जला और अंधेरा नहीं हो जाता है। प्रकाश जलता है और अंधेरा नहीं हो जाता है। अंधेरे का प्रारंभ कोई भी नहीं है... कि अंधेरा कब प्रारंभ हुआ; वह अनादि है, वह सदा से है; लेकिन उसका अंत होता है-प्रकाश जलता है, उसका अंत हो जाता है।
माया की जो तीसरी श्रेणी है अस्तित्व में, वह सदा से है अंधेरे की तरह। जब व्यक्ति जागता है चैत्यन में, तो उसका अंत हो जाता है; जब प्रकाशित होती है चेतना, तो वह अंधेरा कट जाता है।
यह जो माया है, यह एक विस्तीर्ण स्वप्न है।
स्वप्न की एक खूबी है कि जब वह होता है तो वास्तविक मालूम होता है। जब
तक होता है तब तक वास्तविक मालूम होता है। हम सभी ने स्वप्न देखे हैं। और हर सुबह हमने पाया है कि स्वप्न झूठा था, लेकिन फिर आज रात जब स्वप्न देखेंगे तो देखने में स्वप्न पुनः वास्तविक हो जायेगा। स्वप्न में कभी याद नहीं आती कि जो देखे रहे हैं वह झूठा है। आ जाये याद तो स्वप्न टूट जाये।
स्वप्न की एक आंतरिक खूबी है कि जब वह होता है तब बिल्कुल वास्तविक होता है... वास्तविक प्रतीत होता है; रंचमात्र भी शक पैदा नहीं होता; जरा सा भी संदेह नहीं उठता। बड़े-बड़े संदेहशील लोगों में भी, जो जगत पर संदेह कर सकते हैं कि है या नहीं, स्वप्न पर संदेह नहीं कर पाते।
पश्चिम का बड़ा विचारक हुआ बर्कले; वह कहता है कि जगत पर मुझे शक है कि
यह है भी या नहीं! क्योंकि हो सकता है, एक बड़ा सपना हो। मैं कैसे भरोसा करूं कि आप यहां बैठे हैं सच में? हो सकता है, मैं सिर्फ एक स्वप्न देख रहा हूं। कैसे पक्का करूं कि जिनको मैं देख रहा हूं वे हैं ही? हो सकता है, मैं एक

स्वप्न में उनसे बोल रहा हूं। स्वप्न भी तो इतना ही वास्तविक होता है, जितने आप यहां वास्तविक हैं।
तो बर्कले कहता है, क्या भरोसा! क्या पक्का कि आप हैं? स्वप्न को भी हम इसीलिए स्वप्न कहते हैं कि सुबह टूट जाता है। लेकिन जिसे हम जागरण कह रहे हैं, यह भी तो सांझ टूट जाता है। सुबह स्वप्न से जागते हैं तो पता चलता है... झूठ था, खो गया। रात्रि सम्राट थे, सड़क के भिखारी हैं सुबह, लेकिन दिन भर सड़क के भिखारी रहने पर रात जब नींद आती है तब यह भिखारीपन भी तो इतना ही भूल जाता है। रात कहां याद रह जाती है कि भिखारी थे? नींद में सम्राट और भिखारी में कोई फर्क रह जाता है? रात सम्राट भी तो सपने में याद नहीं रख सकता कि मैं सम्राट हूं। वह तो दिन का सपना सांझ के होते ही टूट जाता है। तो फर्क क्या है? एक सपना सुबह टूटता है, एक सांझ टूटता है। रात के सपने में दिन को हम भूल जाते हैं, दिन के सपने में रात को हम भूल जाते हैं- अंतर क्या हैं?
तो बर्कले कहता है, मैं कैसे भरोसा करूं कि मेरे बाहर कोई अस्तित्व है? यह बड़े मजे की बात है; लेकिन बर्कले भी सपने में यह याद नहीं रख पाता है कि जो है, वह कहीं संदिग्ध तो नहीं? जागते में संदेह संभव है, सोते में संदेह भी संभव नहीं है। बड़े से बड़ा नास्तिक भी, स्केप्टिक भी, संदेहवादी भी सपने में संदेह नहीं कर पाता।
स्पने की माया बड़ी अदभुत है। जागने की भी इतना प्रभाव नहीं मालूम होता। जागना भी कम प्रभावी मालूम पड़ता है, क्योंकि हम संदेह कर सकते हैं- हम कह सकते हैं कि पता नहीं, जो दिखाई पड़ता है वह है भी, या नहीं है। लेकिन स्वप्न की माया अदभुत है। स्वप्न में हम पूरी तरह खो जाते हैं, डूब जाते हैं। और ऐसी चीजों को भी मान लेते हैं जिनको कि तर्क बिल्कुल नहीं मान सकता। लेकिन स्वप्न में कोई तर्क ही नहीं रह जाता। अगर तर्क रह जाये तो संदेह भी रह जाये।
स्वप्न में आप देखते हैं, मित्र खड़ा-खड़ा सामने अचानक घोड़ा हो जाता है... और इतना भी शक नहीं आता कि यह कैसे हो सकता है! स्वप्न में कभी शक नहीं आता। स्वप्न बड़ा आस्थावान है। स्वप्न की आस्था परम है। परम श्रद्धालु भी जीवन में इतने श्रद्धालु नहीं होते, जितने परम नास्तिक भी स्वप्न में श्रद्धालु हो जाते हैं। इस पर भी शक पैदा नहीं होता कि सामने खड़ा-खड़ा मित्र क्षण में अचानक घोड़ा हो गया, और इतना भी मन में नहीं आता कि यह कैसे हो सकता है!
स्वप्न सभी कुछ मान लेता है। स्वप्न के पास तर्क नहीं है। स्वप्न की
यह खूबी है कि स्वप्न में संदेह नहीं हो सकता। स्वप्न में जो भी दिखाई पड़ता है वह स्वप्न के रहते तक वास्तविक होता है। स्वप्न में कुछ भी घटित हो जाये तो असंगति नहीं मालूम पड़ती। एक आंतरिक संगति का फैलाव है।
जो स्वप्न की खूबी है, वही माया की भी। ऐसा समझें कि माया जागता हुआ स्वप्न है। इसलिए जितनी माया से घिरा चित्त हो, उतना ही माया पर संदेह करना कठिन होता है; माया पर संदेह नहीं आता... और माया बिल्कुल वास्तविक मालूम पड़ती है।
एक चेहरा आपको सुंदर मालूम पड़ता है और ऐसा लगता है कि इस चेहरे के लिए जीवन दिया जा सकता है। मजनू को लैला जैसी दिखाई पड़ती है वैसी किसी को भी दिखाई नहीं पड़ती। सारा गांव मजनू की पीड़ा से पीड़ित था। गांव के नरेश ने मजनू को बुलाया और कहा, तू बिल्कुल पागल है। जिसे तू... पता नहीं क्या समझ रहा है-साधारण सी, बहुत साधारण सी लड़की है, उसके लिए दीवाना क्यों है? और तुझ पर मुझे भी दया आ गयी... क्योंकि गांव में मजनू रोता फिरता है, चिल्लाता फिरता है, आंसू बहते रहते हैं-द्वार-द्वार, दरवाजे-दरवाजे खड़े होकर "लैला- लैला" पुकारता है। सम्राट के कानों तक खबर पहुंच गयी। उसने भी देखा है उसकी पीड़ा को, अनुभव किया है-प्रामाणिक है, उसका रुदन वास्तविक है। तो दया आ गयी है। उसने दस-बारह सुंदर लड़कियां महल की बुलाकर खड़ी कर दीं और कहा कि तू कोई भी चुन ले। इस लैला को भूल।

मजनू उन बारह लड़कियों के पास गया। वे सुंदरतम लड़कियां थीं उस राज्य की, लेकिन मजनू ने कहा, लैला इनमें कहां? ये तो लैला के पैर की धूल भी नहीं हैं।
सम्राट ने कहा, तू या तो पागल है, होश में नहीं है; तू क्या कह रहा है?
इन लड़कियों को तू लैला से... लैला के पैर की धूल बता रहा है! मजनू ने कहा, निश्चित। सम्राट ने कहा, लैला को मैंने भी देखा है; अति साधारण लड़की है। मजनू ने कहा, लैला को देखना हो तो मजनू की आंख चाहिये।
मगर यह आंख-मजनू की जो आंख है, यह क्या कर रही होगी लैला के साथ? यह आंख लैला को कुछ दे रही है जो लैला में नही है; यह आंख कोई सपना लैला पर फैला रही है; यह आंख कोई माया का सृजन कर रही है लैला के आसपास जो लैला में नहीं है। मजनू जिस लैला को जानता है उसमें लैला कम है और मजनू ज्यादा है। दस प्रतिशत भी हो तो बहुत-लैला; नब्बे प्रतिशत मजनू है। संभावना तो यह है कि एक ही प्रतिशत होगी, निन्यानबे प्रतिशत मजनू है।
वह जो देख रहा है वह उसका ही प्रक्षेपण है; उसका ही प्रोजेक्शन है। वह उसने ही फैलाया है। वह उसका ही मन है, जो एक स्वप्न को निर्माण कर रहा है लैला के चेहरे के आसपास। लैला की देह के आसपास एक सुगंध का, एक सौंदर्य का, एक संगीत का ताना-बाना बुन रहा है-वह मजनू का मन है।
जैसे मकड़ी अपने ही भीतर से तार को निकालती है और जाल बुनती है, वैसे ही आदमी का मन माया को बुनता है-अपने ही भीतर से निकालकर। बाहर सहारे लेने पड़ते हैं, बस। जैसा मकड़ी को भी लेने पड़ते हैं। जाला मकड़ी बुनती है तो कहीं दीवाल में अटकाती है, कहीं द्वार में अटकती है। बस, इतनी खूंटियों का सहारा है, बाकी सारा जाला उसका अपना है।
मनुष्य भी जिस माया को रचता है उसमें बाहर खूंटियों का सहारा है। लैला बस खूंटी है। और जो लैला दिखाई पड़ रही है वह मजनू का अपना जाल है। माया का अर्थ हैः मनुष्य के मन की क्षमता है कि वह अपने चारों तरफ स्वप्न को गूंथ ले। और बड़े मजे की बात है कि मकड़ी जिस जाले को बुनती है, फिर उसी पर चलती है, उसी पर जीती है, उसी में रहती है। अपने ही भीतर से निकालती है जिस जाले को, वही उसका पथ बन जाता है; वही उसका मार्ग है। वही उसका घर है, वही उसके भोजन का उपाय है, वही उसकी आजीविका है। उसी जाल में फंसकर उसका भोजन आनेवाला है। और वह जाल उसने स्वयं फैलाया है।
और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उसी जाल में मकड़ी स्वयं भी फंस जाती है...
और निकलना मुश्किल हो जाता है। कभी जाल उलझ जाता है। हवा के किसी झोंके में मकड़ी के ऊपर ही पड़ जाता है। कभी जाल टूट जाता है और मकड़ी अधर में लटक जाती है। और मजा यह कि वह उसके ही उदर का खेल था, उसके ही पेट से निकला था सब और उसी को डुबा लेता है। और कभी ऐसा हो जाता है कि मकड़ी ऐसी फंस जाती है अपने ही जाल में कि बाहर नहीं निकल पाती; वही जाल जो उसका जीवन था, किसी दिन उसकी मौत बन जाता है।
माया का अर्थ हैः मनुष्य के मन की क्षमता-अपने चारों ओर एक स्वप्न-जगत निर्मित करने की। इस स्वप्न में सुख भी बहुत है, अन्यथा हम निर्मित न करें; इस स्वप्न में सुख भी बहुत है, अन्यथा हम क्यों निर्मित करें? इस स्वप्न में दुख भी बहुत है, अन्यथा क्यों कोई बुद्ध, क्यों कोई महावीर इसे तोड़ने चले? इस स्वप्न में सुख है उतना ही, जितनी देर तक हम इस सपने को देख पाते हैं। लेकिन बड़े मजे की बात है कि जिस पर हम यह सपना देखते हैं वही सपने को तोड़ने को कारण बनना शुरू हो जाता है। क्योंकि वह हमारे सपने के अनुकूल कतई नहीं है; उसका अपना अस्तित्व है, उसके अपने सपने हैं।
एक व्यक्ति को मैं देखता हूं-बहुत प्रीतिकर, बहुत सुंदर, मनभावक... मेरा सपना उस पर फैलाता हूं।.जरूरी नहीं कि वह भी मुझ पर अपना सपना फैलाये। इसलिए प्रेमी तकलीफ में पड़ते हैं।
मुझ से प्रेमी आकर पूछते हैं कि मैं इतना प्रेम करता हूं फलां व्यक्ति को, लेकिन वह मुझे प्रेम क्यों नहीं करता? कोई अनिवार्य नहीं है; उसे अपना सपना फैलाने की स्वतंत्रता है। वह आपको खूंटी बनाये, न बनाये; उसने कोई और खूंटी चुनी हो। जबरदस्ती नहीं है। वह अपनी खूंटियों पर जाला बुन रहा है, आप उसकी खूंटियों पर जाला बुन रहे हैं, कहीं न कहीं उपद्रव

होने ही वाला है। कहीं आपका जाला उसे बंधन मालूम पड़ेगा, कहीं उसका जाला कहीं और बुनना आपके लिए पीड़ादायी हो जायेगा। और यह भी हम मान लें कि दो व्यक्ति एक-दूसरे पर अपना जाला बुनते हैं, तो भी अपना-अपना जाला बुनते हैं इसलिए संघर्ष अनिवार्य हो जाता है, पीड़ा अनिवार्य हो जाती है; रास्ते कटते हैं; अपेक्षाएं टूटती हैं; सपना खंडित होता है; दोनों की अपनी योजनाएं हैं आंतरिक सपने फैलाने की।
ऐसा हम समझें कि एक ही परदे पर दो प्रोजेक्टर लगाकर दो लोग दो तरह की फिल्में चला रहे हैं-एक ही परदे पर। सो मुश्किल होनेवाली है; और सब गड्डमड्ड भी हो जानेवाला है, कुछ दिखाई पड़नेवाला नहीं है। मगर यहां मामला दो का नहीं है, यहां ऐसा मामला है कि एक-एक परदे पर दस-दस, पंद्रह-पंद्रह, बीस-बीस लोग फिल्में चला रह हैं। सब कनफ्यु.जन हो जाता है, सब विभ्रम हो जाता है; कुछ हाथ नहीं पड़ता; दुख ही दुख हाथ पड़ता है। सब सपने भंग हो जाते हैं। डिसइल्यूजनमेंट के अतिरिक्त, स्वप्न-भंग के अतिरिक्त, हाथ में राख के अतिरिक्त, टूट हुए जालों के अतिरिक्त अंत में आदमी की संपदा कुछ भी नहीं होती।
मन की यह क्षमता दोहरी हैः इसका एक हिस्सा तो प्रक्षेपक है, प्रोजेक्टिंग है... कि हम किसी भी विचार को, किसी भी भाव को, किसी भी कल्पना को फैलाने के लिए सक्षम हैं; और दूसरी क्षमता इस प्रोजेक्शन की आटोहिप्नोसिस की है, आत्मसम्मोहन की है-हम खुद ही फैला देंगे और फिर हम खुद ही सम्मोहित हो जायेंगे। पहले हम रख देते है सौंदर्य एक चेहरे में-हम ही-और फिर हम ही प्रलोभित हो जाते हैं! यह दूसरा हिस्सा है उसका- आत्मसम्मोहित होने का। पहले हम कहते हैं, सुंदर हो; यह हम ही निर्माण करते हैं सौंदर्य।
अब तक सौंदर्य की कोई परिभाषा नहीं खोजी जा सकी। कभी खोजी भी नहीं जा सकेगी, क्योंकि सौंदर्य व्यक्ति-प्रक्षेपण है, वह कोई वास्तविक तथ्य नहीं है। इसलिए युग बदलता है, फैशन बदलती है, सौंदर्य के मापदंड बदल जाते हैं। कभी चपटी नाक भी सुंदर होती है, कभी लंबी नाक सुंदर हो जाती है; कभी गोरा चेहरा सुंदर होता है, कभी सांवला चेहरा सुंदर हो जाता है।
कृष्ण और राम को हमने सांवला रखा, उस वक्त सांवला रंग सुंदरतम था। वे
थे कि नहीं सांवले इसका कुछ पक्का पता नहीं है, लेकिन उस समय सांवले रंग की जो कद्र थी वह फिर कभी नहीं रही। सांवले में ही सलोनापन था उस समय। इसलिए कृष्ण को हम गोरा नहीं बना पाये। नाम ही कृष्ण रखा, श्याम रखा-वे सब काले के प्रतीक, पर्यायवाची हैं।
अभी हम सोच ही नहीं सकते कि काले में क्या सौंदर्य, क्योंकि सफेद रंग बहुत प्रभावी है इधर सौ-डेढ़ सौ वर्षों से सारी दुनिया पर। तो जब हम कहते हैं कि सांवला सुंदर है, तो कहीं शक मालूम पड़ता है। हालांकि बहुत देर नही लगेगी, क्योंकि अमरीका की सुंदरियां सांवले होने की बड़ी चेष्टाओं में संलग्न हैं-समुद्र-तटों पर लेटी हैं कि किसी तरह धूप थोड़ा सांवला कर जाये; क्योंकि सफेद ही सफेद बहुत हो तो वह भी ऊब दे जाता है।
और सफेद थोड़ा उथला मालूम पड़ता है। नदी जरा गहरी होती है तो सांवली हो जाती है; उथली होती है तो सफेद होती है, झाग होता है। सांवले में थोड़ी सी डेफ्थ, थोड़ी सी गहराई मालूम पड़ती है। पर्त भी भीतर की झलक देती है। सफेद फ्लैट (सपाट) हो जाता है। मगर यह भी युग के साथ बदलती रहती है धारणा। कभी सफेद बहुत प्रीतिकर हो जाता है, फिर हम उससे ऊब जाते हैं, फिर सांवला प्रीतिकर हो जाता है।
कौमें हैं, जो स्त्रियों के घुटे सिर पसंद करती हैं। हम सिर्फ संन्यासियों के सिर घोटते हैं; और वह सिर्फ इसलिए-उनको कुरूप बनाने के लिए, और कोई कारण नहीं है; क्योंकि संन्यासी को सुंदर नहीं दिखाई पड़ना चाहिये, क्योंकि वह सुंदर का जो जगत है उसके बाहर जा रहा है।

लेकिन कौमें हैं, अफ्रीकन आदिवासी हैं, जो स्त्रियों के सिर घोटते हैं पुरुषों के नहीं घोटते, क्योंकि पुरूष बिना सौंदर्य के भी चल जायेगा- स्त्रियों के सिर घोटते हैं, क्योंकि घुटा हुआ सिर ही सुंदर है। और शायद

उनकी बात भी किसी अर्थ में महत्वपूर्ण है क्योंकि वे कहते हैं, जब तक सिर न घुटा हो, तब तक खोपड़ी की बारीकियों का कोई पता नहीं चलता; नीची-ऊंची खोपड़ी हो तो बालों में ढकी रहती है। तो कुरूप खोपड़ी भी ढकी रह जाती है। जब खोपड़ी बिल्कुल साफ होती है तब पता चलता है कि सच में आकार है उसमें; अनुपात है? अन्यथा धोखा हो सकता है।
क्या है सौंदर्य? हम ही प्रक्षेपित करते हैं।... हम ही प्रक्षेपित करते हैं; हमारी ही धारणा को हम फैलाते हैं। फिर हमें सुंदर दिखाई पड़ने लगता है। और सुंदर से हम फिर मोहित हो जाते हैं। तो पहले तो हम प्रक्षेपण कर लेते हैं एक बात को परदे पर पहुंचा देते हैं-अपने ही भीतर से निकाला हुआ भाव परदे पर खड़ा कर लेते हैं, और फिर उससे ही मोहित हो जाते हैं।
आप कभी आईने के सामने खड़े होकर खुद से ही मोहित हुए हैं? तो आपको पता होगा कि क्या मैं कह रहा हूं।
यूनान में कथा है नारसीसस की कि उसने झील में झांककर देखा अपने को और मोहित हो गया... और अपने ही प्रेम में पड़ गया। फिर बड़ी मुश्किल में पड़ा क्योंकि खुद को खोजना बहुत मुश्किल है। उपाय कहां? सारी.जमीन खोज डाली उसने, लेकिन वह चेहरा फिर नहीं दिखाई पड़ता है, जिसके प्रेम में पड़ गया है। फ्रायड ने "नारसीसिस्ट" उन लोगों को कहा है, जो अपने ही मोह में पड़ जाते हैं। और हम में से करीब-करीब अधिक लोग नारसीसिस्ट होते हैं; व नारसीसस जैसे ही होते हैं। हम सब अपने ही प्रेम में पड़े होते हैं। कहते भला न हों, कहते भला न हों... बायरन जैसा आदमी सैकड़ों स्त्रियों के प्रेम में पड़ता है... कहता भला न हो, लेकिन मनस्विद कहते हैं कि वह सैकड़ों स्त्रियों के प्रेम में इसलिए पड़ता है कि हर बार हर स्त्री उसे कहे कि बहुत सुंदर हो। बस, इस आश्वासन के लिए। यह तलाश अपनी ही शक्ल को प्रेम करने की तलाश है। ह.जारों स्त्रियां कहें कि बड़े प्यारे हो। प्यार वह अपने को ही करता है, लेकिन यह हजार स्त्रियां कहें तो भरोसा गहरा हो जाये।
जब हम किसी दूसरे व्यक्ति को भी प्यार करते हैं तो अपनी ही धारणाओं को, अपने ही सौंदर्य की कल्पनाओं को, अपनी ही भावनाओं को, अपने ही आदर्शों को-हम अपने से ही घिरे हैं; सब नारसीसस हैं। लेकिन इस घिराव में इतनी वास्तविकता मालूम होती है कि लगता है, यह सब है।
और अगर एक तरफ से जाला टूट जाये तो मकड़ी तत्काल दूसरी खूंटी खोज कर जाला बुनना शुरू कर देती है। हम भी यही करते हैं। अगर एक व्यक्ति से हमारा मोह-भंग हो जाये, तो हम दूसरे व्यक्ति पर खूंटी बनाकर अपना जाला बुनना शुरू कर देते हैं; एक स्वप्न टूट जाये, हम तत्काल दूसरा स्वप्न, परिपूरक स्वप्न देखना शुरू कर देते हैं-लेकिन, कभी इस होश से नहीं भर पाते कि जो हम कर रहे हैं, उससे सत्य का कोई भी संबंध है?
निश्चित ही वह बिल्कुल असत भी नहीं है, नहीं तो हम कर ही न पाते; बिल्कुल सत भी नहीं है, अन्यथा हम दुख में न पड़ते। वह मध्य में है... वह असत है और सत जैसा भासता है। माया का यह अर्थ है।
"जो अनादि तो है, पर जिसका अंत हो जाता है।"
जो कभी प्रारंभ नहीं हुई, पर कभी समाप्त हो जाती है। स्मरण नहीं आता
कि माया कब प्रारंभ हुई! स्मरण नहीं आता कि हम कब इस जाल में पड़े! कोई उपाय नहीं खोजने का कि कब उतरे हम इस गहन अंधरे में! अनादि है; लेकिन अंत हो सकता है।
बुद्ध से कोई पूछता है कि दुख का जन्म कैसे हुआ? तो बुद्ध कहते हैं, उसकी तुम फिक्र छोड़ो, पूछो कि कैसे अंत हो सकता है। बुद्ध कहते हैं, यह बात ही छोड़ो कि प्रारंभ कैसे हुआ, तुम यही पूछो कि अंत कैसे हो सकता है। मैं अंत जानता हूं।
बुद्ध कहते हैं, एक आदमी गिर पड़ा है तीर की चोट खाकर; तीर छिदा है उसकी छाती में, मैं निकालने जाता हूं वह आदमी कहता है, पहले यह बताओ, यह तीर किसने मारा? क्यों मारा? कब मारा? कहां से मारा? यह जहर-बुझा है या नहीं? किस कर्मफल का परिणाम है?
बुद्ध कहते हैं, यह सब तू मत पूछ। मैं तुझे तरकीब बता सकता हूं कि तीर कैसे निकल सकता है; इसका अंत कैसे हो सकता है।

माया है अनादि। यह बहुत कीमत की बात है कि भारतीय मनीषा तथ्यों को स्वीकार करने में बहुत ही साहसी है। बहुत कम चिंतन की धाराएं इस बात को स्वीकार करने को राजी हो पाती हैं कि कुछ अनादि है, क्योंकि मन कहता है... कहीं न कहीं तो प्रारंभ हुआ ही होगा।... कहीं न कहीं तो प्रारंभ हुआ ही होगा!
इसलिए ईसाई कहते रहे कि जगत का प्रारंभ हुआ है जीसस से चार ह.जार चार वर्ष पहले। उन्होंने तारीख भी तय कर रखी थी। फिर बहुत मुसीबत में पड़े, क्योंकि विज्ञान ने खोजबीन की तो पता चला कि यह तो जमीन बहुत पुरानी है... कोई तीन अरब वर्ष पुरानी। मगर आदमी कैसा... कैसा अपने सपनों और तर्कों में जीता है! ईसाई धर्मगुरु बड़ी कठिनाई में पड़ गया जब अस्थियां मिल गयीं पशुओं की जो लाखों वर्ष पुरानी हैं; और जमीन से धातुएं मिल गयीं जो करोड़ों वर्ष पुरानी हैं; और पत्थर की चट्टानें मिल गयीं जिनका इतिहास अरबों वर्ष पुराना है। लेकिन ईसाई धर्मगुरु कह रहा था कि ईसा से चार ह.जार चार वर्ष पहले-मतलब आज से कोई पांच-छह ह.जार वर्ष पहले।
तो बड़ी कठिनाई हो गयी। सभ्यताएं मिल गयीं जो कि सात ह.जार वर्ष पहले अपनी पूर्णता के शिखर पर थीं। उल्लेख मिल गये जो कि लाख-लाख साल पुराने हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है जिन सितारों का, जिन तारों और नक्षत्रों का, वह पंचानबे ह.जार वर्ष पुराना उल्लेख है। अब क्या करें इसका? तो आदमी कैसा अपने को भ्रांत तर्क दे सकता है... ईसाई धर्मगुरुओं ने कहना शुरू किया कि परमात्मा ने पृथ्वी तो बनाई चार ह.जार चार वर्ष पहले ही, लेकिन उसने उसमें इस तरह की चीजें रख दीं जो कि धोखा देती हैं अरबों वर्ष का ताकि आदमी की आस्था की परीक्षा हो सके; उसकी श्रद्धा की परीक्षा हो सके। हड्डियां रख दीं... क्योंकि उसके लिए क्या असंभव है? जो सारी पृथ्वी बना सकता है, क्या वह एक ऐसी हड्डी नहीं बना सकता जो दस लाख साल पुरानी हो?-मालूम पड़े कि उस लाख साल पुरानी है? उसने ऐसी हड्डियां छिपा दीं ताकि आदमी की श्रद्धा की परीक्षा हो सके कि तुम श्रद्धावान हो या नहीं?
और श्रद्धा की परीक्षा तो तभी है, जब अश्रद्धा का सारा कारण उपस्थित
हो जाये और आदमी श्रद्धा करता ही चला जाये; वह कहे कि नहीं, चार ह.जार चार वर्ष पुरानी है। यह रेशनेलाई.जेशन है; यह अपनी भ्रांतियों को भी तर्क देने की हम चेष्टा करते रहते हैं।
यह जो भारतीय मनीषा है, यह एक अर्थ में हिम्मतवर है, यह तथ्यों को स्वीकार करती है। मनीषा कहती है कि इस जगत का कभी कोई आरंभ नहीं हुआ। इसलिए मौलिक रूप से हम अकेली ही कौम हैं पृथ्वी पर, जिसने बिगनिंगलेस-अनादि तत्व को स्वीकार किया है; अन्यथा कोई स्वीकार नहीं कर पाया। कहीं न कहीं शुरू तो होना है-भला हमें पता न हो; क्योंकि यह कैसे हो सकता है कि कोई चीज शुरू ही न हो... और हो? लेकिन यह तर्क का बहुत उथला रूप है। सच तो यह है कि कोई भी चीज अगर शुरू हो तो उसके शुरू होने कि लिए भी किसी चीज की पहले मौजूदगी.जरूरी है; अन्यथा शुरू भी कैसे होगी? प्रारंभ के लिए भी तो कुछ मौजूद चाहिये जिसमें प्रारंभ हो।
तो भारतीय मनीषा कहती है कि प्रारंभ के लिए भी तो पहले कुछ मौजूद चाहिये। इसलिए प्रारंभ की बात बकवास है; हम कभी भी प्रारंभ को रखें, कोई भी तारीख तय करें-आगे-पीछे, अरबों-खरबों वर्ष पहले-लेकिन जब भी प्रारंभ होगा वह प्रारंभ नहीं है,
क्योंकि प्रारंभ के लिए भी कुछ मौजूद चाहिये। और इसलिए हम स्वीकार करते हैं कि यह अस्तित्व जो है, अनादि है। क्योंकि प्रारंभ का जो तर्क है वह इनफिनिट रिग्रेस में गिरा देता है; उसका कोई अर्थ ही नहीं है। उसका कोई अर्थ नहीं है; वह बच्चों का खेल हो जाता है... कि हम कहते है अ ब से पैदा हुआ, और ब स से पैदा हुआ, और स द से पैदा हुआ-लेकिन अगर पैदा होने के लिए कोई .जरूरी ही है पहले, तो एक जगह जाकर हमें स्वीकार कर लेना होगा कि यह पूरी श्रृंखला कभी पैदा नहीं हुई। अन्यथा हम सिर्फ पीछे हटते जा सकते हैं, नये शब्द खोजते जा सकते हैं; और वे सभी शब्द प्रश्न को हल नहीं करेंगे-उत्तर तो दे देंगे, प्रश्न अपनी जगह खड़ा रहेगा। तो तर्काभास है।

अगर कोई कहता है कि पृथ्वी कहां खड़ी है? तो हम कहते हैं, हाथी पर खड़ी है, कि हाथी कछुए पर खड़ा है। लेकिन यह तर्काभास है, क्योंकि अगर कहीं न कहीं जाकर रुकना ही है, तो पृथ्वी पर ही रुक जाने में क्या हर्ज है कि पृथ्वी किसी पर नहीं खड़ी है। और अगर कहीं न कहीं जाकर हमें कहना ही पड़ेगा कि यह अनादि है इसका कोई प्रारंभ नहीं हुआ, तो इतने दूर जाने की, इतनी यात्रा की नासमझी क्या करनी! ऐसा ही सीधा सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि कुछ अनादि है, जो कभी प्रारंभ नहीं हुआ है।
लेकिन दूसरी और भी इससे भी खूबी की बात है कि जो अनादि है उसका अंत हो सकता है। यह तर्क के लिए और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि जिसका प्रारंभ न हुआ हो उसका अंत नहीं होना चाहिये, यह तर्क की सीधी व्यवस्था है। क्योंकि जिस डंडे का एक छोर नहीं है, उसका दूसरा छोर कैसा होगा? या तो दोनों छोर होंगे, या दोनों छोर नहीं होंगे। सीधा तर्क है; और साफ है।
गणित कहेगा कि गलत बातें कर रहे हैं। या तो कहो कि प्रारंभ हुआ है... तो अंत-ये दो छोर हैं। लेकिन तुम यह कह रहे हो कि एक ही छोर है-अंत, और प्रारंभ का छोर है ही नहीं। यह नहीं हो सकता।
हमको भी लगेगा।... हमको भी लगेगा; एक उदाहरण से कहूं तो शायद ख्याल में
आ जाये। पिछले सौ वर्षों में, जिसको हम सीधा अरस्तु का तर्क कहें-सीधा, स्ट्रेट लॉजिक; वह टूट गया है पिछले सौ साल में। दो हजार साल की अरस्तु की लंबी तर्क की परंपरा बुरी तरह खंडित हुई है। और खंडित हई है विज्ञान के द्वारा। और बड़े से बड़ी चोट पंहुची है अणु में प्रवेश से; क्योंकि जैसे ही भौतिक शास्त्र ने अणु में प्रवेश किया वैसे ही एक अनूठी घटना हाथ आयी, जिसको तर्क... समझाने में कठिनाई में पड़ गया।
वह घटना यह थीः कि जैसे ही अणु विस्फोट होता है तो उसके जो मौलिक कण हैं, इलेक्ट्रॉनस हैं, वे कण भी हैं और तरंग भी-एक ही साथ। यह नहीं हो सकता; स्ट्रेट लॉजिक के हिसाब से, सीधे तर्क के हिसाब से यह नहीं हो सकता। अरस्तु कहेगा, यह बकवास है। या तो कोई चीज कण होगी, और या कोई चीज तरंग होगी; तरंग और कण एक ही साथ कोई चीज कैसे हो सकती है? क्योंकि तरंग का मतलब ही होता है, कण नहीं है जो... लहर, और कण का अर्थ होता है, जो ठहरा है, रुका है, लहर नहीं है। लहर में कई कण हो सकते हैं, लेकिन कण में लहर नहीं हो सकती। सीधी बात है।
लेकिन बड़ी मुश्किल खड़ी हुई। फिजिसिस्ट भी दिक्कत में पड़े, क्योंकि पश्चिम का सारा विचार अरस्तु को आधार मानकर चलता रहा है; और दो ह.जार साल में उसे कभी तकलीफ नहीं हुई थी। सदा ठीक बैठा था अरस्तु, इसलिए वह पिता है तर्क का। लेकिन इस घटना ने, इन इलेक्ट्रॉनस ने अरस्तु को बड़ी मुश्किल में डाल दिया।
अब दो ही उपाय थेः या तो अरस्तु को मानो और कहो कि यह नहीं हो सकता, लेकिन यह हो रहा था... कण एक ही साथ तरंग भी था... या तो कह दो कि यह हो ही नहीं सकता, आंख बंद कर लो। लेकिन वैज्ञानिक आंख भी कैसे बंद कर सकता है? यह हो रहा था। तो उपाय यही था कि अरस्तु को कहे कि अब तुम चुप हो जाओ; हम तुम्हारी मानकर इतने दिन तक चले वह ठीक था, क्योंकि कोई तथ्य हमारी पकड़ में नहीं आया जो तुम्हें खंडित करता; आज एक तथ्य सामने आ गया है जो इनकार करता है तर्क को। अब हम तर्क को मानें या तथ्य को? अगर तर्क को मानें तो सारा विज्ञान आगे विकास के लिए कुंठित हो जाता है।
तो वैज्ञानिक ने हिम्मत की और उसने कहा कि अब हम अपना तर्क ही सुधार लें, क्योंकि सत्य को तो सुधारने का कोई उपाय नहीं है। अब हम क्या करें? यह तरंग और कण एक ही साथ है तो "कणत्तरंग"ः "क्वांटा"-नया शब्द गढ़ना पड़ा, जो मनुष्य की भाषा में कभी भी नहीं था। अभी हिंदी में अभी भी नहीं है। इसलिए हमको "कणत्तरंग" कहना पड़ रहा है। अंग्रेजी को एक नया शब्द मिल गयाः क्वांटा। उसका मतलब है, दोनों एकसाथ-एक ही चीज दोनों। अरस्तु का तर्क बड़ी मुश्किल में हो गया।
भारतीय भी आत्मिक खोज में ऐसे स्थानों पर पहुंचे जहां तथ्य तर्क के आगे पड़ गया। यह एक तथ्य वैसा तथ्य है... जहां भारतीयों ने कहा कि माना, तर्क ठीक कहता हैः जिसका प्रारंभ नहीं, उसका अंत नहीं हो सकता, लेकिन हमने अंत

करके देखा; हम मुश्किल में हैं। हमने भीतर अनुभव किया कि माया का अंत हो जाता है, और आरंभ नहीं है; अब हम क्या करें?
हमारी भी कठिनाई ठीक आंतरिक अनुभव में वैसी ही थी, जैसे पश्चिम में पिछले पचास साल में क्वांटा के संबंध में हुई। हमको भी समझ में आता था, और तर्क हमने भी अरस्तु से बहुत पहले विकसित कर लिया था। अरस्तु के तर्क को विकसित हुए केवल ढाई ह.जार साल हुए हैं, और पूर्वीय न्याय कम से कम सात ह.जार साल से अस्तित्व में है। हमें भी यह पता था कि यह तर्क का नियम है; भलीभांति पता था, लेकिन क्या... क्या किया जा सकता है? अगर तथ्य हमारे तर्क को न माने तो हम क्या करें? हमें अतर्क्य तथ्य को ही मानना पड़ेगा। यह तर्क अतथ्य है।
माया का कोई प्रारंभ नहीं-खोजते... खोजते... खोजते कितना ही हम खोजें, पता चलता है कि किसी भी प्रारंभ को हम मानें, वह प्रारंभ नहीं है; उसके होने के लिए भी किसी की मौजूदगी.जरूरी है। तब फिर प्रारंभ की खोज शुरू हो जाती है। लेकिन हम अपने भीतर जब उतरते हैं तो एक घड़ी आती है जहां हमारे प्रेक्षपण का पूरा जाल टूट जाता है और हम माया के बाहर हो जाते हैं। रोग का प्रारंभ नहीं है लेकिन अंत है, यह हमने तथ्य से जाना है; यह हमने अनुभव से जाना है। इसलिए उपनिषद हमारी तार्किक घोषणाएं नहीं हैं, हमारे अंतर्निरीक्षण के निष्कर्ष हैं। और जब भी तथ्य महत्वपूर्ण होता है तो तर्क को छोड़ देना पड़ता है; कोई... कोई उपाय नहीं है।
पश्चिम का मनोविज्ञान अभी एक और ऐसे तथ्य के करीब आया, जहो स्ट्रेट लॉजिक को टूट जाना पड़ता है। मैंने अभी भौतिकशास्त्र की बात की। पश्चिम का मनोविज्ञान भी जुंग के साथ एक नयी घटना पर उतर गया। सदा से हम मानते थे कि पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। लेकिन जुंग ने पाया कि हर पुरूष के भीतर भी स्त्री है और हर स्त्री के भीतर भी पुरूष है। उसने कहा, मात्रा का ही फर्क है। जिसको हम पुरूष कहते हैं वह साठ परसेंट पुरूष है और चालीस परसेंट स्त्री है, ऐसा समझें। जिसको हम स्त्री कहते हैं वह साठ परसेंट स्त्री है, चालीस परसेंट पुरूष है, ऐसा समझें। यह अंतर मात्रा का है, यह अंतर सीधा नहीं है। तो प्रत्येक पुरूष के भीतर स्त्री है और प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरूष है।
तो जुंग ने कहा कि हमें कहना चाहिये कि पुरानी सारी धारणा गलत हो गई
कि पुरूष पुरूष है और स्त्री स्त्री है। और किसी स्त्री को कहना कि क्या मर्दानी-या किसी पुरूष को कहना कि क्या स्त्रैण!-नासमझियां है। आदमी बायसेक्सुअल है। तो पुराने यौन का जो विभाजन था वह टूट गया।
और जुंग ने और मुश्किल में डाल दिया। उसेन कहा कि जैसे-जैसे मैं इसके गहरे अनुभवों में उतरा तो मैंने पाया कि यह अनुपात भी कोई निश्चित नहीं है; यह दिन में दस दफा बदल जाता है। हो सकता है, सुबह आप ज्यादा स्त्री हों- पुरूष होते हुए भी; और सांझ आप ज्यादा पुरूष हो जायें। और यह भी हो सकता है कि आज आप पुरूष हैं और कल आप स्त्री जैसा व्यवहार करें।
कभी आपने ख्याल किया? मैं एक आदमी को जानता हूं-बड़ा हिम्मतवर आदमी- उसके मकान में आग लग गयी तो वह छाती पीटकर और बाल खींचकर ऐसा रोने लगा, जैसा कि कोई स्त्री भी न रा सके। जब मैंने उसे रोते देखा तो यह मानना मुश्किल हो गया कि यह वही आदमी है! बिल्कुल स्त्री जैसा व्यवहार करने लगा। अगर हम पुराने सीधे तर्क को मानें तो हम कहेंगे कि कमजोरी का क्षण है, होश में नहीं है, लेकिन नया मनस्विद कहेगा कि नहीं, कमजोरी का क्षण नहीं है, अनुपात बदल गया... स्त्री प्रमुख हो गयी।
कभी हमने स्त्री को भी पुरूष की भांति लड़ते और संघर्ष में देखा है।
कभी कोई झांसी की रानी ठीक पुरूष जैसी है, तो हम उसे मर्दानी कहते हैं, लेकिन हम मानते हैं कि यह... यह कोई विशेष स्त्री है। ऐसा कुछ भी नहीं है। किसी भी स्त्री में यह प्रगट हो सकता है। अनुपात के परिवर्तन की बात है। और कई बार ऐसा होता है कि जब स्त्री मर्दानी होती है तो पुरूष से ज्यादा मर्दानी हो जाती है, उसका कारण है; क्योंकि उसकी मर्दानगी बड़ी फ्रेश और ताजी होती है; सदा की छिपी रहती है। उसका उसने उपयोग ही नहीं किया होता। जैसे कि कोई जमीन बोयी ही न गयी हो सैकड़ों वर्षों तक, तो बड़ी उर्वरा

हो जाती है। उसमें बीज डालें तो पहली तो फसल भारी होगी-सारे आसपास के खेत जो हजारों साल से अनाज देते रहे हैं, फीके पड़ जायेंगे। तो स्त्री अगर कभी मर्दानी होती है तो उसका जो मर्द है, उसके भीतर को जो पुरूष है, वह बहुत ताजा और प्रगाढ़ होता है, क्योंकि अप्रगट रहा है; और विस्फोट होता है। और कभी जब कोई पुरूष स्त्रैण हो जाता है तो उसकी कोमलता स्त्री भी नहीं छू पाती; वह स्त्री से भी ज्यादा स्त्रैण हो जाता है।
सीधा तर्क टूट गया मनस्विद के पास भी। उसने कहा कि तर्क तो ठीक कहता
है कि स्त्री स्त्री है, पुरूष पुरूष है; पुरूष स्त्री नहीं, स्त्री पुरूष नहीं; लेकिन तथ्य यह कहता है कि दोनों दोनों हैं। और हम पुरानी धारणा छोड़ें।
और जुंग कहता है कि हमारा आकर्षण ही इसलिए है; नहीं तो आकर्षण भी न हो। इसलिए एक बहुत अनूठी बात खोज में आयी है... और वह यह कि आप एक पुरूष होकर जो स्त्री की खोज में रहते हैं कि कोई स्त्री, जिसे हम प्रेम कर सकें, वह स्त्री आपके भीतर की स्त्री से जब मेल खाती है तभी प्रेम घटित होता है; नहीं तो प्रेम घटित नहीं होता।
और इसलिए आप, हो सकता है, एक स्त्री को प्रेम करें और कल पायें कि नहीं, घटित नहीं हो रहा है प्रेम; एक पुरूष को प्रेम करें और कल पायें कि तालमेल नहीं बैठता। तब हम नाराज होते हैं कि शायद यह पुरूष ठीक नहीं है, शायद यह स्त्री ठीक नहीं है। कुल कारण इतना है कि हमारी भीतर की स्त्री से तालमेल नहीं बैठ पा रहा, या भीतर के पुरूष से तालमेल नहीं बैठ पा रहा। हम सबके भीतर एक प्रतिमा है पुरूष की या स्त्री की, उसी की हम तलाश करते हैं। और जब उस प्रतिमा में कोई ठीक-ठीक बैठ जाता है तब हम कहते हैं कि हम प्रेम में पड़ गये।
प्रेम में पड़ना और कुछ भी नहीं है, उस भीतर की प्रतिमा का किसी के साथ ठीक मेल पड़ जाना-कि हम प्रेम में पड़ गये। लेकिन प्रत्येक बदल रहा है। इसलिए आज मेल पड़ सकता है, और कल शायद मेल न पड़े। इसलिए सुबह मेल पड़ता है, सांझ मेल न पड़े।
भारतीय मनीषा इस अनुभव पर एक दिन पहुंची कि जो प्रारंभ नहीं होता वह
भी अंत हो सकता है, और जो अंत नहीं होता वह भी प्रारंभ हो सकता है।
दूसरा हिस्सा भी आपको कह दूं-माया प्रारंभ नहीं होती, अंत होती है; मोक्ष प्रारंभ होता है, अंत नहीं होता।
मोक्ष का अर्थ हैः माया से उठ जाना। उसका प्रारंभ तो होता है; क्योंकि
एक दिन आप माया से उठते हैं, लेकिन फिर उसका अंत कभी नहीं होता। महावीर मुक्त हो गये, अब इस मोक्ष का कोई अंत नहीं होता।
तो भारतीय मन समझा है इस बात को कि माया ऐसा तथ्य है जो प्रारंभ नहीं होता, अंत होता है; मोक्ष दूसरा तथ्य है जो प्रारंभ होता है और अंत नहीं होता। और अगर हम इन दोनों को पूरा मिला लें तो वर्तुल बन जाता है। माया में जो अनादि है, वही मोक्ष में अनंत है। मोक्ष में जो आरंभ में है, माया में वही अंत है। माया का अंत मोक्ष का प्रारंभ है। वर्तुल निर्मित हो जाता है। यह वर्तुल आध्यात्मिक अनुभव है; यह तर्क नहीं है। और तर्क से जो इसकी तरफ जायेगा वह अपने हाथ-पैर बांधकर और चलने की कोशिश कर रहा है। तुम न चल पाये तो इसमें जुम्मा इसका नहीं है कि चलने की घटना नहीं घटती; वह हाथ-पैर बांधे हुए बैठा हुआ है... अपने ही तर्क से अपने हाथ-पैर को बांधे हुए बैठा है।
"जो न सत्, न असत्; न जिसे हम कह सकते है सत्-असत्; न हम कह सकते, दोनों;
न हम कह सकते, दोनों नहीं, ऐसी सबसे अधिक विकार-रहित दिखाई पड़नेवाली शक्ति को माया कहते हैं।"
और विकार-रहित दिखायी पड़ती है बिल्कुल; क्योंकि जब दिखाई पड़ती है तो विकार-रहित ही दिखाई पड़ती है, स्वप्न जैसी शुद्ध सत्य मालूम पड़ती है, वास्तविक मालूम पड़ती है। जब खो जाती है तो ऐसा नहीं कि विकार-सहित दिखाई पड़ती है; दिखाई ही नहीं पड़ती। जब तक दिखाई पड़ती है, शुद्ध, सत्य मालूम पड़ती है। जब नहीं दिखाई पड़ती, शुध्द असत्य हो जाती है। यह जो दोनों के बीच का अस्तित्व है माया का, इसे ही हम संसार कहते रहे हैं।

"उसका वर्णन इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता।"
इससे ज्यादा उसके बाबत कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इससे ज्यादा जानना
हो तो जानना पड़ता है। इतना काफी है कहने के लिए। इससे ज्यादा की कोई.जरूरत नहीं है। इससे ज्यादा संभव भी नहीं है। सूत्र पूरा हो गया। अब अगर ज्यादा जानना हो तो तो जाना जा सकता है।
"यह माया अज्ञानरूप तुच्छ और मिथ्या है।"
यह माया अज्ञानरूप है, तुच्छ है और मिथ्या है।
"पर मूढ़ मनुष्यों को तीनों काल में वास्तविक जान पड़ती है। और इसलिए ऐसा ही है, ऐसा कहकर उसका कोई रूप समझाया नहीं जा सकता है।"
इसमें तीन बातें हैंः अज्ञानरूप-हम नहीं जानते, इसीलिए माया दिखाई पड़ती है; हमारा न जानना ही उसका आधार है।
सांप दिखाई पड़ा है रस्सी में, उसका आधार क्या है?-क्या हम रस्सी को ठीक से नहीं जान पाये। ठीक सम्यक ज्ञान रस्सी का नहीं हुआ, इसलिए सांप दिखाई पड़ा है। अगर पास गये होते, प्रकाश जलाया होता, देखा होता, तो सांप खो जाता। सांप का अस्तित्व हमारे न जानने में है, रस्सी में नहीं।
इसे ठीक से समझ लें। सांप का अस्तित्व हमारे न जानने में है, रस्सी में नहीं; क्योंकि रस्सी तो हम जान लेंगे तब भी रस्सी ही होगी। नहीं जानते थे तब भी रस्सी ही थी। लेकिन बीच में एक क्षण आया, अंधेरा आया भ्रांति थी, हम दूर से ही देखकर भाग खड़े। अंधेरा था, धुंधलका था, साफ दिखाई नहीं पड़ता था, तब हमने जो सांप देखा, वह सांप कहां से आया? वह हमारे न जानने से और हमारी स्मृति से आया।
हमने पहले सांप देखा है। रस्सी में कुछ मेल पड़ गया उस सांप का। रस्सी वैसी दिखाई पड़ी जैसे सांप हो, और अंधेरा था, और रोशनी न थी, और हम भाग खड़े हुए-भय ने काम किया, स्मृति ने काम किया, ज्ञान की कमी ने काम किया, और हम भाग गये; तो जो नहीं था वह वास्तविक हो गया। भय ने काम किया, स्मृति ने काम किया-पुरानी स्मृति सांप की परदे पर फैल गयी, और अंधेरे ने काम किया; पास नहीं गये, अज्ञान ने काम किया-और रस्सी सांप हो गया।
कभी उल्टा भी हो जाता है; कभी सांप भी रस्सी हो जाता है। तुलसीदास को
हो गया था। गये हैं पत्नी को मिलने चोरी से। सामने के द्वार से नहीं पहुंच सकते हैं, क्योंकि अभी दिन ही तो नहीं हुआ पत्नी को गये हुए अपनी मां के घर। तो सामने किस मुंह से जायें? तो मकान के पीछे से चढ़ गये हैं। वर्षा की रात है, सांप लटका है, रस्सी समझकर चढ़ गये। यह भी हो जाता है; क्योंकि अगर रस्सी सांप बन सकती है तो सांप क्यों रस्सी नहीं बन सकता?
मगर यह भी कारण वही हैः स्मृति... कि रस्सी है; और इतनी जल्दबाजी चढ़ने की-कि फुर्सत नहीं है जानने की कि क्या है। भय कि कोई देख न ले, कोई पकड़ न ले। सुविधा नहीं है बहुत जांच-पड़ताल की। नहीं तो सामने के दरवाजे से ही चले गये होत। रोशनी लेकर भी जाने का उपाय नहीं है। क्योंकि चोर रोशनी लेकर नहीं जाते हैं। और भारी मोह, भारी माया पत्नी के मिलने कीत्तो सांप रस्सी हो जाता है।
बाकी सांप तो तब भी सांप ही है। तो अज्ञान आधार है।
"... तुच्छ और मिथ्या है।"
क्योंकि जो है वहां वस्तुतः, वह एकदम तुच्छ है, न कुछ है; हम उसे बहुत कुछ बना लेते हैं। वह हमारे ही सपने को हम देकर बहुत कुछ बना लेते हैं। इसलिए जब स्वप्न टूटता है तो व्यक्ति, जिस पर हमने स्वप्न को फैलाया था, एकदम फीका हो जाता है, बेरस हो जाता है। व्यक्ति वही है, सिर्फ हमने अपना स्वप्न वापिस ले लिया।
तुच्छ है जो चारों तरफ हमारे फैला हुआ है, जिस पर हम अपनी माया को खड़ा करते हैं, बिल्कुल तुच्छ है; न कुछ है। वह ठीक वैसे ही फिल्म के परदे जैसा। उसमें कुछ भी नहीं है, सिर्फ सफेद कोरा परदा है। लेकिन फिर बहुत रस चित्रों को फैलाकर हम देख लेते हैं, दीवाने हो जाते हैं लोग। पागल हो जाते हैंत्तस्वीरों से! और तस्वीरें भी केवल धूप और छाया का खेल हैं; केवल प्रकाश के वर्तुल हैं, और कुछ भी नहीं; उनसे भी दीवाने हो जाते हैं।

और अब तो थ्रीडायमेन्शनल फिल्म होती हैं; तीन आयामवाली होती हैं। तो
जब पहली दफा थ्री डायमेन्शनल फिल्म पैदा हुई तो बिल्कुल वास्तविक हो गया मामला। पहले दिन जब लंदन में थ्री डायमेन्शनल फिल्म दिखाई गयी, तो उसमें एक घुड़सवार घोड़े पर दौड़ता हुआ आता है और एक भाला फेंकता है। पूरा हॉल अपना सिर झुका लेता है भाले से बचने के लिए; क्योंकि वह थ्री डायमेन्शनल है, वह बिल्कुल दिखाई पड़ता है। उसमें लंबाई, चौड़ाई, गहराई सब है भाले में। और जब भाला फेंका जाता है तो बिल्कुल सर्राता हुआ, गुजरता हुआ मालूम पड़ता है कि अब गया करीब से। यह सोचने की फुरसत ही नहीं मिलती कि हम फिल्म में बैठे हैं। सिर झुक जाते हैं। वास्तविक भाले में और उस भाले में कोई फर्क नहीं रह जाता। लेकिन क्या गुजरा था वहां? कुछ भी तो नहीं था-तुच्छ! धूप और छाया का खेल था। लेकिन भ्रांति पैदा हो सकती है।
"और मिथ्या... "
मिथ्या का अर्थः जो नहीं है, बिल्कुल नहीं है, और बिल्कुल हुई मालूम पड़ती है।
मिथ्या, माया का पर्यायवाची है। माया शक्ति का नाम है; मिथ्या तथ्य का। माया से हम मिथ्या तथ्यों को पैदा करते हैं। "सूडो फेक्ट्स"-मिथ्या का मतलब होता है। माया शक्ति है झूठे तथ्यों को पैदा करने की। तो मिथ्या का निर्माण होता है माया से।
"पर मूढ़ मनुष्य को... "
मूढ़ का मतलब मूर्ख नहीं है। ध्यान रहे, मूढ़ का मतलब मूर्ख नहीं है; बुद्धिमान भी मूढ़ हो सकते हैं; महापंडित भी मूढ़ हो सकते हैं। मूढ़ का मतलब मूर्ख नहीं हैं। मूढ़ का मतलब है-माया में डूबा, मूढ़ हुआ, खोया, सम्मोहित। तो महापंडित भी मूढ़ हो सकता है। तुलसीदास महापंडित थे। उनके पंडित होने में कोई कमी न थी, लेकिन मूढ़ हो गये।
पश्चिम में वे कहते हैं, कहावत है... कि मां को जिस बेटे को बुद्धिमान बनाने में पच्चीस साल लगते, एक जवान औरत उसे दो सेकेंड में मूढ़ बना देती है। पच्चीस साल खराब करती है मां बुद्धिमान बनाने में-पढ़ाओ, लिखाओ, समझाओ-और उसे पता नहीं कि एक साधारण सी औरत आयेगी और मूढ़ बना देगी दो मिनट में; सब बुद्धिमानी रखी रह जायेगी।
मूढ़ का अर्थ मूर्खता नहीं है; मूढ़ का अर्थ, विमोहित होने की दशा। कोई
भी विमोहित हो सकता है। और जब कोई विमोहित होता है, तब सब बुद्धिमानी रखी रह जाती है। क्षण भर पहले बड़े बुद्धिमान थे, क्षण भर में बुद्धिमानी खो जाती है। जैसे एकदम से नशा छा जाये। जैसे एक आदमी होश में रास्ते पर चल रहा था, और फिर कोई अचानक उसको एक टिकिया दे दे और वह बेहोश हो जाये और पैर लड़खड़ाने लगें-ठीक ऐसा।
हमारे भीतर क्षमता है माया की शक्ति की, जैसे ही हम उसको मौका देते हैं फैलने का वह फैलकर अपना वितान फैला लेती है; हम उसके भीतर हो जाते हैं। माया के भीतर हो जाने का नाम मूढ़ता है।
तो तीन शब्द हुए हमारे पासः "माया"। माया का अर्थः शक्ति; "मिथ्या" मिथ्या का अर्थः इस माया से पैदा हुए तथ्य; और "मूढ़ता"ः इस माया से ढक गयी चेतना।
तो जब हम किसी को मूढ़ कहते हैं, तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह मूर्ख है; उसका केवल इतना अर्थ है कि वह अपने ही हाथों मूर्ख बन गया है। वह बुद्धिमान भी बन सकता है। और इसलिए यह.जरूरी नहीं है, मूढ़ता से मुक्त होने के लिए-दूसरा हिस्सा समझ लें-यह.जरूरी नहीं है कि एक आदमी बहुत बुद्धिमान हो। मूर्ख भी मूढ़ता छोड़ सकते हैं, क्योंकि बुद्धिमान भी मूढ़ हो सकते हैं। इसलिए कभी ऐसा भी होता है कि गांव का बिल्कुल गंवार और परम ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। उसका मतलब है, वह मूढ़ता के बाहर हो जाता है-बस। कबीर, या नानक, या तारण, या दादू, या फरीद... ये कोई पढ़े-लिखे लोग नहीं हैं... खुद मुहम्मद, जीसस-इन्हें किसी भी अर्थों में जानकार नहीं कहा जा सकता। इनके पास कोई सुंसस्कृत, शिक्षित चित्त नहीं है, बिल्कुल साधारण जन हैं। लेकिन अचानक मूढ़ता के बाहर छलांग लगा जाते हैं, और परम ज्ञानी हो जाते हैं।... परम ज्ञानी हो जाते हैं!

यह जो परमज्ञान है, यह मूढ़ता के मिटने से होता है; और जो पांडित्य है
वह मूर्खता के मिटने से होता है। तो मूर्खता मिटानी आसान है; जानकारी इकट्ठी कर ली तो मूर्खता मिट जाती है। नहीं जानने का नाम बहुत सी जानकारियों को हम मूर्ख कहते हैं। जान लेता है आदमी, कहते हैं पंडित है, लेकिन पंड़ित और मूर्ख सजातीय हैं। उनमें मात्रा का फर्क है। मूर्ख कम जानता है, पंडित ज्यादा जानता है। जानकारी की मात्रा उसकी ज्यादा है, जो अंतर है वह परिमाण का है, मात्रा का है; वह गुण का नहीं है, क्योंकि दोनों ही मूढ़ हो सकते हैं-कभी भी! कभी भी दोनों ही मूढ़ हो सकते हैं।
मूढता के विपरीत जो है उसका नाम ज्ञान है, और मूर्खता के विपरीत जो है उसका नाम पांडित्य है। मूढ़ता के विपरीत जो है उसका नाम प्रज्ञा है, उसका नाम वि.जडम है। इसलिए पांडित्य सीखा जा सकता है, ज्ञान सीखा नहीं जा सकता। पांडित्य उधार मिल जाता है, ज्ञान के उधार पाने का कोई उपाय नहीं।
पांडित्य केवल संग्रह है, ज्ञान आत्मक्रांति है।
मूढ़ता टूटे। मूढ़ता का क्या मतलब हैः मूढ़ता का मतलब है, माया के वशीभूत होने की वृत्ति; माया के प्रभाव में जाने की वृत्ति मूढ़ता है। माया के प्रभाव से मुक्त होने की क्षमता ज्ञान है।
"मूढ़ मनुष्यों को तीनों काल में माया सत्य मालूम पड़ती है।"
ये कौन से तीन काल हैं, जिनमें मूढ़ मनुष्य को माया सत्य मालूम पड़ती है? प्रत्येक वस्तु के होने के तीन क्षण होते हैं-न होने का क्षण, होने का क्षण, और फिर न हो जाने का क्षण। प्रत्येक वस्तु काल की तीन स्थितियों में से गुजरती है।
अभी मैंने आपको देखा, अभी मेरा आपसे कोई प्रेम नहीं है; यह एक स्थिति। देखा, प्रेम हुआ; यह दूसरी स्थिति। कल प्रेम खो गया, यह तीसरी स्थिति। ये तीन काल हुए प्रेम के-नहीं था, हुआ, अब नहीं है।
ऋषि कहता है कि मूढ़ जन तीनों स्थितियों में माया को वास्तविक समझते हैं। जब नहीं था तब वे समझते थे, प्रेम नहीं है-यह वास्तविकता थी। जब हुआ तब वे समझते हैं कि प्रेम है-यह वास्तविकता है। जब नहीं हो जाता तब वे फिर समझते हैं कि नहीं है-यह वास्तविकता है। और ये तीनों वास्तविकताएं नहीं हैं, ये तीन काल हैं। प्रत्येक मायिक अनुभव के, प्रत्येक मूढ़ता के तीन क्षण हैं-होने का, होने के पहले का, होने के बाद का। और तीनों स्थितियों में जो भी सामने होता है, आदमी मानता है, यही ठीक है।
इसका क्या अर्थ हुआ? इसका यह अर्थ हुआ कि जो व्यक्ति जब प्रेम है, अगर मानता है कि अब यह प्रेम है और वास्तविक है, तो जब प्रेम खो जायेगा तब मानेगा कि अब प्रेम नहीं है-इतनी ही गहराई से मानेगा, जितनी गहराई से उसने माना था प्रेम को; लेकिन यह न देख पायेगा कि जो नहीं हो गया, वह कहीं ऐसा तो नहीं है कि नहीं ही था? और जो अभी हो गया और क्षण भर पहले नहीं था, कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह पहले भी नहीं था और अभी सिर्फ भ्रांति हो रही है? इन दो क्षणों के बीच में होने की भ्रांति हो रही है? क्योंकि जो है, वह सदा है; और जो है, वह सदा रहेगा। जो आता है और जाता है, वह भ्रांत है, वह मायिक है; वह सिर्फ जादू है; वह केवल सम्मोहन है।
मूढ़ व्यक्ति तीनों काल में मानता है कि वास्तविक है। और इसलिए मूढ़ व्यक्ति को समझाना अति कठिन है कि माया क्या है। ऋषि कहता हैः
"ऐसी ही है, ऐसा कहकर उसे समझाया नहीं जा सकता।"
क्यों नहीं समाझाया जा सकता? क्योंकि जब उसका प्रेम भंग हो जाता है,
तब हम उससे कहें कि यह प्रेम नहीं था तो वह मान लेता है कि नहीं था, लेकिन कल उसका प्रेम फिर जन्मता है, तब उसको आप मनायें; वह कहेगा नहीं, यह है; वह न रहा होगा, लेकिन यह है।
और आदमी की वर्तुलाकार क्षमता है मूढ़ होने की। मैं एक आदमी के संबंध में सुना हूं कि उसने जीवन में आठ बार विवाह किया। एक लिहाज से अच्छा है कि इतने विवाह का मौका हो। तो इतनी बार मूढ़ता दोहराने से शायद ख्याल आ जाये। लेकिन क्षमता अनंत है आदमी की। बड़ी हैरानी हुई कि उसे कि जब उसने पहली दफा विवाह किया और छः महीने बाद विभ्रम हो गया, सब टूट गया, स्वप्न खंड हुआ, तो उसने सोचा कि मैंने गलत स्त्री चुन ली। दूसरा विवाह किया, छः महीने बाद

पता चला कि उसने फिर वैसी ही स्त्री चुन ली। यह दूसरी स्त्री थी, लेकिन फिर वैसी ही थी। उसने आठ बार जिंदगी में चुनाव किया, और हर बार वैसी ही स्त्री सिद्ध हुई। लेकिन फिर भी उसे यह ख्याल न आया कि चुननेवाला वही है, तो चुनाव अलग-अलग कैसे हो सकता है? यह हो कैसे सकता है? पहली स्त्री को चुनते वक्त भी मैं ही चुननेवाला था। मेरे चुनने का ढंग, मेरे देखने का ढंग, मेरे माया का फैलाव, मेरे सौंदर्य की धारणा, मेरे प्रेम की कल्पना दूसरी बार भी वही है, तीसरी बार भी वही है, लेकिन हर बार वह यह सोच रहा है कि गलत स्त्री मिल गयी; कभी यह नहीं सोच रहा है कि जो आदमी चुन रहा है, वह गलत के अतिरिक्त किसी चुन ही नहीं सकता है। वह... वह गलत ही उसमें फिट होती है, तालमेल खाती है।
तो मूढ़ता कि कठिनाई यह है कि वह तीनों काल में कभी यह नहीं देख पाती कि
यह मूढ़ता जो है, यह मेरे ही भीतर का जाल है जो मैं बाहर फैलाता हूं; दोष सदा दूसरे पर होता है। अगर मैं आपके प्रेम में गिर गया तो मैं यह नहीं देखता कि मैं गिर गया, मैं देखता हूं कि आप बड़े प्रेम के योग्य हैं, बड़े प्रेमपात्र हैं। फिर कल... यहीं से झंझट शुरू हो गयी, क्योंकि मैंने आपको प्रेमपात्र बना दिया। कहना मुझे इतना ही चाहिए था कि मैं जिस ढंग का आदमी हूं, तुम्हारे प्रेम में गिरता; तुमसे कुछ लेना देना नहीं है, तुम खूंटी हो, मैं कोट हूं; मैं तुम पर टंगता; तुमसे कोई लेना-देना नहीं है, तुम संदर्भ के बाहर हो; तुम न मिलते, मैं कोई दूसरी खूंटी खोजता... और मेरा कोट जैसी खूंटी पर टंग सकता है, मैं खोजता। तुम मिल गये, संयोग की बात है। तुम पर कोट मैंने टांग दिया।
लेकिन अभी जिसको मैं कह रहा हूं कि तुम बड़े योग्य, बड़े क्षमतावान, इसलिए मैं प्रेम कर रहा हूं, वह भी नहीं समझ रहा कि कल दिक्कत में पड़ेगा। अभी उसको कह देना चाहिए कि कृपा करो; मैं नहीं हूं योग्य, तुम को योग्य दिखाई पड़ता हूं, क्योंकि बहुत शीघ्र कल वह क्षण आयेगा, जब प्रेम उखड़ जायेगा और तुम कोट को उतारने लगोगे खूंटी से, तब भी तुम कहोगे कि तुम योग्य सिद्ध नहीं हुए इसलिए कोट को उतार रहा हूं।
लेकिन हमारा भी मन... जब हमसे कोई कहता है कि आप बड़े प्रेम के सागर हैं, इसलिए हम आपको प्रेम कर रहे हैं, तब हमारा मन भी इनकार करने को नहीं होता; क्योंकि हम भी अपनी मूढ़ता में प्रसन्न होते हैं कि बहुत ठीक, क्योंकि खूंटी कोई नहीं बनना चाहता। हमको लगता है, हम प्रेम के सागर हैं, इसलिए प्रेम कर रहा है यह। लेकिन हमको पता नहीं कि हम झंझट मोल ले रहे हैं। कल यह आदमी, जब उखड़ जायेगा इसका दिल इस खूंटी से, और कोट उतारने लगेगा, तब यह कहेगा, एक सड़ी खूंटी है यह; इस पर हम कोट नहीं टांग सकते। तब हमें पीड़ा होगी, लेकिन दोनों हालतों में बात वही कह रहा है वह, हमको जिम्मेवार ठहरा रहा है; वह खुद जिम्मेवार नहीं है।
मूढ़ता सदा दूसरे को जिम्मेवार ठहराती है; ज्ञान सदा अपने को जिम्मेवार मानता है।
इसलिए अगर आप बुद्ध जैसे आदमी को जाकर गाली दें, तो भी बुद्ध जानते हैं कि इस आदमी को खूंटी की तलाश है; आप उनके चरण छुएं, तो भी जानते हैं कि इस आदमी को खूंटी की तलाश है। लेकिन अपने को वे महत्तवपूर्ण नहीं बनाते दोनों में कभी भी। इसलिए जब आप पैर छूते हैं तब भी वे पत्थर हैं, और जब आप गाली दे आते हैं तब भी वे पत्थर हैं; क्योंकि वे मानते हैं, यह तुम्हारी .जरूरत है; इससे उनका कोई लेना-देना नहीं है। यह सिर्फ संयोग है कि वे किनारे पड़ गये और आप मिल गये। यह बिल्कुल संयोग है। इसलिए जब आप कहते हैं कि आप बहुत बुरे आदमी हैं, तब भी वे सुन लेते हैं कि ठीक है। तुम जैसे आदमी हो, उसको मैं बुरा दिखाई पड़ता हूं, बात खतम हो गयी। इससे ज्यादा कुछ इसमें प्रयोजन नहीं। जब आप कहते हैं कि आप परमज्ञानी हैं, तब वे समझते हैं; वे कहते हैं, ठीक है; तुम जैसे आदमी हो, उसको मैं परमज्ञानी दिखाई पड़ता हूं। यह तुम्हारी आंख है; न मैं इसमें गौरव लेता और न निंदा लेता हूं।
लेकिन हमें बड़ी कठिनाई होती है ऐसे आदमी के साथ... हमें बड़ी बेचैनी होती हैं; क्योंकि ऐसा आदमी बार-बार हमको अपने पर ही फेंक देता है। और

हमारा मन होता है किसी पर लाद जायें, किसी पर सवार हो जायें, किसी के कंधे पर बैठ जायें। वह हमको बार-बार वापिस भेज देता है।
इसलिए इस तरह का आदमी, जब तक हमारी मूढ़ता है, हमारे लिए दुख का ही कारण होता है। ऐसा आदमी भी, बुद्ध जैसा आदमी भी हमारे दुख का ही कारण है, जब तक हमारी मूढ़ता है। वह कुछ भी कहे, वह कुछ भी करे, हम अपनी मुढ़ता से जो निकालेंगे वह दुख होने वाला है। जब तक हम मूढ़ता तोड़ने को तैयार न हों तब तक हमें बुद्ध का वह रूप ही नहीं दिखाई पड़ सकता; क्योंकि जो हम देख रहे हैं वह हमारा फैलाव है।
इसलिए इससे ज्यादा मूढ़ आदमी से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि ऐसी स्थिती है-इससे जागो, इसे पहचानो, इसे खोजो, इसके प्रति होश से भर जाओ।

सर्वसार उपनिषद
पंद्रहवां प्रवचन

नेति-नेति

नैव भवाम्यहं देहो नैन्द्रियाणि दशैवतु।
न बुद्धिर्न मनः श 9 वन्नाहंकारस्तथैव च।। 16।।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो बुद्धयादीनां हि सर्वदा।
साक्ष्यहं सर्वदा नित्यश्चिन्मात्रोहंऽन संशयः।। 17।।

मैं उत्पन्न नहीं होता हूं, मैं दस इंद्रियां नहीं हूं, बुद्धि नहीं हूं,
मन नहीं हूं, और नित्य अहंकार भी नहीं हूं।
मैं तो सदैव बिना प्राण और बिना मन के शुद्ध स्वरूप हूं,
बिना बुद्धि का साक्षी हूं और हमेशा चित स्वरूप हूं, इसमें संशय नहीं।

मैं जब मिट जाता हूं तभी उस मैं की चर्चा हो सकती है जो वस्तुतः मैं हूं।
एक तो मैं है हमारा जिससे हम परिचित हैं। वह मैं सिवाय भ्रांति के जोड़ों के ओर कुछ भी नहीं। वह मैं हमारा ही निर्माण है। उस मैं को हमने ही बनाया है, हम ही पालते-पोसते हैं, पोषण देते हैं, समृद्ध करते हैं, शक्तिशाली बनाते हैं। और चूंकि वह झूठ है, हमारा निर्माण है, इसलिए उससे पीड़ा भी पाते हैं... संताप भी, चिंता भी; क्योंकि जो स्वभाव नहीं है वह बोझ बन जाता है।
वैज्ञानिक कहते हैं कि इस पृथ्वी पर कोई दस ह.जार वर्ष पहले तक अति विशालकाय पशुओं का साम्राज्य था। हाथी उनके समक्ष कुछ भी नहीं हैं। हाथी से दस-दस गुने बड़े विशालकाय पशु पृथ्वी पर थे। पर बड़ी कठिनाई, जो खोजते रहे हैं जीवन के विकास को, उनको रही है कि अचानक वे सारे पशु खो कैसे गये? ऐसा कोई पृथ्वी में कारण नहीं खोज में आता कि कोई इतनी बड़ी दुर्घटना घटी हो कि उनकी जाति का नाममात्र शेष न रहा। कोई भूकंप हुआ हो, कोई ज्वालामुखी पूरी पृथ्वी पर फैल गया हो, तो भी पूरा विनाश हो जाना मुश्किल था।
क्या हुआ? अभी-अभी, विगत पचास वर्षों में नया सूत्र उनके ख्याल में आया, और वह यह कि उन पशुओं ने अपने शरीर इतने बड़े कर लिये कि उस बोझ में ही दबकर मर गये। उनकी मृत्यु का कोई बाहरी कारण नहीं समझ में आता। लेकिन शरीर ही इतना बड़ा हो गया-शरीर जो कि जीने का साधन है, अगर सीमा के बाहर चला जाये तो मृत्यु का कारण बन जाता है। उस बोझ को खींचना ही कठिन हो गया; और फिर उस बोझ को भरना भी कठिन हो गया, क्योंकि उस बोझ की भूख की मांग भी बड़ी हो गयी। और वह रोज बढ़ती ही चली गयी बढ़ते शरीर के साथ। तो शरीर तो सुरक्षा है, और जीवन का वाहन है, लेकिन सीमा तक। सीमा के बाहर वही प्राणघाती हो जाता है। यह मैंने इसलिए कहा कि ख्याल में आ सके कि अहंकार, हमारा मैं भी जीवन
की व्यवस्था का अनिवार्य अंग है। लेकिन वह इतना बड़ा होता चला जाता है कि हम भूल जाते हैं कि जिसे हमने वाहन की तरह चुना था, हम खुद ही अब उसके वाहन हो गये हैं; जिसका हमने उपयोग करना चाहा था, वह स्वयं ही अब हमारा उपयोग कर रहा है; और जिसे हमने अपनी रक्षा के लिए निर्मित किया था, अब हम स्वयं उसकी रक्षा करने में ही जीवन को समाप्त कर रहे हैं। लेकिन कब सीमा पार हो जाती है, पता लगाना बहुत मुश्किल पड़ता है; कब मालिक नौकर का भी नौकर हो जाता है, पता लगाना मुश्किल है; ओर कब नेता अपने अनुयायियों का भी अनुयायी बन जाता है, इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। लेकिन यह घटना घटती है। और घटती है इस कारण कि इसकी भीतरी व्यवस्था में घटना के घटने का बीज छिपा है।
जैसा मैंने कहा कि कब नेता अपने अनुयायी का भी अनुयायी हो जाता है, यह पता लगाना मुश्किल पड़ता है; क्योंकि नेता होने की कोशिश में ही उसे अनुयायियों को तृप्त करना पड़ता है। और तृप्त करने की कोशिश में ही उसे अनुयायियों के पीछे चलना पड़ता है-आगे चलने के लिए पीछे चलना पड़ता है। जिन

अनुयायियों के आगे चलना है, अगर उनके पीछे आप न चले, तो वे कभी आपको नेता मानने को राजी न होंगे। बड़ी मजेदार घटना घटती हैः बनना है नेता, इसलिए पीछे चलना पड़ता है। नेता बनने की प्रक्रिया में ही नेता खो जाता है।
जिस पर हम राज्य करते हैं उसकी भी हमें तृप्ति करनी पड़ती है। और धीरे- धीरे कब हम उसकी तृप्ति करते करते उसके गुलाम हो जाते हैं, सीमारेखा का पता भी नहीं चलता है।
मैं के साथ यही होता है।.जरूरत है उसकी। जैसा मैंने पीछे कहा, जीवन की व्यवस्था के लिये.जरूरत है मैं की-फंक्शनल; व्यवस्थागत! ल्ेकिन मैं का कोई अस्तित्व नहीं है; कामचलाऊ है। कामचलाऊ का मेरा मतलब है... कि प्रतीक है, इशारा है।
जैसे हमारे नाम हैं-एक का नाम राम है, एक का नाम कृष्ण है। नाम तो कोई लेकर पैदा नहीं होता; नाम तो सरासर झूठ हैं। लेकिन बिना नाम के काम चलाना बहुत मुश्किल है। इस बड़ी पृथ्वी पर तीन अरब लोग हैं, अगर हम सब बिना नाम के जीने की कोशिश करें तो जीना बहुत मुश्किल हो जाये-पता लगाना ही मुश्किल हो जाये कि कौन कौन है! तो लेबल लगाने पड़ते हैं। तो लेबल झूठे हैं, फंक्श्नल हैं।
जब मैं कहता हूं कि व्यवस्थागत हैं, तो उसका मतलब यह है कि सुविधा होती है; कनवीनियंस उससे पैदा हो जाती है... हम जानते हैं कि यह आदमी कृष्ण है, वह आदमी राम है-यद्यपि न कोई कृष्ण है, न कोई राम है, नाम बिल्कुल झूठे हैं। और जन्म हम बिना नाम के लेते हैं; और जब हम मरते हैं तब भी बिना नाम के मरते हैं। नाम भी हम ग्रहण करते हैं पृथ्वी पर, और नाम को हम पृथ्वी से हटते वक्त छोड़ भी जाते हैं; मगर बीच में उपयोगी होता है।
उपयोगिता अगर समझ में हो तो कोई हर्जा नहीं है। लेकिन आपको पता है कि
कब आप भूल जाते हैं कि नाम उपयोगिता है। आदमी नाम के लिए मरने को राजी हो जाता है, तब मुश्किल खड़ी होती है। वह कहता है, नाम का सवाल है; जान दे देंगे लेकिन नाम नहीं गंवायेंगे। तब पता चलेगा कि उपयोगिता नहीं रही नाम की। आप उपयोगी हो गये नाम के लिये; अगर नाम बचे तो आप बचेंगे, नाम गया तो आप चले जायेंगे।
राम अमरीका में थे-स्वामी रामतीर्थ। एक सांझ लौटे और बहुत हंसते हुए लौटे तो उनके मित्रों ने पूछा, क्या हुआ? किस बात पर हंसते हैं? तो उन्होंने कहा, कुछ लोग रास्ते पर मिल गये और राम को बहुत गालियां देने लगे! हम हंसे खूब, क्योंकि वे इस धोखे में ही राम को गालियां दे रहे थे कि जैसे मैं राम हूं। पर जो लोग थे, अपरिचित थे, नये थे, उन्होंने कहा, आप क्या कह रहे हैं? आप राम नहीं हैं? आप राम हैं ही। और अगर उन्होंने गालियां दीं तो आपको ही गालियां दीं।
तो रामतीर्थ ने कहा, अगर नाम उपयोगिता न हो और मैं ही नाम बन जाऊं तो गालियां मुझे पड़ती हैं। फिर गालियों से टकराना भी पड़ेगा। लेकिन हम इस बात को भलीभांति जान गये कि नाम एक उपयोगिता है। और राम की जगह मैं कल कृष्ण हो जाऊं तो मुझमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा, नाम ही बदलेगा; मैं वही रहूंगा। मैं हजार नाम रख सकता हूं। नाम ऊपरी है। नाम को दी गयी गाली मुझको दी गयी गाली नहीं है। मैं नाम से ज्यादा हूं, और नाम से भिन्न हूं।
अगर ऐसा स्मरण मैं के संबंध में भी आ जाये तो मैं भी एक उपयोगिता है। इसलिए एक बड़े मजे की बात है, हमारे ख्याल में नहीं आतीः दूसरे को तो हम नाम लेकर पुकार लेते हैं, अगर हम अपने को भी नाम लेकर पुकारें तो भी असुविधा होगी; क्योंकि अगर मैं अपना ही नाम लेकर पुकारूं तो ऐसा लगेगा कि शायद मैं किसी दूसरे को पुकार रहा हूं। इसलिए स्वयं को पुकारने के लिये जो सर्वसामान्य नाम है, वह है "मैं"। दूसरे को पुकारने के लिए नाम का उपयोग कर लेते हैं, खुद को पुकारने के लिए "मैं" को उपयोग कर लेते हैं। इसलिए एक ही "मैं" से काम चल जाता है सभी का, खुद को पुकारने का। और जब भी आप "मैं" को उपयोग करते हैं, तब हम जान लेते हैं कि आप अपनी तरफ इशारा कर रहे हैं; जब नाम का उपयोग करते हैं तो दूसरे की तरफ इशारा कर रहे हैं।
इसीलिए वे राम के आसपास के लोग थोड़ी दिक्कत में भी पड़ गये, क्योंकि रामतीर्थ जब भी बोलते थे तो "मैं" का उपयोग नहीं करते थे। वे कहते थे, राम

एक गली से जा रहा था, कुछ लोग गाली देने लगे। वे कहते थे कि राम एक गांव में बोलने गया था; वे ऐसा नहीं कहते थेः मैं बोलने गया था। तो सुनकर ऐसा ही लगेगा कि वे किसी और के बाबत बात कर रहे हैं।
मैं में ऐसी भी कोई खराबी नहीं है कि उसका उपयोग करना पाप और अपराध हो- व्यवस्थागत है, सुविधापूर्ण है। इतना स्मरण में आ जाये कि "मैं" सुविधा है, सत्य नहीं; तो "मैं" से छूटने में कौन सी कठिनाई है? जब लेबिल हमारी आत्मा बन जाते हैं तभी कठिनाई होती है; जब लेबिल ऊपर ही लगे होते हैं तो क्या कठिनाई? लेकिन हम तो लेबिल से ऐसे चिपकते हैं कि हम चारों तरफ लेबिल चिपका लेते हैं-सब तरफ, लेबिल ही लेबिल रह जाते हैं। आखिर में आदमी का पता लगाना मुश्किल होता है कि आदमी कहां है। सब उपयोगी लेबिल चिपक जाते हैं। तो उपयोगिता की जगह कभी-कभी लेबिल खतरा ही ले आते हैं उलटा।
सुना है मैंने, नसरूद्दीन एक बड़े दफतर में काम करता है। कांच का कुछ सामान भेजा जाने को है। तो मालिक ने उसको कहा है कि इस पेटी के ऊपर लगा देना कि यह ऊपर का हिस्सा है, इसे नीचे न किया जाये... लेबिल लगा देना। उसने लेबिल लगा दिया, पेटी भेज दी गयी, तब मालिक ने पूछा कि लेबिल लगाना भूल तो नहीं गये? नसरूद्दीन ने कहाः कहते हो, भूल गये! सब तरफ लगा दिये-कहीं से भी देखें, दिखाई पड़ेगा।
हम भी ऐसे ही हैं। वह लेबिल उपयोगी हो सकता था अगर एक तरफ होता तो-कि
यह ऊपर का हिस्सा है, पेटी सम्हालकर उठाना। नसरूद्दीन ने सब तरफ लगा दिये हैं, ताकि कहीं से भी दिखाई पड़े, कोई उपद्रव भी नहीं। अब यह पेटी सम्हाली ही नहीं जा सकती, क्योंकि इसमें सभी तरफ ऊपर है।
हमारे आसपास भी उपयोगिताएं ऐसी ही आत्मघाती हो जाती हैं; काम कर सकती थीं, लेकिन फिर नाम ही नाम रह जाता है... और जिसको नाम दिये हैं उसका तो पता ही खो जाता है। और दूसरों को यह भ्रांति होती तो ठीक थी, यह भ्रांति स्वयं को ही हो जाती है; यह भ्रांति स्वयं को भी हो जाती है। और ऐसा ही नहीं कि ऊपर-ऊपर होती है, गहरे प्रवेश कर जाती है।
यहां इतने हम लोग बैठे हैं, हम सब आज रात यहीं सो जायें, पास में आकर कोई चिल्लाये "राम", तो किसी को सुनाई नहीं पड़ेगा, सिवाय उस आदमी के जिसका नाम राम है। इसका मतलब हुआ कि नींद तक में उसे ख्याल है कि मैं राम हूं। बाकी सब लोग पड़े रहेंगे; उनको पता भी नहीं चलेगा कि कोई बुला रहा है। लेकिन यह आदमी नींद के भी गहराई में, स्वप्नों में डूबा हुआ भी-हो सकता है सपने भी न चलते हों, प्रगाढ़ निद्रा में पड़ा हो, तो भी राम मैं हूं, यह जानता है। इतने गहरे उतर जाती है बात! छाती में तीर की तरह चुभती चली जाती है-नाम
भी ऐसा प्रवेश कर जाता है; पद भी ऐसा प्रवेश कर जाता है; धन भी ऐसा प्रवेश कर जाता है।
यह जो रूप हमारा निर्मित होता है, इस सबके जोड़ का नाम अहंकार है-सबका। नामहै, धन है, पद है, प्रतिष्ठा है, इन सबका जोड़ हमारा अहंकार है। ऋषि ने पहले इस अहंकार के विसर्जन की बात की; इस माया को तोड़ने की बात की। और यह बहुत मजे का सूत्र है-अचानक...
"मैं" से छलांग लगानी "तू" पर, "तू" से लगानी "वह" पर, "वह" से छलांग लगानी सत्ता मात्र में-ब्रम्ह की, माया की बात... और फिर सूत्र आता हैः "मैं उत्पन्न नहीं होता हूं, मैं दस इंद्रियरूप नहीं हूं, बुद्धि नहीं हूं, मन नहीं हूं; और नित्य अहंकार भी नहीं हूं।"
एक यात्रा शुरू की थी... जो "मैं" से शुरू हुई थी, "तू" को पार किया था, "वह" पर पहुंचे थे, फिर शुन्य सत्ता आ गयी थी। फिर दुबारा इस जिस मैं की अब चर्चा है यह वही मैं नहीं, वह तो गया; वह बात खो गयी। अब हम एक नये मैं के उदघाटन को उपलब्ध होते हैं। यह वह मैं है, जो तभी दिखाई पड़ता है, जब जिस मैं को हम जानते हैं, उसे विसर्जित कर देते हैं।
इस मैं का अर्थ है आत्मा। इस मैं का अर्थ अहंकार नहीं, इस मैं का अर्थ
है आत्मा। इस मैं का अर्थ हमारी निर्मित नहीं; हमारा यश, पद, धन, संस्कार, सभ्यता, शिक्षा नहीं; इस मैं का अर्थ है हमारा अस्तित्व, हमारा होना। ध्यान रहे, जिस मैं को हमने छोड़ा, जिस मैं को छोड़ने का विचार किया, जिस मैं से छलांग लगाई, वह था हमारा करना; यह है हमारा होना। वह था हमारा डूइंग,

यह है हमारा बीइंग। तो करने और होने के थोड़े फर्क को समझ लें तो इस दूसरे मैं की झलक स्पष्ट हो सके।
कुछ तो है जो हम करते हैं, अगर न करें तो वह नहीं होगा। जैसे अगर मैं शिक्षा ग्रहण न करूं तो मैं शिक्षित नहीं हो पाऊंगा। अगर मैं एक भाषा बोलना न सीखूं तो वह भाषा मुझे नहीं आयेगी। अगर मैं वैज्ञानिक बनने की चेष्टा करूं तो वैज्ञानिक बन जाऊंगा, अगर मैं लुहार बनने की चेष्टा करूं तो लुहार बन जाऊंगा-मैं कुछ करूं तो बन पाऊंगा; लेकिन कुछ मेरे भीतर ऐसा भी है कि मैं कुछ भी न करूं तो भी मैं हूं-कम से कम मेरा होना तो मेरे करने के बाहर है; मेरा होना मेरा कृत्य नहीं है। मेरे सब कृत्यों के पहले मैं मौजूद हूं, नहीं तो करेगा कौन?
बच्चा पैदा होता है मां के पेट में। तो मां के पेट में तो उसे श्वास भी नहीं लेनी पड़ती; इतना भी करना नहीं होता। हृदय भी उसका नहीं धड़कता; इतना भी करना नहीं होता। लेकिन एक बहुत मजे की बात आप ख्याल ले लेंः बच्चा "होता" है-श्वास भी नहीं लेता, हृदय भी नहीं धड़कता, फिर भी होता है। उसका बीइंग है; उसका अस्तित्व है; आत्मा पूरी तरह मौजूद है।
शरीरशास्त्री इस सवाल को निरंतर उठाते रहे हैं कि हम कब से जीवन का प्रारंभ मानें? ... कब से? अगर हम समझते हैं कि श्वास के टूटने से जीवन टूटता है, तो श्वास के शुरू होने से जीवन शुरू होता है। तो बच्चा जब पैदा होकर पहली चीख मारता है, और पहली श्वास लेता है-चीख मारने का मतलब केवल इतना ही है कि चीख वह धक्का है, जिस धक्के के साथ बच्चे की हृदय की धड़कन और श्वास की गति शुरू होती है; यंत्र काम शुरू करता है। बच्चे ने पहली श्वास ली उसका यह पहला काम है; पहली चीख मारी यह उसका पहला काम है।
लेकिन सवाल यह है कि इस चीख मारने के पहले भी बच्चा था या नहीं? अगर नहीं था तो चीख कौन मारेगा? और अगर नहीं था तो श्वास पहली भी कौन लेगा?- था... अन्यथा यह घटना भी नहीं घट सकती। तो वह जो होना है श्वास लेने के पहले भी, वह बीइंग है; वह हमारी सत्ता है, वह हमारी आत्मा है।
इसको दूसरी तरफ भी फैला लें। इस मामले में शायद शरीरशास्त्री मुझसे राजी भी हो जाये कि यह बात ठीक है, संगत है... कि अगर श्वास लेने के पहले वहां मौजूद ही न हो अस्तित्व तो श्वास कौन लेगा? लेकिन दूसरी तरफ शरीरशास्त्री को और मुसीबत होगी। अब मैं कहता हूं कि जब श्वास टूट जाती है तब भी वह तो मौजूद ही रहेगा, जो श्वास लेने के पहले था; उसका श्वास के टूटने से क्या लेना-देना? वह श्वास के बिना भलीभांति था। तो श्वास के बिना भलीभांति हो सकता है।
आपको पहला तर्क बिल्कुल आसानी से समझ में आ जायेगा कि श्वास लेना कौन, अगर पहले मौजूद न हो; दूसरा तर्क भी इतना ही महत्वपूर्ण है कि श्वास छोड़ेगा कौन, अगर भीतर कोई श्वास के अतिरिक्त मौजूद न हो। लेकिन दूसरा इतनी आसानी से समझ में नहीं आयेगा। लेकिन पहला अगर आ जाता है तो दूसरे में कोई अड़चन नहीं है।
तो हमारे भीतर एक विभाजन को स्पष्ट कर लेंः कुछ तो है जो हमने किया है; इसलिए जो आदमी जितना करता है उतना अहंकारी हो जाता है। तब तो यह भी कहा जा सकता है कि धन्य हैं वे जो परम आलसी हैं, क्योंकि उनके पास बहुत करना तो होता ही नहीं, जो वे अहंकार बना लें। लेकिन मन बहुत कुशल है; वे अपने आलस्य को ही अपना करना समझ सकते हैं। वे कहते हैं कि हम विश्राम कर रहे हैं।
जो भी हम करते हैं उससे हम अपने मैं को मजबूत करते हैं। तो एक तो हमारे करने का जोड़ है-चुकता जोड़। इसलिए अहंकार रोज बढ़ता जाता है... बच्चे सरल होते हैं और बूढ़े जटिल हो जाते हैं। उसका कोई और उम्र से संबंध नहीं है। अहंकार बूढ़े के पास निश्चित ही बड़ा होता है। इसलिए बूढ़े क्रोधी, झगड़ैल, दुष्ट-ये सब हो जाते हैं। ये सरलता से हो जाते हैं, इसमें कोई ऐसा नहीं है कि जो अभी बच्चे हैं वे कल नहीं हो जायेंगे; वे कल ऐसे ही हो जायेंगे। उसका कारण हैः उम्र से कोई वास्ता नहीं है इसका; इसका वास्ता है, करने
का संग्रह बड़ा होता चला जाता है। बूढ़े ने इतना किया है जिसका हिसाब नहीं। इसलिए बूढ़े सदा अपने करने की ही बात करते रहते हैं कि मैंने यह किया... मैंने यह किया... मैंने यह किया। बच्चे करने की क्या बात करें, अभी कुछ किया

ही नहीं है! अभी सिर्फ हैं... श्वास ली है, हाथ-पैर हिलाये हैं; इससे कुछ बड़ा अहंकार निर्मित नहीं होता। इसलिए बच्चे सरल मालूम पड़ते हैं। सरल होने का कुल मात्र कारण इतना है कि अभी अहंकार को विकसित होने का मौका नहीं मिला। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि जब कोई बूढ़ा बच्चे जैसा हो जाता है तो यह परम विकास है। लेकिन हालतें उलटी हैंः बच्चे बूढ़ों जैसे हो जाते हैं, बूढ़े बच्चों जैसे नहीं हो पाते... बच्चे बूढ़ों जैसे हो जाते हैं, बूढ़े बच्चों जैसे नहीं हो पाते! अगर बूढ़ा बच्चे जैसा हो जाये यह परम विकास है, तो बच्चों का बूढ़ों जैसा हो जाना परम ह्नास है, परम पतन है। मगर यह हो रहा है। हम सब इस कोशिश में रहते हैं कि बच्चा जल्दी से अहंकार को पकड़ ले; बच्चा भी इस कोशिश में रहता है कि जल्दी से अहंकार को पकड़ ले। तो कभी-कभी तो बच्चा ऐसी कोशिशें करता है, जो ऊपर से आपको लगती हैं कि यह समझ में नहीं आतीं, लेकिन अगर गहरे उतरें तो पता चले।
मैं एक दिन एक पोस्ट-ऑफिस के पास से गु.जरता था, तो एक छोटे से बच्चे को मैंने सिगरेट पीते देखा। बहुत छोटा बच्चा! और उसने एक दो आने की मूंछ खदीरकर भी लगा रखी थी। सुबह सूरज निकला नहीं था, बस निकलने के करीब ही था; और रास्ते पर हम दोनों ही थे। उसने मुझे देखा तो वह जल्दी से एक वृक्ष के पीछे छिप गया। मैं गया, मैंने उसको कहा... तो उसने जल्दी से अपनी मूंछ निकालकर अपनी सिगरेट बुझा ली। मैं उसके पिता को जाकर मिला, तो देखा कि बात ठीक थी। पिता की मूंछ है और सिगरेट पीते हैं। तो यह लड़का बिचारा बड़ा होने का मजा ले रहा है। तो उसकी चाल देखने जैसी थी... जब वह मूंछ लगाकर और सिगरेट पीते चल रहा था।
बाप बेटों को समझाते हैं कि सिगरेट मत पीयो, लेकिन उनको पता नहीं कि सिगरेट से सिर्फ धुआं नहीं मिलता, अहंकार भी मिलता है; क्योंकि सिगरेट जो है वह उम्र का प्रतीक हो गया है... बड़े लोग पीते हैं! तो सिम्बॉलिक है, प्रतीकात्मक है-सिर्फ बड़े ही पी सकते हैं; कोई भी छोटा पीता है तो लोग कहते हैं, अभी तुम्हारी उम्र नहीं, अभी नहीं-बड़े हो जाओ, फिर तुम्हें पीना हो तो पीना। तो बच्चा सोचता है, जब सिगरेट पीने से बड़ा हो जाना होता है, तो सिगरेट पीने में ऐसी कौन सी कठिनाई है? थोड़ी खांसी, तकलीफ होती है, आंख में आंसू आते हैं... झेल लेंगे; थोड़े अभ्यास से ठीक हो जायेगा।
तो बच्चे बड़ों की कोशिश में तल्लीन होते हैं; वह अहंकार प्रगट हो रहा है; वह बढ़ेगा, वह फैलेगा।
हमारा करना हमारा अहंकार है; लेकिन हमारा होना हमारी आत्मा है। होने
का अर्थ हैः जो हम हैं ही; जिसे निर्मित नहीं करना होता; जिसे पाने के लिए कुछ नहीं किया हमने; जिसे बनाने के लिए कुछ नहीं किया। हम कुछ कर ही कैसे सकते हैं, क्योंकि वह तो हमारे सब करने के पहले है!
अब उस मैं की बात शुरू होती है जिसका अर्थ है, बीइंग; जिसका अर्थ है, होना। इसलिए बात निषेधात्मक होगी, क्योंकि हम समझ ही न पायेंगे। हम उस मैं को समझते हैं जो कहता है-यह मकान मेरा, यह दुकान मेरी, यह पद मेरा। समझ लें, जितना मेरा ज्यादा हो उतना मैं बड़ा हो सकता है। इसलिए जो कह सकता है, यह राष्ट्र मेरा, यह धर्म मेरा, उसका मैं और बड़ा हो जाता है।
आपके पास जमीन का छोटा सा टुकड़ा है, तो निश्चित ही आप उससे बड़ा मैं नहीं बना पायेंगे; कैसे बनायेंगे? और एक के पास जमीन का बड़ा टुकड़ा है, एक के पास पूरा का पूरा... देश की जमीन उसके कब्जे में है, निश्चित ही उसके साथ उसका मैं बड़ा होता जायेगा।
"मेरे" का विस्तार कर्म का विस्तार है-मालकियत का; उसके साथ ही मैं बड़ा होता है। इसलिए जब आपका धन छिनता है तो धन ही नहीं छिनता, आप भी छिन जाते हैं-लगता है, आत्मा भी गयी; लुट गये। लुट गये के भाव में धन ही नहीं लुटता है, आप लुट गये। क्योंकि आपका मेरा अब क्षीण हुआ; मेरा कटा; मैं भी मरा उसके साथ।
तो हमारा जो झूठा मैं है, उसका संबंध-"मेरा"। "मेरा" उसका राज्य, साम्राज्य; उसके बीच वह जीता है। "मेरे" का तेल उपलब्ध हो तो "मैं" की बाती जलती है; "मेरे" का तेल चुक जाये तो "मैं" की बाती बुझ जाती है।
निश्चित ही, इस दूसरे मैं की जो चर्चा है वह इनकार से शुरू होगी।

"मैं दस इंद्रिय नहीं... "
धन की तो फिक्र छोड़ें, धन तो बहुत बाहरी है; यश की तो फिक्र छोड़ें, यश
तो बहुत बाहरी है; इंद्रियां तो बहुत गहरी हैं और भीतरी हैं। "मैं दस इंद्रियां नहीं"... इंद्रियां फिर भी थोड़ी बाहर हैं; "मैं बुद्धि भी नहीं"... बुद्धि तो और भी भीतरी है। "मैं मन भी नहीं"... मैं कुछ ऐसा हूं जो उत्पन्न ही नहीं होता है। मैं जन्म भी नहीं; मैं जीवन भी नहीं। और आखिरी बात-"मैं नित्य अहंकार भी नहीं।"
एक तो अहंकार है जिसकी हमने अभी चर्चा की; जो नित्य नहीं है-बनता है, बिगड़ जाता है। लेकिन पीछे यह का शब्द और भी अदभुत है। वह तो अनित्य, वह तो क्षणभंगुर है, मिट जाता है। लेकिन बहुत बार ऐसा होता है कि हम क्षणभंगुर अहंकार को इसीलिए मिटाना चाहते हैं ताकि शाश्वत अहंकार मिल जाये।
तो धर्मगुरु लोगों को समझाते हैं कि छोड़ो यह अहंकार, क्षणभंगुर है। बड़े मजे की बात है-कहते हैं, छोड़ो यह अहंकार क्षणभंगुर है; उस आत्मा को पाओ जो कभी नहीं नष्ट होती है। हमारे मन में लोभ जगता है; हमारे मन में होता है तब तो ठीक है, तब तो नित्य अहंकार मिल जायेगा। तो छोड़ दो इसको जो छूट ही जानेवाला है, छोटा-मोटा है; इसको छोड़ो, उसको पाओ।
जिसके मन में ऐसा लोभ जगा वह अहंकार से कभी भी ऊपर न उठ पायेगा। इसलिए ऋषि बहुत ही क्रांतिकारी सूत्र कहता है; वह कहता है, यह जो मैं हूं, यह नित्य अहंकार भी नहीं। ऐसा मत समझ लेना कि यह ऐसा मैं है जो सदा रहेगा। मैं तो अनित्य ही होता है, नित्य मैं होता ही नहीं। मैं मिटता है, शून्य हो जाता है, फिर वहां कोई नित्य अहंकार नहीं बचता।
लेकिन आम... हमारा जो लोभग्रस्त मन है, अहंकार-पीड़ित मन है, वह आत्मा को
भी अहंकार की ही शुद्धतम स्थिति की तरह देखता है। जब हम कहते हैंः आत्मा, तो उसका मतलब यही होता है कि नित्य अहंकार। यह सब छोटा-मोटा अहंकार छूट जायेगा, लेकिन असली जो मेरा मैं है भीतरी, वह कभी नहीं छूटेगा। ऋषि कहता है, ऐसा भीतरी कोई मैं ही नहीं है। जब तुम ऐसा जानोगे तभी तुम उस भीतरी को जान पाओगे।
"नित्य अहंकार भी मैं नहीं हूं।"
यह सूत्र ठीक बुद्ध के अनत्ता के समतुल हो गया। बुद्ध कहते थे, आत्मा नहीं है, अनात्मा है। इसी वजह से बुद्ध को बड़ी तकलीफ हुई इस... इस भूमि में जड़ें फैलाने में। बुद्ध का विचार लोगों के गहरे तक नहीं पहुंच सका क्योंकि लोभ को बुद्ध ने जरा भी नहीं उकसाया।
महावीर की बात सुनकर लोभ पैदा हो सकता है-महावीर का हाथ न भी हो तो भी। महावीर कहते हैं, मोक्ष में तुम रहोगे; शुद्ध, बुद्ध चैतन्य की स्थिति में रहोगे। सुननेवाला आदमी समझता है कि अच्छा, मैं रहूंगा! महावीर और उसके बीच चूक हो गयी कहीं। महावीर कहते हैं, शुद्ध बुद्ध नित्य तुम रहोगे। वे जिस "तुम" की बात कर रहे हैं, इसको उस "तुम" का कोई पता नहीं; यह सोचता है, बड़ा अच्छा; तो हम रहेंगे; तो मैं बचूंगा! और इस मैं में उसका, वही जो उसने इकट्ठा किया है, वही बोल रहा होता है। वह कहता है, तब कोई बात नहीं, कोई फिकर नहीं; अगर यह मकान भी छूट गया तो कोई हर्ज नहीं; यह धन भी छूटा, कोई हर्ज नहीं; यह देह भी गिर जायेगी, कोई हर्ज नहीं, लेकिन मैं तो रहूंगा। और यह जो मैं है यह उसी सब का जोड़ है।
बुद्ध ने कहा, तुम बिल्कुल नहीं रहोगे... और कुछ भी रहे, तुम बिल्कुल नहीं रहोगे। लोभी मन को बिल्कुल नहीं जंची यह बात; उसने कहा, यह भी कोई बात हुई? सब खो दें और मिले कुछ भी नहीं! ते अनित्य अहंकार में भी बुराई क्या है? तुम कहते हो, यह सुख क्षणभंगुर है; और हम पूछत हैं, अगर कोई शाश्वत सुख हो तो हम दांव भी लगायें। लेकिन तुम कहते हो, कोई शाश्वत सुख भी नहीं... तो फिर... फिर यह क्षणभंगुर ही भोग लें।
हम पूछते हैं, यह अहंकार बुरा है माना; दुख भोगा; इससे पीड़ा पायी यह भी माना; लेकिन इसे छोड़ दें तो मिलेगा क्या? अगर इससे कुछ बड़ा मिलता हो तो हमारा सौदागर मन राजी हो जाये। हम कहें, तो चलो ठीक है। इनवेस्टमेंट बुरा नहीं; थोड़ा छोड़ते हैं, ज्यादा पाते हैं; क्षणभंगुर छोड़ते हैं, अनंत मिल

जाता है; बूंद खोती है, सागर हाथ आ जाता है। तो हर्ज क्या है? बुरा क्या है? लोभ कहता है, गणित सीधा है; दांव लगाया जा सकता है।
लेकिन बुद्ध कहते हैं, नहीं... अनात्मा; आत्मा है ही नहीं; अनत्ता। तुम्हारे भीतर आत्मा वगैरह है ही नहीं, तुम सिर्फ अहंकार हो। और अहंकार दुख है इसलिए अहंकार को छोड़ दो। और मुझसे मत पूछो कि क्या मिलेगा, कुछ भी नहीं मिलेगा। आदमी सोचता है, तो जो है उसको.जोर से पकड़े रहो; लेकिन बुद्ध को समझा नहीं जा सका, क्योंकि बुद्ध ने हमारे लोभ की भाषा नहीं बोली। इस पृथ्वी पर शायद बुद्ध अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने आदमी के लोभ की भाषा नहीं बोली। यह ऋषि भी वही कह रहा है; यह कह रहा है, नित्य अहंकार भी नहीं हूं मैं। मैं अपने को कह सकूं मैं भी, इतना भी नहीं हूं मैं। यह सीधा इनकार ही इनकार है।
"दस इंद्रियां नहीं हूं।"
लेकिन आपको पता है, यह शब्द में पता नहीं चलता कि दस इंद्रियां नहीं हूं इसका क्या मतलब होता है? आपके पास एकाध ऐसा अनुभव है जो इंद्रियों के अलावा हो? आपने जो भी जाना है इन दस इंद्रियों से जाना है। जरा सोचें कि मैं दस इंद्रियां नहीं हूं, इसका मतलब हुआ कि आपके सब अनुभव गये; कोरी मुट्ठी रह जायेगी, हाथ में कुछ बचेगा नहीं। जो प्रेम जाना है वह, जो सम्मान जाना है वह, जो अपमान जाना वह, जो फूल देखे, सौंदर्य जाना वह; आंख से देखा, कान से सुना संगीत वह; सुगंधें-सब खो जायेंगी; यह स्पर्श-सब खो जायेगा। आपके पास बचेगा कुछ?
जब ऋषि कहता है, मैं दस इंद्रियां नहीं हूं, तो इसका अर्थ है कि दस इंद्रियों ने जो-जो संगृहीत किया है, वह मैं नहीं हूं। तो हम तो एकदम दीन-दरिद्र हो जायेंगे; भिक्षा का पात्र ही रह जायेगा, पात्र में कुछ भी बचेगा नहीं; क्योंकि सब कुछ दस इंद्रियों ने डाला है।
जैसे कि गंगा अगर कहे कि जो-जो नदियां मुझमें आकर मिली हैं वह मैं नहीं हूं, तो जिस मुसीबत में पड़ जाएगी उसी मुसीबत में हम पड़ जायेंगे। क्योंकि गंगा है क्या और? जोड़-झरनों का, नालों का, नदियों का। अगर गंगा कह दे कि जितनी नदियां मुझमें गिरी हैं वे मैं नहीं हूं; जो भी पानी मुझ में गिरा है वह मैं नहीं हूं। तो गंगा बचेगी कुछ? एक सूखा रेगिस्तान रह जायेगा।
हम भी उन नदियों के जोड़ हैं जो इंद्रियों ने हम तक पहुंचाये। हर इंद्रिय ने एक रसधार हममें डाली है। आंख ने दर्शन डाला है, कान ने श्रवण डाला है, स्वाद ने स्वाद डाला है-हम उस सब का जोड़ हैं। काटें, एक-एक इंद्रिय को अलग करें। पैर से जो यात्राएं की हैं आपने, हाथों से जो उपलब्धियां की हैं आपने; शब्दों से जो कहा है, सुना है, सब खो जायेगा। बचेगा क्या भीतर? और ऋषि कहता हैः दस इंद्रियां मैं नहीं हूं। लेकिन फिर भी मन में ऐसा हो सकता है कि समझो, कुछ भी न बचेगा, तो भी इतनी बुद्धि तो बचेगी कि कुछ भी नहीं बचा है। ऋषि कहता है, मैं बुद्धि भी नहीं हूं।
क्यों? यह बड़ी अदभुत बात है कि मैं बुद्धि भी नहीं हूं। और सब चीजों से इनकार करना समझ में आता है। इंद्रियों से इनकार से करने में बड़ी कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती, क्योंकि इंद्रियां शरीर का हिस्सा हैं; लेकिन बुद्धि, विचार, मन, ये तो भीतर और पार हैं।
लेकिन बुद्धि वस्तुतः, स्वयं के भीतर जो चैतन्य है उसके, और बाहर के जगत में जो विस्तार जगत का है, उसके बीच संघर्ष से पैदा होती है। बुद्धि एक संघर्ष-उत्पन्न व्यवस्था है। इसलिए अगर आपके जीवन में चुनौती न हो तो बुद्धि पैदा नहीं होगी। इसलिए धनपतियों के बेटे बुद्धिहीन रह जाते हैं- अकारण नहीं, कारण-सहित; क्योंकि चुनौती कम होती है तो बुद्धि को जगने का, प्रगट होने का, बनने का कोई मौका ही नहीं होता।
ऐसा समझें कि आपको जो भी.जरूरत हो वह तत्काल मिल जाये... समझ लें कि किसी दिन कल्पवृक्ष हम पृथ्वी पर पैदा कर लें... और हम कोशिश में लगे हैं; और हम कोशिश में लगे हैं... कल्पवृक्ष हम पृथ्वी पर पैदा कर लें तो कल्पवृक्ष के नीचे बैठे आदमी के पास क्या कोई बुद्धि होगी? जो चाहिए वह चाहते ही मिल जाता है-संघर्ष नहीं, चुनौती नहीं। तो बुद्धि तो ऐसी चीज है

जैसे तलवार पर धार रखते हैं हम। वह जो धार पैदा होती है तलवार पर, वह धार रगड़ से पैदा होती है... घर्षण से। तलवार पर घर्षण ही नहीं हुआ कभी तो तलवार में कहीं धार होनेवाली है?
तो बुद्धि हो भला भीतर, लेकिन बाहर के घर्षण से पैदा होती है। इसलिए
जब घर्षण का युग होता है तो बुद्धिमान लोग पैदा होते हैं; जब घर्षण समाप्त हो जाता है, बुद्धिमान लोग खो जाते हैं। जिंदगी में जितनी चुनौती होती उतनी धार आ जाती; और जिंदगी में चुनौती बिल्कुल नहीं होती तो धार खो जाती। अगर आज अमरीका के बेटे और बेटियां स्कूल, कॉलेज, युनिवर्सिटी छोड़ रहे हैं तो उसका कुल कारण इतना है कि अब उसकी कोई.जरूरत ही नहीं; सुविधा उपलब्ध हो गयी है। जिस सुविधा के लिए लड़के सिर घसीटते थे, भूखे पेट पढ़ते थे, रास्ते के किनारे लैम्पपोस्ट के नीचे बैठकर अध्ययन करते थे, वे सब पागल साबित हुए। आज अमरीकी लड़के को सब उपलब्ध है, तो वह कहता है, कॉलेज में जाने की.जरूरत क्या है? पढ़ने की.जरूरत क्या है? युनिवर्सिटी.ज अगर आनेवाले पचास वर्षों में अमरीका की रोज-रोज खाली हो जायें-और सबसे बढ़िया युनिवर्सिटी.ज उनके पास हैंत्तो हैरानी न होगी। यह आदमी की अदभुत खूबी है। असल में चुनौती खो गयी, संघर्ष खो गया।
आज अमरीका के पास सबसे ज्यादा बुद्धि को विकसित करने का उपाय है, लेकिन खुद अमरीकी बुद्धिमत्ता विकसित नहीं हो रही। और आज अमरीका के पास जो भी बुद्धिमान लोग हैं, अधिकतम उधार हैं; दूसरे मुल्कों से उधार हैं। अमरीका उधार खरीद सकता है, लेकिन कब तक खरीदेगा? अभी सारे मुल्कों में इससे तकलीफ शुरू हो गयी है; यूरोप के अनेक मुल्कों ने निर्णय लेना शुरू किया है कि हम अपने बुद्धिमान लोगों को अमरीका नहीं भेजने देंगे अब, क्योंकि एक ब्रेन ड्रेनेज हो रहा है। कहीं भी बुद्धिमान पैदा हो, वह थोड़े- बहुत दिन में अमरीका में पहुंच जायेगा; बचना मुश्किल है। क्योंकि न तो बुद्धि के काम के लिए कोई मुल्क इतनी सुविधा दे सकता है, न इतना धन दे सकता है, न इतनी प्रतिष्ठा दे सकता है, न प्रयोगशालाएं दे सकता है-कुछ भी नहीं दे सकता। तो सारी दुनिया से ड्रेनेज होता है; सारी दुनिया से बुद्धि अनजान रास्तों से खिसकती चली जाती है।
जैसे कभी एक.जमाना था कि दुनिया से धन खिंचकर लंदन पहुंच जाता था, ऐसे
अब सारी बुद्धि खिंचकर न्यूयॉर्क पहुंच जाती है। और धन का शोषण बहुत आसान बात थी; उसमें कोई बड़ा मामला नहीं था। लेकिन अगर बुद्धि खिंचकर पहुंचती रहे तो भारी... लेकिन अमरीका उधार बुद्धि पर कितने दिन जी सकता है? जिस बुद्धिमान आदमी को अमरीका हिंदुस्तान से बुला ले, इंग्लैंड से बुला ले, उसके लड़के युनिवर्सिटी जाने से इनकार कर देनेवाले हैं। संघर्ष नहीं है तो बुद्धि विकसित नहीं होती।
तो ऋषि कहता है, बुद्धि भी मैं नहीं हूं, क्योंकि बुद्धि भी बहिर्जन्य है; वह भी बाहर के संघर्षण से ही पैदा होती है। वह धार भी मैं नहीं हूं जो बाहर की रगड़ से आती है।
"मन भी मैं नहीं हूं।"
क्योंकि मनन हम करते ही क्या हैं? मनन भी हम तभी करते हैं जब बाहर का कोई पदार्थ मूल्यवान हो जाता है। तो हम चिंतन करते, मनन करते, विचार करते हैं।
बुद्धि से अर्थ है, उस पद्धति कात्तर्क-पद्धति का-जिसके द्वारा आदमी
के व्यक्तित्व में धार पैदा होती, और आदमी जगत के संघर्ष में कुशल हो जाता; मन से अर्थ है, मनन की उस क्षमता का, कन्टेम्पलेशन की, चिंतन की क्षमता का, जब कि आदमी एबस्ट्रेक्ट... अरूप में चिंतन कर पाता है, अरूप में प्रवेश कर पाता है।
इसे हम ऐसा समझें, अगर आप शतरंज का कभी खेल सीखे हैं या देखा है खेलते लोगों को, तो शतरंज के खेल में वही कुशल हो जायेगा, जो आनेवाली कम से कम पांच चालों का अंदाज कर सकेः मैं यह चलूंगा, यह उत्तर मिलेगा; इस उत्तर पर मैं यह जवाब दूंगा, तब यह उत्तर आयेगा; और तब मेरा यह जवाब, और तब यह उत्तर... इस सीढ़ी में जो जितने दूर तक मनन कर सके उतना कुशल हो जायेगा। अभी वह चाल चली नहीं गयी है, चली जायेगी। और उसका उत्तर तो अभी दिया ही नहीं गया है,

अभी शायद पैदा भी नहीं हुआ होगा दूसरी तरफ। लेकिन अभी से उसकी पूर्वापेक्षा की जो क्षमता है, वह मनन है। लेकिन वह भी बहिर है; वह भी आखिर बाहर की ही चालों का ही हिसाब है; भीतर से उसका भी कोई लेना-देना नहीं है। बच्चा जब पैदा होता है तो न तो उसके पास बुद्धि होती है, न मन होता है; सिर्फ संभावना होती है। फिर संभावना वास्तविक बनती है। अवसर पर निर्भर करेगा, किस प्रकार वास्तविक बनेगी।
यह कोई भी नहीं हूं मैं। तो फिर क्या हूं मैं? फिर मेरे होने का क्या अर्थ है? यह तो नकार हआ-यह भी नहीं... यह भी नहीं... यह भी नहीं... यह भी नहीं। "मैं तो सदैव बिना प्राण और बिना मन के शुद्ध स्वरूप हूं, बिना बुद्धि
का साक्षी हूं और हमेशा चित्स्वरूप हूं इसमें संशय नहीं।"
उत्पन्न नहीं होता हूं, सदैव बिना प्राण और बिना मन के... मैंने अभी आपसे कहाः प्राण का अर्थ है, जैसे ही बच्चा श्वास लेता है, प्राण शुरू होता है। इसलिए योग ने ऐसी व्यवस्थाएं खोजीं कि अगर बच्चा बिना श्वास लिए हो सकता है, तो क्या अड़चन होगी कि हम श्वास को ऐसा नियोजित करें कि हम भी बिना श्वास के हों और हो सकें। इसलिए योग ने ऐसी व्यवस्थाएं खोज लीं। इसी... इसी मनस, इसी मेधा का प्रयोगात्मक रूप निर्मित हुआ कि बिना श्वास के अगर बच्चा हो सकता है-हो सकता है; होता ही हैत्तो कोई वजह तो नहीं है कि हम क्यों न हो सकें।
तो योग ने प्राणयोग पर अनेक काम किये... और धीरे-धीरे धीरे-धीरे धीरे- धीरे श्वास को छोड़कर, छोड़कर उस समस्थिति में ले आने की व्यवस्था की... कि जहां आप भी ठीक बच्चे की अवस्था में पहुंच जाते हैं, जैसा वह पहली श्वास लेने के पहले था, या अंतिम श्वास लेने के बाद होगा।
दक्षिण में एक योगी था-ब्रम्हयोगी। उन्नीस सौ तीस में अचानक ब्रम्हयोगी का नाम सारे जगत में पहुंच गया था, क्योंकि वह दस मिनट के लिए श्वास का त्याग कर देते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में जब पहली दफा उन्होंने प्रयोग करके दिखाया तो दस डॉक्टर उनके आसपास थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय का जो भी श्रेष्ठतम मस्तिष्क था वह उन्हें घेरकर खड़ा था। और ब्रम्हयोगी ने कहा था कि मैं जब प्रयोग कर रहा हूं तो मैं अगर मर जाऊं तो आप सब दसों सर्टिफिकेट लिख देना कि यह आदमी मर गया-अगर आप पाओ कि मैं मर गया हूं। और उन दस डॉक्टरों ने ब्रह्मयोगी की श्वास रुक जाने पर सर्टिफिकेट पर दस्तखत किये कि ब्रह्मयोगी मर गये हैं; क्योंकि मरने के जो भी लक्षण थे-चिकित्सा-शास्त्र जिनको लक्षण कहता है-वे पूरे हो गये। लेकिन दस मिनट बाद यह आदमी वापिस लौट आया। और जब ब्रह्मयोगी वह कागज सर्टिफिकेट का मोड़कर खीसे में रखने लगा तो उन दस डॉक्टरों ने कहा, कृपा करो, यह कागज वापिस लौटा दो, कोई मुकदमा तो नहीं चलाना है? इसमें हम बुरी तरह फंस जायेंगे।
यह दस आदमियों ने दस्तखत किया कि आदमी मर गया। श्वास पुनः वापिस आ गयी। ब्रह्मयोगी कहते थे, मैं श्वास को उस जगह ले जाता हूं, जहां बच्चा पहले दिन जन्म के पहले क्षण में होता है। डूबते-डूबते-डूबते श्वास शांत हो जाती है; श्वास के शांत होते ही हृदय की धड़कन, नाड़ी सब खो जाती है।
लेकिन यह आत्मा अभी भी है; नहीं तो वापिस कौन लौटेगा? यह आदमी वापिस लौट आता है। फिर रंगून और ऑक्सफर्ड में भी उन्होंने प्रयोग किये। तो डॉक्टरों ने उनको कहा कि अगर आप सही हो और हम किसी धोखे में नहीं पड़े हैं तो फिर हमें मृत्यु की परिभाषा बदलनी पड़ेगी। अब तक तो हम यही कहते थे कि ये लक्षण पूरे हो गये तो आदमी मर गया, और अब तक हमने जितने लोगों को सर्टिफिकेट दिये; पता नहीं उनमें कितने लोग मरे थे, कितने लोग नहीं मरे थे! ल्ेकिन अब इसे जानने का कोई उपाय भी नहीं है।
सच तो यह है, उनमें से कोई भी नहीं मरा था। अगर मरने का हम ऐसा अर्थ लें
कि मिट गया हो, तो उन में से कोई भी नहीं मिटा था। इतना ही अर्थ ले सकते हैं कि जो यंत्र श्वास लेता था, वह अब श्वास लेने में समर्थ नहीं रहा था। ब्रह्मयोगी दूसरा काम कर रहे हैं-यंत्र समर्थ है लेकिन श्वास नहीं ले रहे हैं। मरता हुआ आदमी भी यही काम कर रहा हैः श्वास तो लेना चाहता है लेकिन यंत्र समर्थ नहीं रहा है। इन दो में से एक कम हो जाये तो श्वास बंद हो

जायेगी-या तो यंत्र खराब हो जाये, और या श्वास बंद कर ली जाये। क्षण भर को तो हम भी रोक सकते हैं; कोई भी रोक सकता है। क्षण भर को भी अगर हम रोक सकते हैं तो क्षण भर को हम बिना प्राण के रह जाते। क्षण भर को रह सकते हैं तो दस क्षण को भी रह सकते हैं; वह कोई बड़ी बात नहीं है। प्रयोग की ही बात हैं। "बिना प्राण के, बिना मन के"... नहीं सोचता हूं तब भी होता हूं; गहरी निद्रा में विचार खो जाते हैं, स्वप्न खो जाते हैं, फिर भी... मैं होता हूं। अब तो वैज्ञानिक कहते हैं, आपके हम मस्तिष्क को पूरा का पूरा निकाल कर अलग कर लें, तो भी आपका अस्तित्व नष्ट नहीं हो जाता, आप होते हैं।
मन अनिवार्य नहीं है होने के लिए। सच तो यह है, हमें रोज-रोज गहरी नींद में इसीलिए जाना पड़ता है कि हम मन से इतने थक गये होते हैं कि उसको थोड़ी देर के लिए छुटकारा देना.जरूरी होता है; अन्यथा हम बासे हो जायें, उधार हो जायें, सड़ जायें।
"... मैं मन भी नहीं हूं, बिना बुद्धि का साक्षी हूं।"
एक आदमी बुद्धिपूर्वक साक्षी हो सकता है। जब भी कोई आदमी प्रयोग करता
है साक्षी होने का तो बुद्धिपूर्वक करता है। वह कहता है, मैं साक्षी रहूंगा; मैं चेष्टा करूंगा; मैं साक्षी होने का प्रयास करूंगा। सब प्रयास, सब चेष्टा बुद्धि की है। इसलिए बुद्धिपूर्वक कोई साक्षी नहीं हो पाता; बुद्धि खो जाये तब साक्षी हो पाता है।
क्योंकि बुद्धि भी... बुद्धि कभी भी साक्षी नहीं हो सकती-इसे ठीक से ख्याल में ले लें, क्योंकि बुद्धि बिना निर्णय किये नहीं रह सकती; और साक्षी का अर्थ है, निर्णय नहीं। साक्षी का अर्थ हैः मैंने फूल देखा तो बस देखता ही रहा-न मेरे मन में उठा कि सुंदर है, न मेरे मन में उठा कि असुंदर है; न मेरे मन में उठा कि गुलाब है, न मेरे मन में उठा कि चंपा है; न मेरे मन में उठा कि तोड़ लूं, न मेरे मन में उठा कि छोड़ दूं-मन उठा ही नहीं; फूल रहा उधर, इधर रहा मैं, बीच में कुछ उठा ही नहीं; बीच में कोई विचार की तरगें ही न रहीं; खाली हो गया, शून्य हो गया बीच में-उधर फूल, इधर मैं... तो मैं फूल का साक्षी हुआ।
अगर मैं अकड़ कर खड़ा हो गया और मैंने कहा कि ठीक, अब हम फूल के साक्षी हैं। इस समय मैं फूल का साक्षी हूं। तो जब मैं यह कह रहा हूं भीतर कि मैं इस समय फूल का साक्षी हूं, उस वक्त मेरा संबंध इस विचार से है, फूल से नहीं। और अगर देखते ही मुझे मन में थोड़ी सी भी झलक आ गयी-"यह सुंदर है", नहीं बना शब्द, सिर्फ झलक आयी; नहीं बना शब्द, सिर्फ झलक आयी, तो भी बुद्धि आ गयी; क्योंकि बुद्धि बिना निर्णय के नहीं रह सकती।
असल में निर्णय के लिए ही बुद्धि की व्यवस्था है; निर्णय लेना ही पड़ेगा-पक्ष-विपक्ष, यहां या वहां होना ही पड़ेगा, तटस्थ नहीं हो सकते आप... तटस्थ नहीं हो सकते आप बुद्धि के साथ। साक्षी हो ही तब सकते हैं जब बुद्धि कुछ भी न करती हो।
"... बिना बुद्धि का साक्षी हूं।"
देखता हूं, सोचता नहीं; होता हूं, दृष्टिकोण निर्मित नहीं करता; चैतन्य होता है परिपूर्ण, लेकिन चैतन्य पर कोई विचार की छाया नहीं पड़ती। "... और हमेशा चित स्वरूप हूं।"
और ऐसा नहीं है कि कभी-कभी चेतन होता हूं और कभी-कभी अचेतन हो जाता हूं; हमेशा चित स्वरूप हूं।
हम कोशिश करके कभी-कभी चेतन हो सकते हैं क्षण भर को। एक आदमी आपकी छाती पर छुरा रख देता है तो आप क्षण भर को चेतन हो जाते हैं; सब निद्रा टूट जाती है जन्मों-जन्मों की। छुरी की धार भीतर तक अंधेरे को काट देती है। एक क्षण को पंचकोषों को छोड़कर, इंद्रियों को छोड़कर, विचार को छोड़कर, मन को छोड़कर मात्र साक्षी रह जाते हैं-एक क्षण को।
इसलिए जापान में तो झेन फकीरों का एक संप्रदाय है, जो तलवार चलाना सिखाकर ही ध्यान सिखाता है। वह कहता है, इससे सस्ते में ध्यान हो नहीं सकता। आदमी ऐसा सुस्त और इतना निद्रित है कि जब तक तलवार की धार ही न हो आगे, तब तक ध्यान नहीं हो सकता। तो तलवार सिखानेवाले जो प्रशिक्षण केंद्र हैं उनका नाम ध्यान केंद्र है; मेडिटेशन सेंटर्स है। उनके दरवाजे पर लिखा

होता है-"ध्यान केंद्र"। भीतर जाकर आप बहुत चकित होंगे, वहां खटाखट तलवारें चल रही हैं। आप सोच ही न सकेंगे कि ध्यान और तलवार का क्या लेना- देना?
जापान ने एक बहुत विशिष्ट किस्म का सैनिक पैदा किया-समुराई। समुराई
का मतलब होता है ऐसा सैनिक, जो ध्यान और तलवार को एक बना लेता है। इसलिए समुराई सैनिक जैसा सैनिक पृथ्वी पर कहीं भी पैदा नहीं हो पाया। भारत में भी जो राजपूत पैदा हुए वे भी नाकुछ हैं समुराई के मुकाबले; क्योंकि समुराई की शिक्षण की जो अनिवार्य बात है वह यह है... कि जब तू तलवार हाथ में उठाये तो बुद्धि रुक जाये; यही शिक्षण हैः जब तू तलवार हाथ में उठाये तो भीतर बुद्धि रुक जाये-तलवार को चलने दे; बुद्धि से मत चला।
इसलिए कभी अगर दो समुराई सैनिक युद्ध में उतर जाते हैं तो हार-जीत बहुत मुश्किल हो जाती है। तलवारें चलती हैं, बुद्धि बीच में नहीं होती। समुराई गुरु कहते हैं कि बुद्धि के बीच में आने से ही निशाना चूकता है और आदमी भूल में पड़ता है, क्योंकि उतने में झपकी लग जाती है। इधर हाथ में तलवार है और ख्याल आ गया कि घर नल तो खुला छोड़ आया हूं। गये आप! और ऐसे ही ख्याल आते हैंत्तलवार चलाने में नहीं; ठीक मंदिर में बैठे हैं पूजा करने को और ऐसे ख्याल आते हैं। चूक गये! यहां से आप खो गये।
इसी संध में, समुराई गुरु कहते हैं, दूसरे की तलवार भीतर घुस जायेगी- इसी संध में।
तलवार चले, विचार न हो भीतर। तो भीतर कौन होगा तब? तब साक्षी होगा; सिर्फ साक्षी होगा। तलवार को चलते देखेगा, और अगर तलवार भीतर भी घुस जायेगी तो घुसते भी देखेगा। लेकिन अगर सिर्फ साक्षी होगा तो तलवार भीतर घुस रही होगी लेकिन साक्षी देखेगा। साक्षी से उसका कोई लेना-देना नहीं, साक्षी में तलवार भीतर नहीं घुस सकती।
इसलिए कृष्ण ने कहा है, काटो तो मैं कटता नहीं-"नैनं छिदन्ति शस्त्राणि"; नहीं कटता शस्त्रों से; नहीं जलता आग में-जलाओ, मैं अनजला रह जाता हूं... अस्पर्शित।
"... हमेशा चित्स्वरूप हूं।"
कभी-कभी नहीं। हम कभी-होते होते हैं-दुर्घटना में, किसी तीव्र क्षण में। और इसलिए बड़े मजे की बात है कि जब भी हम चेतनस्वरूप होते हैं, तभी हमें जीवन में थोड़ी सी आनंद की झलक मिलती है। कभी भी... कभी शायद जिंदगी में एकाध दो क्षण ऐसे आते हैं आम... कि हम अचानक एक झलक पा लेते हैं जो फिर कभी नहीं मिलती। वह कारण उसका वही होता है कि कहीं हम भीतर चेतन होते हैं-कोई भी कारण से।... कोई भी कारण से! वह जो चैतन्य फलित हो जाता है तो फिर दुबारा हमें वैसा शिखर चेतना का नहीं मिलता; फिर हम जीवन भर तलाश करते रहते हैं। यह कहीं भी हो सकता है। रात के सन्नाटे में किसी क्षण में ऐसा हो सकता
है कि झिंगुर की आवाज ही रह जाये और भीतर कोई विचार न हो, तो उसी क्षण जो आनंद मिलेगा वह कभी नहीं मिला। सुबह सूरज को उगते देखकर ऐसा कभी हो सकता है... सूरज ही उगता रहे और भीतर कोई विचार न रह जाये-इतना भी विचार न बने कि यह सूरज है। सूरज का शब्द भी भीतर निर्मित न हो, तो उसी क्षण जो अनुभव होगा, उस अनुभव में सूर्य देवता हो जायेगा। वह अनुभव फिर भूलने जैसा नहीं है। कभी आकस्मिक ऐसा घट जाता है। इसको व्यवस्था से घटाने का नाम ध्यान है... कि हम जागे ही रहें। लेकिन चेष्टा इसमें है।
ऋषि कहता है, जब चेष्टा भी नहीं रहती और जागना सहज होता है, वही मेरा स्वरूप है; वही मैं हूं।
"... इसमे संशय नहीं।"
इसमें कोई संदेह नहीं है। क्यों? क्योंकि यह कोई सिद्धांत नहीं है। ऋषि कहता है, इसमें कोई संशय नहीं, क्योंकि यह मैं जानकर कह रहा हूं। विवेकानंद रामकृष्ण के पास गये। तो विवेकानंद ने कहा कि ईश्वर है? तो रामकृष्ण ने यह नहीं कहा कि है, नहीं है; समझाने नहीं बैठे; कहा नहीं कि बैठो, समझाता हूं। नहीं, रामकृष्ण ने कहा, अभी देखना है-इसी वक्त?
तो विवेकानंद ने बाद में कहा है कि मैं खुद संशय में पड़ गया कि अभी देखना है कि नहीं देखना है? वह आदमी संशय में नहीं पड़ा, और झंझट का सवाल

मैंने पूछा था-पूछा था मैंने, ईश्वर है? उसे संशय में पड़ना चाहिए था, क्योंकि बड़ा कठिन सवाल है। हां भी कहना आसान नहीं, न भी कहना आसान नहीं। हां कहो तो... तो सिद्ध करना पड़े। और ईश्वर को कौन सिद्ध कर पाया है?
शायद अनेक लोग ईश्वर को नहीं मान पाते हैं, इसीलिए क्योंकि उसे अब तक कोई सिद्ध नहीं कर पाया है। नहीं तो नास्तिक कभी के खो गये होते। नास्तिक का न खोना सिर्फ इतना ही बताता है कि ईश्वर कुछ ऐसा है कि सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अन्यथा नास्तिक के होने की क्या.जरूरत थी? .जमीन पर इतने परम आस्तिक हए हों और नास्तिक का बाल बांका नहीं होता; रत्तीभर फर्क नहीं पड़ता, नास्तिक बना ही रहता है। सभी आस्तिक इकट्ठा कर दें तो एक नास्तिक को आस्तिक नहीं बना पायेंगे। क्या, कारण क्या है? कारण सिर्फ एक हैः नास्तिक मांगता है कि सिद्ध करो, और सिद्ध वह होता नहीं; हाथ ढीले पड़ जाते हैं।
तो विवेकानंद ने सोचा था कि मुश्किल में पड़ेंगे रामकृष्ण; ग्रामीण आदमी हैं, बेपढ़े-लिखे हैं, दूसरी बंगाली तक पढ़े हैं, जानते क्या होंगे? और विवेकानंद तो निष्णात नास्तिक था। विवेकानंद तो निष्णात बुद्धिमान, सुशिक्षित, बंगाल की जो श्रेष्ठतम मेधा हो सकती है, वह थे; विवादकुशल थे, तर्क को जानते थे, अरस्तु को जाना था, न्याय को पढ़ा था। तो एक गंवार, ग्रामीण आदमी... उससे सवाल पूछा है, उसने संशय में डाल दिया है विवेकानंद को। उसने कहा कि अभी देखना है! इसी वक्त?
इस उत्तर में एक बड़ी खूबी है, और वह यह है कि यह आदमी ऐसे बात कर रहा है, जैसे यह रहा; तुम बोलो। इतना निःसंशय है! संशय जरा भी नहीं है। संशय तभी नहीं होता जब अनुभव होता है।
तो ऋषि कहता है, इसमें संशय नहीं है। यह वह इतना ही कह रहा है कि यह मैं जानकर कह रहा हूं; ऐसा मैं होकर कह रहा हूं; यह कोई सिद्धांत नहीं, कोई मतवाद नहीं; यह मेरा कोई विचार नहीं, यह मेरा कोई ख्याल नहीं, यह मेरी धारणा नहीं-ऐसा मैंने जाना है; ऐसा मैं जिया हूं।

विवेकानंद इसके पहले रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता के पास भी गये थे- देवेंद्रनाथ के। वे महर्षि थे, बड़ी उनकी ख्याति थी। रामकृष्ण उस समय कुछ भी नहीं थे। महर्षि देवेंद्रनाथ बड़े आदमी थे। एक तो बहुत सम्मानित परिवार था ठाकुरों का; राजा कहलाते थे रवींद्रनाथ के दादा। राजा के बेटे थे। और महर्षि की तरह आदर था; ज्ञानी थे। व्यक्तित्व भी वैसा था। ऋषियों का व्यक्तित्व था। अधिकतर बजरे में ही रहते थे... नदी में।
तो आधी रात विवेकानंद बजरे पर पहुंच गये तैरकर-पानी से लथपथ, अंधेरी रात! जाकर धक्का दिया; दरवाजा अटका था; क्योंकि आने का किसी का कोई सवाल न था आधी रात; और बजरे पर कौन आता था? इसलिए बजरे पर रहते थे। धक्का देकर भीतर पहुंच गये, देवेंद्रनाथ बैठे थे ध्यान में आंख बंद किये-धक्का... आवाज... बजरे का हिलना... द्वार का खुलना... और अचानक इस युवक का जाकर देवेंद्रनाथ के कोट के कॉलर को पकड़ लेना, और हिलाकर कहना कि ईश्वर है? देवेंद्रनाथ ने कहा, जरा बैठो, थोड़ी श्वास भी ले लो; यह भी कोई वक्त है पूछने का? यह कोई समय है आने का? यह कैसा शिष्टाचार है? विवेकानंद ने कहा, जब आग लगी हो तो कैसा शिष्टाचार! मैं पूछता हूं उसका जवाब दें, बाकी बातें छोड़ें; औपचारिकता नहीं चाहिये-ईश्वर है?
एक झिझक दौड़ गयी देवेंद्रनाथ के भीतर, "हां" कहना मुश्किल मालूम पड़ा; "ना" कहने का तो ख्याल भी नहीं था। लेकिन ऐसे व्यक्ति को जो कहता है घर में आग लगी है, आधी रात पानी में तैरकर चला आया है-लथपथ! चेहरा दिखाई नहीं पड़ता। ईश्वर पूछने आया है; ये भी कोई जिज्ञासुओं के ढंग हैं?
कहा, बैठो भी; थोड़ा समझाता हूं, लेकिन विवकानंद कूद गये। छपाक... पानी में आवाज... महर्षि देवेंद्रनाथ ने कहा कि रुको भी युवक! विवेकानंद न कहा, आपकी झिझक ने सभी कुछ कह दिया है; अब कुछ और कहने को बचा नहीं।
इसलिए ऋषि कहता है, "इसमें संशय जरा भी नहीं।"
झिझक भी तो काफी है कहने को। इतना भी क्या... ? लेकिन रामकृष्ण के पास सिर झुक गया... ग्रामीण, गंवार के पास सिर झुका। बुद्धिमान से बुद्धिमान आदमी थे देवेंद्रनाथ, वहां झिझक थी।

विचार सदा ही झिझकता रहता, है अनुभव ही बेझिझक होता है। विचार कितना
ही करो तो भी संशय बना ही रहता है; क्योंकि विचार कैसे असंशय हो जायेगा? कितना ही सोचो और मानो और समझो, और सब तरह समझा लो अपने को कि ईश्वर है; भीतर कहीं कोई स्वर कहता ही रहेगा, अभी पता कहां? अभी मिला कहां? अभी जाना नहीं। तर्क और प्रमाण सब कह दें कि है, तब भी भीतर अनुभव कहेगा, अभी खाली हूं।
इसलिए ऋषि कहता है, "इसमें जरा भी संशय नहीं।" यह अनुभव की मैं बात कहता हूं।

सर्वसार उपनिषद
सोलहवां प्रवचन

अकर्ता, अभोक्ता

नाहं कर्ता नैव भोक्ता प्रकृतेः साक्षीरूपकः।
मत्सान्निध्यात प्रवर्तन्ते देहाद्या अजडा इव।। 18।।
स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञानमयोऽमलः।
आत्माऽहं सर्वभूतानां विभुः साक्षी न संशयः।। 19।।

मैं कर्ता नहीं हूं और भोक्ता भी नहीं हूं, परंतु केवल प्रकृति का साक्षी हूं
और समीपत्व के कारण देह आदि को सचेतन होने का आभास होता है
और वे वैसी ही क्रिया करते हैं।

मैं तो स्थिर, नित्य, सदैव आनंदरूप, शुद्ध, ज्ञानमय निर्मल आत्मा हूं
और सब प्राणियों में श्रेष्ठ हूं, साक्षीरूप व्याप्त हो रहा हूं, इसमें संशय नहीं।

उस अस्तित्व की और गहनता में और गहराई में प्रवेश करना हो तो कुछ और निषेध भी समझ लेने.जरूरी हैं।
कल हमने समझा, शरीर नहीं हूं मैं, इंद्रियां नहीं हूं, मन नहीं हूं, बुद्धि नहीं हूं, चैतन्य हूं। लेकिन उससे भी सूक्ष्म आवरण हैं। और वे सूक्ष्म आवरण सिर्फ समीप होने के कारण निर्मित हो जाते हैं।
चैतन्य, जो भी उसके समीप होता है, उसे आपूरित कर देता है। जैसे प्रकाश,
जो भी समीप होता है, उसे प्रकाशित कर देता है। दीया जलाया हमने, जलते ही दीये के जो भी उस दीये के घेरे में पड़ जाता है, सब प्रकाशित हो जाता है। ऐसी ही चेतना जो हमारे भीतर है, उसके जो भी निकट है वह सभी प्रकाशित हो जाता है। उस प्रकाशित होने में ही कठिनाई शुरू होती है। अगर दीये को भी होश आ जाये... दीया नहीं था, अंधेरा था, तब कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था... फिर दीया जला, अगर दीये में भी चेतना हो, तो जो-जो प्रकाशित हो रहा है, दीये को भी भ्रांति होगी कि वह भी मैं ही हूं; प्रकाश को यह भ्रांति हो जायेगी कि जो भी प्रकाशित है वह भी मैं ही हूं। क्योंकि जब मैं नहीं होता तब यह कुछ भी तो नहीं होता-न दीवालें दिखाई पड़ती हैं कमरे की, न फर्निचर दिखाई पड़ता है कमरे का... जब मैं नहीं होता हूं तो कुछ भी नहीं होता है, जब मैं होता हूं तभी यह सब होता है। स्वभावतः, सीधा तर्क है कि मेरे होने में ही इनका होना भी समाया हुआ है।
चैतन्य का भी अनुभव यही हैः चैतन्य अगर नहीं होता तो न शरीर होते है पांच, न मन होता है, न बुद्धि होती है, न इंद्रियां होती है-कुछ भी नहीं होता; चैतन्य के आविर्भाव के साथ ही सब होता है। चैतन्य अगर बेहोश हो जाये, गहन निद्रा में खो जाये, तो भी शरीर का पता नहीं चलता फिर; फिर बुद्धि का कोई पता नहीं चलता। इसीलिए तो आपका ऑपरेशन करना होता है तो बीच में एक गहरी बेहोशी की पर्त चैतन्य के चारों तरफ खड़ी करनी पड़ती है; फिर आपका हाथ कटता है तो पीड़ा नहीं होती; फिर आपके पूरे शरीर को भी टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाये तो पता नहीं चलता; क्योंकि दीये के जिस प्रकाश में यह सब दिखाई पड़ता था वह दीये प्रकाश आवृत्त है बेहोशी से।
चैतन्य जिस चीज को भी प्रकाशित करता है, उस चीज से समीपत्व के कारण एकता अनुभव होती है; निकटता के कारण लगता है, यह भी मैं ही हूं। यही हमारी सारी तादात्म्य की भूल है। और फिर जिससे हम अपने को एक समझ लेते हैं उसी तरह का हम व्यवहार करने लगते हैं।
जैसेः श्वास लेते हैं हम। अगर चैतन्य भीतर से विदा हो जाये तो श्वास विलीन हो जायेगी। श्वास की प्रक्रिया चलती है, चैतन्य का प्रकाश श्वास की प्रक्रिया पर पड़ता है और चैतन्य को लगता है, जब मैं होता हूं तभी श्वास

चलती है, जब मैं नहीं होता हूं, श्वास नहीं चलती है। तो मैं ही श्वास हूं, मैं ही श्वास ले रहा हूं।
लेकिन यह बात सच नहीं है। आपने कभी भी श्वास नहीं ली है। श्वास चल रही
है, आप केवल साक्षी हैं। निश्चित ही आपके होने पर ही श्वास के चलने का बोध होता है, लेकिन श्वास का चलना बिल्कुल अलग है; आपकी बेहोशी में भी चल सकती है। और अब तो वैज्ञानिक कहते हैं कि आप मर भी गये हों तो भी हम यंत्रों से संयुक्त करके श्वास की प्रक्रिया को चलाये रख सकते हैं।
श्वास एक अलग यंत्र है, एक अलग व्यवस्था है; आपको उसका पता भर चलता है। आपने कभी श्वास ली है? अगर आप श्वास लेते होते तो कभी के मर गये होते; एक क्षण को भी चूक जाते कि टूट जाते सिलसिले। और आदमी सब तरह की भूलें करे, चल जाये; श्वास न लेने की भूल हो जाये तो नहीं चलेगा। इसलिए श्वास आप लेते नहीं, चलती है; आप उसके कर्ता नहीं हैं, सिर्फ साक्षी हैं।
खून आपके शरीर में बहता है, आप बहाते नहीं हैं। आप उसके कर्ता नहीं हैं, हृदय धड़कता है, आप उसके कर्ता नहीं हैं, सिर्फ साक्षी हैं
और अगर हृदय, श्वास और धड़कन की बात समझ में आ जाये, खून की गति ही समझ में आ जाये, तो बुद्धि भी चलती है, आप चलाते नहीं हैं, यह समझना बहुत कठिन नहीं होगा। वह भी यंत्र है; मन भी यंत्र है।
एक आदमी कामवासना से भर जाता है, तो शायद सोचता है कि यह कामवासना मैं
कर रहा हूं; तो भूल करता है। यह भी हो रहा है। ये भी शरीर की ग्रंथियां हैं, ग्रंथियों में फैलते हुए रस हैं। तो जब ग्रंथियां प्रौढ़ हो जाती हैं चौदह वर्ष में तो कामवासना जगती है। ग्रंथियां काट लें, कामवासना विदा हो जायेगी। आप कर्ता नहीं हैं वासना के भी, इसीलिए तो वासना से छूटना बहुत मुश्किल हो जाता है। अगर कर्ता होते तो कितनी आसान बात थी-बंद कर देते। अगर कर्ता ही होते वासना के तो अड़चन क्या थी? कह देते कि नहीं करते हैं अब; बात समाप्त हो जाती।
लेकिन आप कहे चले जाते हैं कि अब वासना नहीं करेंगे और वासना उठती ही चली जाती है; वह पीछा ही नहीं छोड़ती-क्यों? अगर आप कर्ता हैं तो इतनी कठिनाई क्या है? कठिनाई एक है कि आप कर्ता नहीं हैं। और कर्ता मानकर आप दोहरी झंझट में पड़ते हैं। पहले तो समझ लेते हैं कि मैं कर्ता हूं। और इसी समझने के कारण फिर यह भी सोचते हैं कि मैं चाहूंगा तो नियंता भी हो जाऊंगा; जब कर्ता ही मैं हूं तो रोकना चाहूंगा तो रोक लूंगा। वह रुकती भी नहीं-न आपके चलाये चलती है, न आपके रोके रुकती है।
तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि कामवासना से आप कभी मुक्त न हो सकेंगे? मुक्त हो सकते हैं इसी क्षण, बस कर्ता का भाव खो जाये, आप सिर्फ साक्षी रह जायें तो वासना से आप मुक्त हो जाते हैं। वासना अपनी तरफ पड़ी रह जाती है, यंत्र अलग पड़ा रह जाता है, आप अलग हो जाते हैं, बीच में फासला हो जाता है। एक बात और समझ लेनी.जरूरी है कि आप कर्ता तो नहीं हैं इस यंत्र के, लेकिन इस यंत्र के चलने के लिए आपकी मौजदूगी.जरूरी है-सिर्फ मौजूदगी; जस्ट योअर प्रे.जेंस। आप कर्ता नहीं हैं।
सुबह सूरज निकला, तो सूरज आकर एक-एक कली खोलने की कोशिश नहीं करता है। शायद उसे पता भी नहीं होगा कि उसने कितने फूल बना दिये पृथ्वी पर, कितने पक्षी गीत गाने लगे; इनका वह कर्ता नहीं है, यद्यपि उसके बिना भी यह नहीं होगा। अगर सूरज कल सुबह न निकले तो पक्षी फिर गीत नहीं गा सकेंगे, और फूल में फिर पंखुड़ियां नहीं खिलेंगी, और कमल बंद ही रह जायेंगे। लेकिन फिर भी सूरज कर्ता नहीं है; क्योंकि करने का कोई सवाल नहीं है-आ-आकर उसकी एक-एक किरण एक-एक कली को नहीं जगाती; एक-एक किरण आकर एक-एक पक्षी के गले में गीत नहीं बनती है। कोई चेष्टा नहीं है, सिर्फ मौजूदगी; सिर्फ उसका मौजूद होना। विज्ञान एक बात को स्वीकार करता है-केटेलिटिक एजेंट को; विज्ञान कहता
है कि कुछ चीजें हैं जिनकी मौजूदगी मात्र परिणामकारी है। जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सिजन मिलकर पानी बनता है। लेकिन आप हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को छोड़ दें तो पानी नहीं बनेगा। आप कितना ही हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को घोलमेल करें, पानी नहीं बनेगा, क्योंकि केटेलिटिक एजेंट अभी मौजूद नहीं है; सब

बात मौजूद है; क्योंकि पानी में हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के अलावा कुछ भी नहीं है।
यह केटेलिटिक एजेंट की बात ठीक से समझ लेनी चाहिए, क्योंकि यह साक्षी
को समझने में बहुत गहरी उपयोगी बनेगी। पानी को हम विभाजित करते हैं तो ऑक्सिजन और हाइड्रोजन के अतिरक्ति उसमें कुछ भी नहीं पाते-बस, यही दो चीजें हैं। तो हम हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को मिलायें तो पानी क्यों नहीं बनता है? क्योंकि पानी में दो के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। तो दो को मिलाने से पानी बन जाना चाहिए; वह नहीं बनता है, जब तक कि बिजली मौजूद न हो। इसलिए आकाश में जो बिजली कड़कती है वर्षा में, उसके कड़कने की वजह से पानी निर्मित हो रहा है; नहीं तो बादल भटकते रहें, पानी निर्मित नहीं हो पायेगा।
लेकिन विज्ञान बड़ा परेशान रहा है कि बिजली का दान क्या है पानी में?
तो दान कुछ पता चलता नहीं; बिजली का कुछ भी पानी में जाता नहीं। इसलिए जब हम पानी को तोड़ते हैं तो बिजली मिलती नहीं; तो बिजली ने क्या किया? बिजली ने कुछ भी नहीं किया, लेकिन उसकी मौजूदगी.जरूरी थी; उसकी बिना मौजूदगी के यह घटना नहीं घटती।
तो बिजली केटेलिटिक एजेंट हो गयी। केटेलिटिक एजेंट का मतलब हुआ कि मौजूदगी के बिना नहीं होगा, और यह कुछ करता भी नहीं। तो आपकी मौजूदगी के बिना 9 वास नहीं चलेगी, आपकी मौजूदगी के बिना हृदय की धड़कन नहीं होगी, आपकी मौजूदगी के बिना बुद्धि काम नहीं करेगी; फिर भी आप कर्ता नहीं हैं।
इसी से कर्ता की भ्रांति होती है कि जब मेरे बिना नहीं होगा, तो मैं कर्ता हूं; क्योंकि हमारे मन में दो ही धारणाएं हैंः कि अगर मैं कर्ता हूं तो होता है-मेरे होने पर ही होता है, मेरे न होने पर नहीं हो जाता है; तो स्वाभाविक निष्कर्ष है कि मैं कर्ता हूं।
हमें उस तीसरी दिशा का कोई पता नहीं है जब कि सिर्फ मौजूदगी, सिर्फ उपस्थिति काम करती है। यह उपस्थिति कर्तृत्व बन जाती है, यही हमारा बंधन है। यह उपस्थिति सिर्फ उपस्थिति रह जाये तो यही हमारा साक्षित्व है। हम इतना ही जान पायें कि हम साक्षी हैं; हमारी मौजूदगी में होता है.जरूर, लेकिन हम कर्ता नहीं हैं।
तो हमारे और यंत्र के बीच एक फासला निर्मित हुआ। और तब बड़ी गहरी बातें हैं इस मौजूदगी में। कामवासना का केंद्र, कामवासना की ग्रंथि कहे जाये कि मुझे प्रगट होना है, और आप साक्षी बने रहें तो प्रगट नहीं हो सकेगी; क्योंकि साक्षी बनते से ही कामवासना की ग्रंथि में आपकी गैरमौजूदगी हो गयी; साक्षी बनते ही आप अपने में सरक गये और ग्रंथि से दूर हो गये। तो ग्रंथि के पास जो निकट्य चाहिए था, निकटता चाहिए थी, आपकी उपस्थिति चाहिए थी, वह टूट गयी। तो ग्रंथी कंपित होती रहे, और ग्रंथि पुकारती रहे, और ग्रंथि के द्रव्य और रस कहते रहें कि वासना चाहिये... वासना चाहिये, लेकिन वह जो मौजूदगी थी आपकी...
इसलिए कई बार बड़ी अदभुत घटनाएं घटती हैंः आप कामवासना से भरे हुए बैठे हैं, चित्त वासना में डूबा हुआ है, और अचानक किसी ने जोर से चिल्लाया कि मकान में आग लग गयी... अब वासना एकदम तिरोहित क्यों हो जाती है-एक क्षण में? क्योंकि चित्त वहां से हटकर मकान में आग लग गयी-उपस्थिति मन की वहां हो गयी। नहीं तो एक क्षण में आप अलग करके देखें वासना से चित्त को, तब आपको पता चलेगा कि वह नहीं होता अलग। नहीं होता अलग! पर यह एक क्षण में मकान में आग लग गयी यह खबर आते ही-चाहे न भी लगी हो आग-किसी ने चिल्लाया कि मकान में आग लग गयी और जैसे कि अचानक सारा यंत्र बंद हो गया वासना का-भूल गये आप, बात समाप्त हो गयी।
क्या हुआ? आपकी मौजूदगी हट गयी। इतना.जरूरी काम आ गया इमर्जन्सी का- आपत्कालीन कि अब चित्त को और कहीं होना संभव नहीं रहा, वह हट गया। इस हट जाने में ही वासना तिरोहित हो गयी। वासना का यंत्र अपनी जगह है, आप भी यंत्र के भीतर मौजूद हैं, फिर फर्क क्या पड़ा? फर्क इतना ही पड़ा कि आप वासना के निकट उपस्थ्ति न रहे; आपकी उपस्थ्ति खो गयी; आप अनुपस्थित हो गये; आपका ध्यान वहां से हट गया।

वासना से मुक्ति चेष्टा से नहीं मिलती, निष्चेष्ट साक्षी भाव से मिलती है; क्योंकि आप कर्ता नहीं हैं।
तो ऋषि इस सूत्र को शुरू करता हैः
"मैं कर्ता नहीं हूं। मैं भोक्ता भी नहीं।"
कर्ता नहीं हूं, यह भी समझ में आ जाये; मैं भोक्ता भी नहीं हूं, यह और
भी दुस्तर; क्योंकि करने में तो हम बाहर की तरफ कुछ करते हैं। कर्म हमेशा बाहर की तरफ होता है, और भोग भीतर की तरफ होता है। जब हम कुछ करते हैं तो हम अपने से बाहर जाते हैं और जब हम कुछ भोगते हैं तो अपने भीतर जाते हैं।
भोग भीतर की तरफ होता है, इसलिए और भी निकट है। इसलिए यह भी आदमी समझ
ले कि मैं कर्ता नहीं हूं, यह समझना बहुत मुश्किल हो जाता है कि मैं भोक्ता भी नहीं। लेकिन जो कर्ता नहीं है वह भोक्ता भी नहीं हो सकता; क्योंकि भोग भी गहन कर्म है। भोगना भी कर्म है। मैंने भोगा, ऐसा कहना भी सूक्ष्म कर्म है; मैंने किया, यह तो कर्म है ही स्थूल; मैंने भोगा, यह भी सूक्ष्म कर्म है।
तो जब कर्ता का भाव बाहर होता है तो भीतर भोक्ता का भाव होता है। और जितना बड़ा कर्ता का भाव होता है उतनी ही भोक्ता की आकांक्षा होती है। इसलिए जितना बड़ा कर्ता का भाव, उतना ही जीवन में विषाद आता है; क्योंकि उतनी ही भोग की वासना। और जितनी बड़ी वासना, उतनी ही अतृप्ति छूट जाती है। इसलिए बहुत करनेवाले अक्सर बहुत दुखी पाये जाते हैं; क्योंकि उनको लगता है, इतना किया... और मिला क्या? भोगा क्या? सच तो यह है कि आदमी करता चला जाता है इस आशा में कि कल भोगेगा, कल भोगेगा-जीवन भर करता है और भोग का क्षण नहीं आ पाता।
यह हमारे भीतर एक दूसरा सामीप्य है। जब आप भोजन कर रहे हैं, तो यह भी
हम मान लें कि भूख आप पैदा नहीं करते इसलिए उसके आप कर्ता नहीं; यह कठिन नहीं है बात। भूख आप पैदा नहीं करते, भूख लगती है। और न लगे तो कोई उपाय नहीं है कि आप उसको पैदा कर लें। तो साफ इतना तो है कि भूख लगती है, हम उसे पैदा नहीं करते। इसलिए भोजन कर रहे हैं क्योंकि भूख लगी है।
लेकिन स्वाद तो हमें आता है-सुखद लगता है, दुखद लगता है; तिक्त लगता है, कड़वा लगता है, मीठा लगता है; स्वाद तो हमें मिलता है। तो मान लो कि भूख हमें नहीं लगती, भूख हम नहीं लाते, लगती है; भूख के हम पैदा करनेवाले नहीं, लेकिन स्वाद तो हम लेते ही हैं। स्वाद और भी सूक्ष्म है। सच में ही क्या हम स्वाद लेते हैं? या स्वाद भी हमारे यंत्र में ही घटित होता है? और सिर्फ निकटता के कारण हमें लगता है कि मैं स्वाद ले रहा हूं!
स्वाद भी हमारे यंत्र में ही घटित होता है। इसलिए जब आप बुखार में होते हैं तो स्वाद नहीं ले पाते। आप तो वही हैं, लेकिन यंत्र अभी शिथिल है, और स्वाद लेने में सक्षम नहीं है। यंत्र में ही स्वाद घटित होता है। पावलव ने रूस में बहुत से प्रयोग किये हैं। उन प्रयोगों में इस संबंध में कुछ समझने जैसी बात है। पावलव कहता है कि स्वाद सुखद है या दुखद... आप भोजन कर रहे हैं; जब भी आप भोजन करते हैं तब एक दुर्गंध आपके चारों तरफ छोड़ दी जाती है, तो धीरे-धीरे भोजन करना दुखद हो जायेगा। या जब भी आप भोजन करते हैं तो आपकी कुर्सी से एक बिजली का शॉक आपको दे दिया जाता है। तो दस-पंद्रह दिन में भोजन करते वक्त आप दुख की प्रतीक्षा करते रहेंगे कि अब... ! आज शॉक न भी दिया जाये तो भी भोजन में स्वाद नहीं ले पायेंगे।
अनेक माताओं की तकलीफ यही होती है कि उनके बच्चे भोजन नहीं करते... लाख चेष्टा करती हैं और भोजन नहीं करते। और उनको ख्याल में नहीं होता कि बच्चे का इसमें कसूर नहीं है। असल में बच्चे के साथ, जब भी उसने दूध मांगा है, मां ने जो व्यवहार किया है, वह भोजन को ही अरुचिकर कर गया है; एसोसिएशन हो गया है। जब भी बच्चे ने दूध मांगा है, तभी मां ने बहुत सदव्यवहार नहीं किया है। तो वह जो दुर्व्यवहार है वह भोजन के साथ संयुक्त हो गया है।
पुरुषों के मन में इतना आकर्षण स्त्रियों के स्तनों के प्रति वस्तुतः माताओं का बच्चों के साथ स्तन को छुड़ाने की चेष्टा का परिणाम है। हम मां अपने बच्चे से स्तन को छुड़ाने की कोशिश में लगी है कि जल्दी अलग हो जाओ। वह जिंदगी भर अलग नहीं हो पाता; बुढ़ापे तक भी वह स्तन को ही देखता रहता है। यह

जो पुरुषों का इतना आकर्षण है स्तन में, यह अकारण नहीं है। वह बचपन... जब स्तन सब कुछ था, जीवन था, इस बुरी तरह छीना-झपटा गया है उससे कि अब वह जिंदगी भर उसी स्मृति के आसपास घूमता रहता है; वह उसके मन को पकड़े ही रहता है।
और स्तन में एक बिल्कुल ही विमूढ़ता पैदा हो जाती है; बिल्कुल विमूढ़ता पैदा हो जाती है। स्त्री के शरीर में वही महत्वपूर्ण मालूम होने लगता है। चित्रकार जिंदगी इसी में गंवाते रहते हैं। लोग कहते हैं, बहुत मेधावी हैं, वे कुल इतना काम कर रहे हैं कि स्त्रियों के स्तन बनाते रहते हैं; मूर्तिकार मूर्तियां गढ़ते रहते हैं; कवि कवितायें लिखते रहते हैं। ये सब बुद्धिमान लोग हैं।
स्तन के आसपास इतनी कविता, इतनी मूर्ति, इतने चित्र विक्षिप्तता बताते हैं। आदमी पागल है। लेकिन घटना छोटी सी है, जिससे सब शुरुआत हो जाती है। इसलिए जिन कौमों में माताएं स्तन पिलाने में बच्चों को आनंद लेती हैं, उन कौमों में स्तन का कोई आकर्षण नहीं होता। आदिवासी कौमें हैं, प्रिमिटिव, बलकुल अविकसित तो मां आनंद लेती है।
और यह बड़े मजे की बात है कि दूध पीने में बच्चे को ही आनंद आता है, यह आधी बात है; दूध पिलाने में मां को उससे ज्यादा आनंद आता है-अगर संस्कार और सभ्यता और दूसरी बातें बाधा न डालें, तो मां हलका अनुभव करती है, रिलेक्स्ड होती है; बच्चा उसके ह.जारों तनावों को मुक्त करा देता है। इसलिए जो कौमें आदिम हैं उन कौमों में कोई स्तन रस नहीं है। इसलिए हमें हैरानी होती है कि आदिवासी स्त्रियां स्तन उघाड़े हुए क्यों चल रही हैं? हैरानी इस पर होनी चाहिये कि हम ढांककर क्यों चल रहे हैं? जो है उसको ढांकने में पागलपन है। और बड़ा मजा यह है कि ढांकने की कोशिश दिखाने की चेष्टा का हिस्सा है; क्योंकि अगर स्तन बिल्कुल उघड़े हों तो कोई भी नहीं देखेगा। देखने जैसा कुछ भी नहीं है। शरीर के जो भी हिस्से उघड़े हैं उन्हें कोई नहीं देखता। जिस हिस्से को दिखाना हो उसे खूब साज-संवारकर ढांकना चाहिये, तो वह दिखाई पड़ता है।

तो दोहरा हिसाब है। जिसे दिखाना हो उसे ढांको, जिसे प्रगट करना हो उसे छिपाओ। यह जो सारा का सारा रोग पैदा हो जाता है, फिर इसके परिणाम होने शुरू हो जाते हैं।
भोजन आप कर रहे हैं, उसमें जो भी सुख-दुख मालूम पड़ता है, वह आसपास की व्यवस्था से निर्मित होता है। और आपके यंत्र पर जो संघात पड़ जाते हैं, आपका यंत्र वही कहे चला जाता है कि यह सुखद है, यह दुखद है। इसलिए हैरानी होती है, जो लोग मछली नहीं खाते उन्हें हैरानी होती है कि मछली कोई कैसे खा सकता है? इतनी बदबू आती हुई मालूम होती है। लेकिन किसी को बड़ी स्वादिष्ट है।
तो स्वाद क्या है? एक कंडीशनिंग है, एक आदत है। और वह आदत आपके यंत्र में घटित होती है। आप उसके पीछे निकट ही मौजूद हैं। वह निकटता इतनी ज्यादा है कि आपसे जो भी प्रकाशित होता है वह आप समझ लेते हैं, मैं ही हूं। स्वाद भी आपके बिना अनुभव नहीं हो सकता इसलिए आप स्वाद हो जाते हैं, भोक्ता हो जाते हैं।
वस्तुतः गहरे में देखें तो स्वाद के भी आप साक्षी ही हैं। आपको पता चलता है कि मुझे मीठा स्वाद आ रहा, कड़वा स्वाद आ रहा-जिसे पता चलता है वह आप हैं। मीठे का स्वाद आप नहीं हैं। मीठे के स्वाद की जिसे बोध हो रहा है वह आप हैं; क्योंकि तीन घटनाएं घट रही हैंः मीठा खाया जा रहा है, मीठे के स्वाद का अनुभव हो रहा है, अनुभव का बोध हो रहा है। तो जिसे यह अनुभव का बोध हो रहा है वह आप हैं।
इसलिए ऋषि कहता हैः "न मैं कर्ता हूं, न मैं भोक्ता हूं, मैं तो केवल प्रकृति का साक्षी हूं।" देख रहा हूं... और सब कुछ प्रकृति में हो रहा है। पुरुष केवल देख रहा है, सब कुछ प्रकृति में हो रहा है। सब कुछ आसपास हो रहा है, आप केवल देख रहे हैं।

लेकिन यह देखना खो जाता है-या तो हम कर्ता बन जाते हैं या हम भोक्ता बन जाते हैं। जैसे ही हम कर्ता या भोक्ता बनते हैं वैसे ही पीड़ा शुरू हो जाती है।
सुना है मैंने कि एक आदमी के मकान में आग लग गयी है। वह रो रहा है छाती पीटकर। तभी एक पड़ोसी आकर कहता है कि घबड़ाते क्यों हो? क्योंकि मुझे पक्की तरह पता है, कल तुम्हारे लड़के ने तो यह मकान बेच भी दिया; पैसे भी ले लिए गये हैं। आंसू खो गये, रोना खो गया, वह आदमी एकदम स्वस्थ हो गया। क्या हुआ? मकान अभी भी जल रहा है। यह आदमी वही का वही है। अभी कहीं भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अगर हम खोजने जायें प्रकृति में तो रत्ती भर फर्क नहीं हुआ है। प्रकृति ठीक वही है। मकान की लपटें और बड़ी हो गयी हैं। जोर से रोना चाहिये इसे, लेकिन अब नहीं रो रहा है। सन्निधि टूट गयी, निकटता मिट गयी-अपना नहीं है, बात खतम हो गयी।
लेकिन, तभी मैंने सुना है कि लड़का भागा हुआ आया, और उसने कहा कि क्या
कर रहे हो खड़े हुए? बाप भी देख रहा है; लड़के ने कहा, क्या कर रहे हो खड़े हुए? बातचीत चली थी, मकान बिका नहीं है। फिर रोना वापिस आ गया, फिर छाती पीटी जाने लगी। प्रकृति अब भी ठीक वैसी की वैसी है। पर यह बीच में क्या हुआ? एक घड़ी भर को, क्षण भर को, यह बीच में क्या हो गया था? आग की लपटें थीं, लेकिन आंसू क्यों खो गये थे? निकटता टूट गयी थी। जैसे ही हमें लगता है मेरा, निकट हो जाता है; जैसे ही लगता है, मेरा नहीं, निकटता टूट जाती है।
निकटता ही सूत्र है; सामीप्य ही सूत्र है-हमारे सुख का, दुख का, कर्ता होने का, भोक्ता होने का, निकटता ही सूत्र है।
सुना है मैंने, एक सराय में एक आदमी रात मेहमान हुआ और सुबह चार बजे उठकर चला गया। साल भर बाद वापिस लौटा उसी राह से, सराय में रुका। सराय का मालिक हैरान होकर खड़ा हो गया और कहा कि तुम अभी जिंदा हो? उस आदमी ने कहा, क्या मतलब? क्या तुमने कोई अफवाह सुनी कि मैं मर गया? उसने कहा कि अफवाह का सवाल ही नहीं, जिस रात तुम यहां रुके थे उस रात जितने लोगों ने भोजन किया, वे सब सुबह मर गये, सिर्फ तुम चार बजे चले गये थे; वह भोजन जहरीला हो गया था। उस आदमी ने कहा, क्या कहा? और बेहोश होकर गिर पड़ा।
यह वास्तविक तथ्य है। हुआ क्या? अचानक वही घटना फिर घट गयी जो उस मकान
के जलते हुए घटी। उस समय बीच में फासला टूट गया, इसमें वापिस समीपता आ गयी। जहर उसने समीप अनुभव किया; बेहोश हो गया और मर गया। जहर से कम लोग मरते हैं, जहर की समीपता से अधिक लोग मरते हैं। जहर इतना प्रभावी नहीं है; उससे भी समीपता चाहिये।
मैं ब्रह्मयोगी की बात कर रहा था, जो दस मिनट श्वास रोक लेते थे; वे तीस मिनट तक किसी भी तरह का जहर भी अपने शरीर में रख लेते थे-मुंह से ले जात थे, पेट में रख लेते थे; और पेशाब से बाहर निकाल देते थे। तीस मिनट तक वे रख सकते थे। लेकिन रंगून में उनकी मौत हई, क्योंकि तीस मिनट से ज्यादा नहीं रख सकते थे। मगर तीस मिनट थोड़ा मामला नहीं है। जो भी रसायनविद हैं वे चकित थे और हैरान थे, क्योंकि जो जहर जीभ पर जाते ही मौत बन जाता है... जीभ पर जाते ही; खबर देने को भी नहीं बचता आदमी-जीभ पर जहर रखा और मर जाता है... यह भी नहीं कह पाता कि मैं मर रहा हूं। वह जहर भी यह आदमी तीस मिनट तक शरीर में रख लेता था।
तो हैरानी की... बात क्या थी? राज क्या था? इसकी भी मौत हो गयी। ब्रह्मयोगी की भी मौत इसी प्रयोग में, रंगून में हुई। रंगून विश्वविद्यालय में उन्होंने जहर लिया, और जहां वे रुके थे उस तरफ चले, लेकिन बीच में गाड़ी बिगड़ गयी, और पहुंचे तो पैंतीस मिनट हो गये थे। तो वे बेहोश ही पहुंचे, तीस मिनिट से ज्यादा तो वे रख ही नहीं सकते थे। वह पांच मिनट की जो देरी हो गयी गाड़ी के बिगड़ जाने से, वह मौत का कारण बनी। वह तो उनका सीक्रेट था कि तीस मिनट में अपनी जगह पहुंच गये, उसको निकाल डालते थे।
उनसे जब भी पूछा जाता था कि तुम करते क्या हो? तीस मिनट भी इस जहर को करते क्या हो? तो वे कहते थे, मैं अपनी समीपता नहीं बनने देता; मैंने जहर लिया है इस भाव को मैं नहीं बनने देता। बस, तीस मिनट से ज्यादा मेरा बस

नहीं है। तीस मिनट में मैं शिथिल होने लगता हूं। और ऐसा लगता है कि जहर लिया है, कहीं मर न जाऊं। जैसे ही यह ख्याल आता हे वैसे ही उपद्रव शुरू हो जाता है। सामीप्य! यह ख्याल तत्काल चेतना को निकट लाता है। और चेतना कर्ता और भोक्ता हो जाती है। चेतना दूर रखी जा सके तो कुछ भी हो सकता है। हिप्नोटि.जम, सम्मोहन के आपने अगर प्रयोग देखे हों तो आप चकित होंगे। चकित होंगे बिल्कुल।
आपको अगर दो कुर्सियों पर लिटा दिया जाये पीठ के बल, दूर-दूर कुर्सियां रख दी जायें, एक तरफ पैर रखा जाये, एक तरफ आपका सिर रखा जाये, तो क्या आप सीधे पड़े रह सकते हैं? एक कुर्सी पर आपके दोनों पैर टिका दिये, दूर रखी एक कुर्सी पर आपकी गर्दन टिका दी, यह बीच का हिस्सा क्या सीधा टिका रह सकता है? यह कैसे टिकेगा? आप फौरन नीचे गिर जायेंगे।
लेकिन आपको सम्मोहित कर दिया-बेहोश-और आपको कहा कि आप एक लकड़ी के तख्ते हो गये हो, जो झुक ही नहीं सकता, और पैर आपके कुर्सी पर टिका दिये और सिर आपका दूसरी कुर्सी पर-आपके ऊपर आदमी चल जाये इधर से उधर तक, आप झुकेंगे नहीं। क्या हो गया? शरीर वही है, इसलिए शरीर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हड्डियां जहां से झुकती थीं वहीं अब भी झुकती हैं। आपकी छाती पर एक आदमी बैठा है और कमर नहीं झुक रही; बात क्या हो गयी?
सामीप्य हटा लिया गया। जो झुकने का भाव था सदा का कि मैं झुक जाऊंगा; अगर ऐसा हुआ तो गिर जाऊंगा, वह तोड़ दिया गया-वह भाव भर तोड़ दिया गया, शरीर वही का वही है। चेतना को वहां से हटा लिया गया और चेतना को नया भाव दे दिया गया कि तुम लकड़ी के सख्त तख्ते हो।
राममूर्ति अपनी छाती पर हाथी को खड़ा कर लेता था; राज क्या था? छाती इतनी मजबूत नहीं होती कि हाथी खड़ा हो जाये-किसी की भी नहीं होती, न राममूर्ति की थी। हो नहीं सकती; वह कोई सवाल ही नहीं है। आदमी की छाती आदमी की छाती है, कितनी ही मजबूत हो; हाथी का पैर चकनाचूर कर देगा। राममूर्ति के भी उस प्रयोग में सामीप्य को हटा लेने की कला के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। और आप भी हटा लें तो हाथी खड़ा हो जाये तो आप नहीं टूटेंगे। टूटते ही इसीलिए हैं कि टूटा, यह ख्याल सघन हो जाता है; हाथी नहीं तोड़ता, यह बहुत मजे की बात है।
लाओत्से ने कहा है कि बैलगाड़ी में चार लोग बैठे हए है। एक शराब पीये हुए है, तीन होश में है। बैलगाड़ी उलट जाती है, यह शराबी को चोट नहीं लगती, तीनों के हाथ-पैर टूट जाते हैं। शराबी की क्या कला है? इसको क्या खूबी मिली हुई है कि ये जनाब गिरे, सबसे ज्यादा इनका टूटना चाहिये था। शराब पीये बैठे हैं, नरक का रास्ता तय कर रहे हैं, इनकी हड्डी-पसली नहीं टूटी, ये मजे से सड़क के किनारे लेटे हुए हैं; और बाकी तीनों चीख-चिल्ला रह हैं, उनकी हड्डी-पसलियां सब टूट गयीं!
असल में इसको पता ही नहीं है कि गाड़ी उलट रही है हाथ-पैर टूट जायेंगे।
यह होश चाहिये था, तो सामीप्यता आती। ये बेहोश हैं। इन्हें पता ही नहीं है कि गाड़ी उलट गयी है या चल रही है या क्या हुआ कि गाड़ी में हैं कि गाड़ी के बाहर हैं। तो हड्डी के पास समीप नहीं आ पाते इसलिए हड्डी बच जाती है। इसलिए बच्चे इतने गिरते रहते हैं। शराबी आप देखते हैं, सड़क पर गिरे पड़े रहते हैं। कोई खास नुकसान होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। सुबह वे फिर भलेत्ताजे अपने रास्ते पर चले जा रहे हैं। आप जरा इतना गिरकर देखो... बिना पीये! बस एक ही बार काफी होगा, फिर बिस्तर से उठाना मुश्किल हो जायेगा। समीपता! तत्काल चेतना समीप आ जाती है कि मरा, हड्डी टूटी, उलट गये। तो जो-जो आप कह लेते हैं भीतर संक्षिप्त में, वह हो जाता है। अगर यह दूरी बनी रहे... तो भेद पड़ता है... तो भेद पड़ता है।
"न मैं कर्ता, न मैं भोक्ता, मैं केवल प्रकृति का साक्षी हूं। और समीपत्व के कारण सचेतनपन का आभास होता है और वह वैसी ही क्रिया करने लगती है।"
और वैसा ही मान लेती है कि ऐसा हूं। यह हमारी मान्यता है। हमारा संसार हमारी मान्यता है। और जब तक हमारी मान्यता न टूटे तब तक हमारे मोक्ष का कोई उपाय नहीं।

"मैं तो स्थिर, नित्य, सदैव आनंदरूप, शुद्ध, ज्ञानमय निर्मल आत्मा हूं
और सब प्राणियों में साक्षीरूप व्याप्त हो रहा हूं, इसमें संशय नहीं।" जैसे ही कर्ता, भोक्ता का भाव विदा हो, साक्षी का अनुभव शुरू होता है। जैसे ही साक्षी का अनुभव आप करना शुरू करें, भोक्ता और कर्ता का भाव टूटना शुरू होता है। कहां से शुरू करें, यह आप पर निर्भर है। कहीं से भी शुरू करें, दूसरी घटना घटनी शुरू होती है। करते में कर्ता न रहें, भोगते में भोक्ता न रहें तो साक्षी का जन्म होने लगता है। साक्षी के जन्म की कोशिश करते रहें, निरंतर होशपूर्वक रहने की कोशिश करें तो भोक्ता और कर्ता विलीन होने लगते हैं। ये एक ही चीज के दो छोर हैं।
इसके दो उपाय हैंः एक उपाय है ध्यान, और एक उपाय है तप। तप है उपाय भोक्ता न रहने का, कर्ता न रहने का; और ध्यान है उपाय साक्षी होने का। कहीं से भी शुरू करें, घटना वही घट जायेगी।
यह समझ लेने जैसा है कि तपस्वी दुख में क्यों खड़ा होता है! आखिर तपस्वी दुख को क्यों वरण कर लेता है? क्या.जरूरत है कि महावीर धूप में नग्न खड़े हों? क्या.जरूरत है कि सर्दी में उघाड़े बदन कंपते रहें? क्या .जरूरत है कि नंगे पैर ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चलें? और क्या.जरूरत है कि महीनों भोजन न लें? या तो वे पागल हैं, जो कि नहीं है तथ्य; क्योंकि उन जैसा शांत, और उन जैसा स्वस्थ, और उन जैसा विवेकपूर्ण व्यक्ति खोजना मुश्किल है। इसलिए पागल कहने का उपाय नहीं है।
पश्चिम के मनस्विदों को कभी-कभी जीसस के पागल होने पर शक होता है, लेकिन महावीर पर वह भी शक नहीं कर सकते; क्योंकि जीसस के कुछ वक्तव्य ऐसे मालूम पड़ते हैं कि.जरूर यह आदमी पागल हो गया होगा। वक्तव्यः कि मैं ईश्वर का बेटा हूं, कि मेरे अतिरिक्त ईश्वर का कोई बेटा नहीं, कि मैं सारे... सारे सृष्टि-साम्राज्य का सम्राट हूं, कि मोक्ष में प्रभु के सिंहासन के बगल में मेरा सिंहासन होगा, कि जो मेरे साथ आयेंगे वे बच जायेंगे और जो मुझसे भटकेंगे वे अनंत नरक में गिर जायेंगे। और फिर अचानक फांसी पर लटकाया जाना इस आदमी का, और इस आदमी का ऐसे ही मर जाना जैसे कोई भी साधारण आदमी मर जाता है।
यह किस साम्राज्य का मालिक था? और यह किसको बचाने की बात कर रहा था और
कह रहा था कि सारे जगत को मैं बचा लूंगा, और खुद को नहीं बचा पाया! और अगर यह परमात्मा का बेटा ही था, तो परमात्मा ने कैसे आज्ञा दी कि इसको सूली लग जाये?
शायद भ्रांति में रहा होगा, ऐसा पश्चिम के मनस्विद को शक पैदा होता है। उस शक में सचाई नहीं है; जीसस की भाषा को समझने में भूल है। जीसस जिनसे बोल रहे थे, वे थे अति ग्रामीण, अशिक्षित लोग; उनसे जो भाषा बोलनी पड़ती थी वह भाषा वेदांत की नहीं हो सकती थी, वह भाषा संसार की ही हो सकती थी। लेकिन महावीर पर तो ऐसा शक भी नहीं उठाया जा सकता, क्योंकि जो भाषा बोल रहे हैं वह अति सुसंस्कृत है; उसमें कहीं छिद्र भी नहीं खोजा जा सकता है कि इस आदमी का दिमाग खराब रहा हो। फिर ये महावीर अपने हाथ से दुख को क्यों खोजते फिरते हैं? इसका कारण हैः भोक्ता और कर्ता को तोड़ने का प्रयोग है यह।
असल में सुख में आप आसानी से भोक्ता होते हैं, दुख में आसानी से नहीं
हो पाते। दुख भोक्ता होने ही नहीं देता। पैर में कांटा गड़ रहा है, उस समय आप साक्षी हो ही जाते हैं; क्योंकि इसको कैसे भोगियेगा? इसमें कोई रस तो आ नहीं रहा; इसमें कोई स्वाद तो मिल नहीं रहा; इससे आप दूरी चाहते ही हैं। दुख से एक दूरी निर्मित हो जाती है अपने आप, सामीप्य टूट जाता है; क्योंकि दुख के कोई भी निकट नहीं रहना चाहता। दुख से हमारी निकटता की आकांक्षा ही नहीं है... दुख आ जाये, यह दूसरी बात; पर हम अपनी दूरी कायम रखना चाहते हैं। लेकिन जब सुख आता है, तब हम सरककर बिल्कुल पास आ जाते हैं; तब हम दूरी नहीं रखना चाहते हैं। जब कोई गले में फूल-मालाएं डाल दे, तो ऐसा नहीं लगता कि हम अब साक्षी रहें; इस क्षण में साक्षी रहने में कोई रस नहीं मालूम पड़ेगा; इस समय तो ऐसा लगेगा कि हम बिल्कुल गला ही गला हो जायें, और फूल मालाएं ही फूल मालाएं लद जायें। इस समय ऐसा भी नहीं होगा कि यह आदमी गलती

कर रहा है; इस समय ऐसा भी नहीं होगा कि यह किसी और के गले में डालने आया होगा, मेरे गले में डाल दी है; इस समय ऐसा भी नहीं होता कि यह सब प्रकृति का खेल है; इस समय मन कहता हैः प्रकृति का खेल नहीं, यह तो बहुत पहले डाली जानी चाहिए थीं, इतनी देर तुमने की, सिर्फ नासमझी के कारण, अब तुम समझ पाये मुझे; अब तक समझ नहीं पाये थे; जो कभी का होना था वह अब हुआ है।
लेकिन कोई जूते की माला गले में डाल दे लाकर, एक फासला तत्काल निर्मित
हो जाता है-हम जानते हैं, यह हमारे गले में नहीं डाली गयी; यह आदमी भूल में है; यह किसी और को डालने लाया होगा-या पागल है; या दुष्ट है; या शैतान है। हम जिम्मेवार नहीं रहते उस वक्त, वह आदमी जिम्मेवार होता है। और जब कोई फूल माला डालता है तब हम जिम्मेवार होते हैं, वह आदमी जिम्मेवार नहीं होता। तो निकटता बनती है फूल की माला से। सुख से एक निकटता की आकांक्षा है, क्योंकि सुख हमने चाहा है। जिसे हमने चाहा है उसके हम पास सरकते हैं। दुख हमने कभी चाहा नहीं, सदा चाहा है कि न हो, इसलिए मिल भी जाता है तो हम दूर हटते हैं।
तपश्चर्या का सूत्र बन जाता है यह कि दुख में खड़े हो जाओ... ताकि धीरे- धीरे, धीरे-धीरे, धीरे-धीरे साफ हो जाये कि मैं भोक्ता नहीं, मैं कर्ता नहीं।
तो महावीर तीस दिन भूखे रहते हैं; भूख में जानते हैं कि यह भूख है, मै साक्षी हूं। फिर इकत्तीसवें दिन गांव में आकर भोजन लेते हैं, तब भोजन में जानते हैं कि न मैं भूख था, न मैं भोजन हूं; वह भी मेरे बाहर घटना थी, यह भी मेरे बाहर घटना है। दुख में देखते रहते हैं कि दूरी है, फिर उसी दूरी को सुख में भी निर्मित करते हैं।
तो तप एक सूत्र है। तप का अर्थ हुआः हम कर्ता और भोक्ता को तोड़ दें। तो साक्षी का जन्म होना शुरू हो जाता है; इधर कर्ता-भोक्ता बिखरा कि उधर साक्षी जन्मने लगता है।
इसे कभी प्रयोग करके देखें।.जरूरी नहीं कि कोई दुख को खोजने जायें, क्योंकि दुख आपको खोजते हुए काफी ऐसे ही चले आते हैं। जब दुख आये तब थोड़े तप के सूत्र का प्रयोग करें। आपको महावीर जैसा तप करने की.जरूरत भी नहीं है, क्योंकि महावीर जिस घर से आते थे वहां उन्हें काफी सुख मिल चुका था। शायद उन्हें दुख का अनुभव ही नहीं था, इसलिए दुख चुनना पड़ा।
आप जहां जी रहे हैं वहां दुख ही दुख है, कहीं और दुख खोजने की.जरूरत नहीं। उस दुख में ही कर्ता और भोक्ता को तोड़ने को प्रयोग करें। जब बीमारी आये तब बीमारी के भीतर दूर पड़े रह जायें और बीमारी को देखते रहें। ऐसा मत अनुभव करें कि मैं बीमार हूं, ऐसा ही अनुभव करें कि मैं बीमारी का द्रष्टा हूं। और तब आप बहुत चकित हो जायेंगेः ऐसा अनुभव करते ही बीमारी क्षीण होने लगती है; ऐसा अनुभव करते ही आप और बीमारी के बीच अनंत फासला होने लगता है; ऐसा अनुभव करते ही अचानक आप पाते हैं कि भीतर सब स्वस्थ है-अचानक! जैसे अचानक अंधेरे में कोई दीया जला दे और सब स्पष्ट हो जाये। और वह स्पष्ट होने का जो क्षण है वह साक्षी का क्षण है।
दूसरा सूत्र है, ध्यान। महावीर का जोर तप पर है, बुद्ध का जोर ध्यान पर है। इसलिए बुद्ध और महावीर के अनुयायी एक-दूसरे को बिल्कुल नहीं समझ सके; दोनों समसामयिक, लेकिन अनुयायी बिल्कुल नहीं समझ सके... क्योंकि जोर बिल्कुल अलग-अलग है और विपरीत मालूम पड़ता है। क्योंकि महावीर कहते हैं, तप के बिना ध्यान कैसा! और बुद्ध कहते हैं, ध्यान के बिना तप नासमझी है। और दोनों ही ठीक कहते हैं।
और जगत का मजा यह है कि यहां विपरीत होने से ही दो बातें गलत हो जाती हैं, ऐसा नहीं है; यहां विपरीत बातें भी एकसाथ सही हो सकती हैं। जगत इतना जटिल है... और रहस्यपूर्ण... कि यहां विपरीत बातें भी.जरूरी रूप से दोनों ही गलत हों ऐसा नहीं है।
सामान्य तर्क कहता है कि अगर दो बिल्कुल विपरीत बातें हैं तो या तो दोनों गलत होंगी, यह हो सकता है; या एक सही होगी और एक गलत होगी, यह हो सकता है; लेकिन यह कभी नहीं हो सकता कि दोनों ही सही हों। लेकिन यह जीवन के रहस्य से अपरिचय के कारण है; जीवन का रहस्य कहता है, दोनों एकसाथ सही हो

सकती हैं। इसलिए महावीर और बुद्ध दोनों एकसाथ सही हैं, बराबर सही हैं; यात्रा का पथ, दिशा अलग-अलग है।
महावीर शुरू करते हैं भोक्ता... कर्ता को तोड़कर; जो टूटकर बच जाता है
वह साक्षी है। बुद्ध साक्षी को जगाना शुरू करते हैं; साक्षी जगता है तो ये टूटने लगते हैं दोनों। जिस दिन साक्षी पूरा जग जाता है, कर्ता-भोक्ता टूट जाते हैं। इसलिए बुद्ध का प्रभाव सारी दुनिया में महावीर से बहुत ज्यादा पड़ा, उसका कारण है। उसका कारण मौलिक रूप से यही है कि कोई... कोई आदमी इतने सुख में नहीं है कि सब दुख को खोजने जाये; अब आदमी इतने दुख में हैं कि और दुख को वरण करने की बात ही व्यर्थ मालूम पड़ती है। ऐसे की काफी दुख है। बुद्ध की बात ज्यादा समझ में पड़ी, क्योंकि बुद्ध की बात दुख बढ़ाने की कोशिश में नहीं है, सीधे साक्षी का प्रयोग है जिससे दुख कम होगा।
तो महावीर की बात, हो सकता है, किसी दिन प्रभावी हो जाये। जिस दिन दुनिया बहुत समृद्ध हो उस दिन बुद्ध की बात खो जाये। संभव है, आनेवाली सदी में अमरीका में महावीर की बात का पुनरुद्घोष हो जाये-इतनी समृद्धि हो जाये कि दुख में भी रस आने लगे; इतना सुख हो जाये कि दुख में भी परिवर्तन मालूम पड़े कि चलो...
अभी दो विदेशी संन्यासिनियां यहां वृक्षों के नीचे सो रही हैं। तो आज मुझे सुबह आकर उन्होंने कहा कि हम बड़े परेशान हैं कि सभी भारतीय इससे बहुत चिंतित हैं। और जो भी मिलता है, वह कहता है कि ऐसा मत करो, यह क्या कर रहे हो? और हमें बहुत आनंद आ रहा है। तो मैंने उनको कहा, तुम्हें पता नहीं, भारतीय को आनंद अभी नहीं आ सकता वृक्ष के नीचे; हम वृक्ष के नीचे वैसे ही पड़े हैं; तुम्हे आ सकता है, क्योंकि वृक्ष से तुम्हारे फासले इतने हो गये हैं कि वृक्ष के नीचे होना एक अभूतपूर्व घटना है।
दोनों से किसी भी भांति घटना घटित हो, साक्षी शेष रह जाये, तो यह जो साक्षी है, यह फिर हमारे भीतर भला हो, हमारा नहीं है; यह फिर सभी में व्याप्त है। साक्षी का अनुभव करते ही अहंकार खो जाता है, क्योंकि अहंकार कर्ता और भोक्ता का जोड़ है-मैंने किया, मैंने भोगा, मैंने पाया, इससे ही "मैं" निर्मित है; मैंने किया नहीं, मैंने भोगा नहीं, मैंने पाया नहीं, तो मैं कहां हूं फिर? वह जोड़ खो जाता है।
तो साक्षी मेरा नहीं होता। इसे ठीक से समझ लेंः साक्षी मेरा नहीं होता, साक्षी होता हूं मैं उसका जिसे मैं मेरा कहता रहा हूं। साक्षी होते ही "मैं" विलीन हो जाता है। तो साक्षी हमारे भीतर फैला हुआ सागर है। वह मेरे भीतर भी है, आपके भीतर भी है-सबके भीतर है-कहीं सोया है, कहीं जगा है, कहीं करवट ले रहा है, कहीं पूर्ण होश में है, कहीं सपने देख रहा है, कहीं निद्रा में दबा है।
लेकिन वह साक्षी एक ही है। वह वृक्ष के भीतर भी वही है, पत्थर के भीतर
भी वही है-बहुत गहन निद्रा में, प्रगाढ़ निद्रा में; पक्षु के भीतर भी वही है थोड़ा सा हलन-चलन में; हमारे भीतर भी वही है-कभी-कभी क्षण भर को जागा हुआ; बुद्ध के भीतर भी वही है, और क्राइस्ट के भीतर भी वही है-पूरी तरह जागा हुआ।
ये मात्राओं के भेद हैं। लेकिन जिसने पूरी तरह उसे जागा हुआ जाना, तत्क्षण वह पाता है कि वह सागर है।
साक्षी एक सागर है, जो हम सबको घेरे हुए है-हम सब उसमें हैं, और वह हम में है; लेकिन वह एक है, वह सर्वव्यापक है। ऋषि कहता हैः
"इसमें संशय नहीं।"
इसे जानकर कहता हूं; इसे अनुभव करके कहता हूं; ऐसा मैंने पाया है।
बहुत बार ऐसा लगता है कि ऋषियों के वक्तव्य अत्यंत अहंकार की घोषणाएं हैं। जो नहीं जानते उन्हें लगेगा ही। जो अहंकार की भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं समझते उन्हें लगेगा ही। यह कहना कि इसमें कोई भी संशय नहीं है, क्या दावेदारी नहीं है? क्या कृष्णमूर्ति को अगर यह वचन हम दें, तो कृष्णमूर्ति को नहीं लगेगा कि यह अथॉरिटेटिव है; क्या यह आप्तवचन बनाने की चेष्टा नहीं है? क्योंकि कृष्णमूर्ति पसंद नहीं करेंगे ऐसा कहना कि जो

मैं कहता हूं, इसमें कोई भी संशय नहीं है; क्योंकि वे कहते हैं कि ऐसा कहने का मतलब है कि मैं आप पर दबाव डाल रहा हूं कि मुझे मानो।
शायद उनकी बात भी थोड़ी ठीक है; क्योंकि ऐसे लोग हैं-जो इसीलिए घोषणा करते हैं अधिकारपूर्ण वक्तव्य की ताकि वह मान लिया जाये। लेकिन, ऐसे ही लोग हैं, ऐसा मान लेना भी गलत है। इन ऋषियों जैसे लोग भी हैं जो किसी पर दावेदारी नहीं कर रहे हैं, जो केवल एक तथ्य की सूचना दे रहे हैं... एक विनम्र सूचना है यह कि इसमें मुझे कोई भी संशय नहीं है। और अगर नहीं है संशय, तो क्या यह सूचना करनी गलत है? या कि सिर्फ इस डर से... यह सूचना अधिकारपूर्वक न मालूम पड़े, ऐसा कहना उचित होगा कि मुझे संशय है? या ऐसा कहना उचित होगा कि मुझे पता नहीं, संशय है या नहीं? या ऐसा कहना उचित होगा कि इस संबंध में मैं कुछ भी न कहूंगा कि मुझे संशय है या नहीं है-सिर्फ इस डर से कि किसी के लिए यह अधिकार-वचन न बन जाये?
लेकिन इस डर से भी कहां फर्क पड़ता है? कृष्णमूर्ति जीवनभर कहते रहे कि मैं किसी का गुरु नहीं हूं, और मेरे वचन को आप्तवचन न समझा जाये, और मैं जो कहता हूं उसको मान लेने की कोई.जरूरत नहीं है, मैं कोई अथॉरिटी नहीं हूं। लेकिन बड़े मजे की बात है, सैकड़ों लोग उनको अथॉरिटी मानते हैं, और अधिकारपूर्ण मानते हैं। और मजा तो और भी गहरा तब हो जाता है, और मजाक भी- इसीलिए अधिकारी मानते हैं कि जो आदमी अधिकार का इनकार कर रहा है वह.जरूर अधिकारी है; इसीलिए गुरु के योग्य मानते हैं, कि यह आदमी कहता है कि मैं गुरु नहीं हूं।
अब एक बड़ा खेल है आदमी के मन काः जब कोई आपसे कहता है कि मैं गुरू नहीं हूं तो आपके अहंकार को तृप्ति मिलती है कि चलो, इस आदमी से दोस्ती बन सकती है; इसके पैर छूने की.जरूरत नहीं, इससे गले मिला जा सकता है; इससे दोस्ती बांधी जा सकती है... यह ऊपर नहीं है हमसे कोई।
सच है यह बात कि कोई आदमी ऊपर होने की कोशिश करे, यह अहंकार है; लेकिन कोई आदमी इसकी घोषणा करे कि मैं ऊपर नहीं हूं, इसलिए आपको अच्छा लगे, यह भी अहंकार है-दूसरे बाजू से; आपकी तरफ से। एक आदमी कहता है, मेरे पैर छुओ, तो हमें लगता है यह अहंकारी है; और एक आदमी कहता है, हमारे पैर मत छूना, क्योंकि मेरे पैरों मैं क्या खूबी है? तब आपको पता नहीं लगता कि आपको जो रस मिल रहा है वह आपका अहंकार है। और यह आदमी अगर आपके पैर भी छू दे, तब तो कहना ही क्या!
एक मित्र मेरे पास आये थे, उन्होंने कहा कि बस, मुझे कृष्णमूर्ति ही प्रीतिकर लगे; वही आदमी मालूम होते हैं कि ज्ञानी हैं। मैने कहा, क्या कारण है? उन्होंने कहा, जब मैं उनके पास मिलने गया, तो वे मेरे पास सरक आये और मेरा पैर थपथपाने लगे। उन्होंने किसी प्रेम के क्षण में थपथपाया होगा, लेकिन उन्हें पता नहीं है, पैर उन्होंने थपथपाया होगा, इसका अहंकार थपथपा गया है; यह कह रहा है, यह आदमी जंचता है।
आदमी बड़ी उलझी पहेली है!
तो यह ऋषि जब कहता है, इसमें कोई संशय नहीं, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि
यह कहता है कि मैं जो कहता हूं उसे मानो। न, इसका इतना ही अर्थ है कि मैं जो कहता हूं, वह कहता ही नहीं हूं, जानकर कहता हूं। और इसे कहने में कहीं भी कोई बुराई नहीं है। यह अपने असंशय की घोषणा करता है। और यह घोषणा-अगर ऐसा है, तो बुराई क्या है? अगर इसे ज्ञात है तो कहना ही चाहिए।
सत्य को निवेदन करना ही विनम्रता है।
अब बड़े मजे की बात है, हम कहते फिरते हैं-खासकर इस पिछले सौ वर्षों में
एक नासमझी की बात गहन हो गयी, और लोगों को बहुत प्रभावकारी हुई, क्योंकि हम कहते हैं, सभी लोग समान हैं-कोई नीचा नहीं कोई ऊंचा नहीं। इसका यह मतलब नहीं है कि हम अपने को ऊंचा मानना बंद कर देते हैं, इसका केवल इतना मतलब है, हम किसी को ऊंचा मानना बंद कर देते हैं। जब हम कहते हैं, कोई नीचा नहीं, कोई ऊंचा नहीं, तो उसका यह मतलब नहीं है कि अब हम किसी को नीचा नहीं मानेंगे; उसका कुल मतलब इतना है कि अब हम किसी को ऊंचा नहीं मानेंगे।
और जब हम कहते हैं, सब समान हैं, तो यह बहुत गहरे अर्थों में तो ठीक है, लेकिन उस गहराई का तो हमें कोई पता नहीं। जहां यह बात ठीक है वहां हम गये

नहीं, और जहां हम हैं वहां यह बात बिल्कुल गलत है; हम समान बिल्कुल नहीं हैं; हम बिल्कुल असमान हैं। जहां यह बात ठीक है वहां हम गये नहीं, और वहां यह बात बिल्कुल गलत है जहां हम हैं; वहां यह बात बिल्कुल गलत हैं। और वहां हम इसको मान लेते हैं।
और दूसरी उपद्रव की स्थिति पैदा होती है कि जो व्यक्ति इसको मान लेगा,
हम समान हैं, वह कभी उस जगह नहीं पहुंच पायेगा जहां यह समानता संभव है। जो व्यक्ति असमान मानकर चलेगा वह किसी दिन वहां पहुंच जायेगा जहां समानता संभव है; क्योंकि असमान मानकर जो चलता है वह कुछ करेगा-कोई यात्रा, कोई निखार, कोई संस्कार, कोई परिष्कृति, कोई साधना; लेकिन जिसने माना कि बुद्ध और मैं समान हूं... इससे बुद्ध को कोई नुकसान नहीं होता है। अगर बुद्ध को नुकसान होता होता तो कोई हर्जा भी नहीं था, इससे नुकसान माननेवाले को हो जाता है। लेकिन अगर बुद्ध उससे यह कहें कि नहीं, तू गलती में है, तो लगेगा यह आदमी अहंकारी है... लगेगा, यह आदमी अहंकारी है; अपने ही मुंह से कह रहा है कि तू समान नहीं है!
तो बुद्ध क्या करें? या तो कहें कि नहीं, बिल्कुल समान है-समान ही कहां, मुझसे भी ऊंचा है। तो हमारे अहंकार को तो तृप्ति मिलती है, लेकिन हमारे परिष्कार की और परिवर्तन की यात्रा नहीं हो पाती। और या बुद्ध सहजता से कहें कि नहीं, समान नहीं हैं। तो हमारे अहंकार को बड़ी पीड़ा पहुंचती है।
बुद्ध या महावीर या कृष्ण और क्राइस्ट ने समानता की घोषणा नहीं की है, जहां हम हैं वहां। निश्चित ही वे जानते हैं कि हम समान है किसी बिंदु पर, किसी केंद्र पर, लेकिन वह हमारा अंतिम पड़ाव है; जहां हम हैं वहां हम समान नहीं हैं। यात्रा के पथ पर हममें बड़े फासले हैं, मंजिल पर हममें कोई फासले नहीं है।
इसलिए कृष्णमूर्ति की बात लोगों को प्रीतिकर लगती है लेकिन खतरनाक है; क्योंकि कृष्णमूर्ति यात्रा के पथ पर कहते हैं कि हम सब समान हैं-कोई गुरू नहीं, कोई शिष्य नहीं, कोई आगे नहीं, कोई पीछे नहीं। यह बात सच है मंजिल पर, यात्रा-पथ में यह बात बिल्कुल ही सच नहीं है। और यात्रा-पथ में जिसने इसमें भरोसा किया वह मंजिल पर कभी भी नहीं पहुंच पायेगा।
जब ऋषि कहता है, इसमें संशय नहीं, तो सिर्फ आत्म-निवेदन है। वह यह कहता है, मैंने सोच-सोचकर ऐसा नहीं कहा है, ऐसा जान-जानकर कह रहा हूं।
और भी एक अर्थ में यह बात उपयोगी हैः क्योंकि हम जी रहे हैं अनास्था में, हम जीते हैं संशय में। जैसा मैंने आपसे कहा कि नया पक्षी है, अंडे से निकला है, पर तौलता है बैठकर अपने घोंसले के बाहर। हिम्मत नहीं पड़ती है, क्योंकि कभी उड़ा नहीं... पता नहीं कि ये पंख उड़ने के काम भी आ सकते हैं! यह भी भरोसा नहीं आता कि ये पंख छोटे-छोटे और इतना बड़ा आकाश विराट, और ये पंख इस आकाश में उड़ने के काम पड़ सकते हैं! और भरोसा आये भी कैसे? क्योंकि जो अज्ञात है, उसका भरोसा कैसे हो? जो अपरिचित है, जाना नहीं, जिस मार्ग पर गये नहीं, जिस गगन में उड़े नहीं, उड़ने का विश्वास कैसे जगे?
लेकिन कोई पक्षी उड़ रहा है, तब भी यह भरोसा नहीं आता कि यह उड़ रहा है इसलिए मैं उड़ सकूंगा; क्योंकि.जरूरी नहीं कि जो दूसरा कर रहा हो, वह मैं कर सकूं। लेकिन अगर वह पक्षी कह सके इस पक्षी से कि इसी दशा से मैं भी गुजरा हूं; एक दिन ऐसे ही घोंसले के बाहर बैठकर मैं भी चिंतातुर था; मुझे भी भरोसा नहीं आता था अपने पंखो पर आकाश में जा सकूंगा, क्योंकि अनुभव नहीं था। लेकिन अब मैं तुझसे अनुभव से कहता हूं, इसमें जरा भी संशय नहीं हैः तेरे छोटे-छोटे पंख, लेकिन यह आकाश छोटा है, तू उड़ सकता है। तेरे पंख काफी बड़े हैं, यह पूरा आकाश भी छोटा है, तू उड़ सकता है। इसमें जरा भी संशय नहीं है; मैं तुझे अनुभव से कहता हूं।
और अनुभव का मतलब होता है, जिसने दोनों स्थितियां जानी हों; अन्यथा अनुभव नहीं होता। जिसने पहली ही स्थिति जानी हो, जिसमें यह पक्षी आज पर फड़फड़ाता है लेकिन साहस नहीं जुटा पाता, यह भी जिसने जाना हो और दूसरा आकाश में उड़ने का अनुभव भी जिसने जाना हो, वह इससे कह सकता है-भय न कर, छलांग लगा।

"... इसमें जरा भी संशय नहीं।"
यह घोषणा सहयोगी है। इस घोषणा का यह अर्थ नहीं है... जैसा कि कृष्णमूर्ति अनिवार्यतः ले लेते हैं; वह अर्थ भी होता है, अनिवार्य नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पक्षी अधिकार पैदा कर रहा है, वह कह रहा है कि मैं कहता हूं इसलिए मान ले। यह भी इसका अर्थ नहीं है कि वह पक्षी यह कह रहा है कि तू अनुयायी बन मेरा, मैं तेरा गुरू हूं।
नहीं, यह कुछ भी नहीं है। यह भी हो सकता है-यह भी हो सकता है, लेकिन यह जरूरी नहीं है। वह पक्षी सिर्फ इतना ही कह रहा है कि देख मुझे; और मैं जो कह रहा हूं वह ऐसे ही नहीं कह रहा हूं, जानकर कह रहा हूं। और अगर तू मुझे देख पाये और जान पाये तो शायद यह भरोसा संक्रामक हो जाये और तेरा आत्मविश्वास पैदा हो।
गुरु उपद्रव हो जाता है जब वह अपने में विश्वास पैदा करवाता है; गुरू सहयोगी हो जाता है जब वह दूसरे में स्वयं का विश्वास जगाता है। दोनों ही स्थिति में असंशय होने की घोषणा आवश्यक है।

सर्वसार उपनिषद
सत्रहवां प्रवचन

न नाव, न यात्री

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं नाहं वेदं व्योमवातादिरूपम्। रूपं नाहं
नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानंदरूपम्।। 22।।
नाहं देहो जन्म-मृत्यु कुतो मे
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चेतः शोकमोहौ कुतो मे
नाहं कर्ता बंधमोक्षौ कुतो मे।।
इत्युपनिषत्।। 21।।

मैं समस्त वेदांत द्वारा जाना गया ब्रह्म ही हूं और मैं आकाश, वायु आदि जान पड़नेवाली वस्तु नहीं हूं। मैं रूप नहीं हूं, नाम नहीं हूं और कर्म नहीं हूं वरन केवल सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म ही हूं।

मैं देह नहीं हूं तो फिर मुझे जन्म-मरण कहां से हो?
मैं प्राण नहीं हूं तो मुझे भूख-प्यास कैसे लगे?
मैं मन नहीं हूं तो मुझे शोक-मोह किस बात का हो?
मै कर्ता नहीं हूं तो मुझे बंधन और मोक्ष कैसा?
इस प्रकार का यह रहस्य है।

सर्वसारोपनिषद समाप्त।

ज्ञान जहां तक जाता है वहां तक उस ज्ञान के विस्तार का नाम वेद है। वेद का अर्थ होता हैः ज्ञान, जानना। जिस... जिस मूल से वेद शब्द बना है उसी से विद्वान भी। ज्ञान अर्थात वेद।
लेकिन ऐसा भी आयाम है जीवन का, और अस्तित्व की ऐसी गुह्य स्थिति भी है, जहां वेद भी प्रवेश नहीं कर पाता है, जहां ज्ञान भी नहीं पहुंच पाता है; जहां ज्ञान को भी... ज्ञान को भी बाहर ही छोड़कर प्रवेश मिलता है। इसलिए भारत ने एक अनूठा शब्द गढ़ा है, वह सुना आपने बहुत होगा, समझा शायद ही हो; वह शब्द है, वेदांत। वेदांत का अर्थ होता है, जहां वेद का भी अंत हो जाये, जहां वेद की भी पहुंच नहीं, जहां वेद के भी आगे जाना पड़ता है, जहां वेद भी व्यर्थ हो जाता है, जहां वेद की भी गति नहीं। वेद का अर्थ है, समस्त ज्ञान... जहां तक जाना जा सकता है; वह सब भी काम नहीं पड़ता-जो भी जाना हुआ है वह काम नहीं पड़ता; जो भी जान लिया गया है वह काम नहीं पड़ता; जो भी अनुभव हुआ है वह काम नहीं पड़ता; जो भी ज्ञात संपदा है वह काम नहीं पड़ती-वहां से वेदांत शुरू होता है।
जहां वेद समाप्त होता है वहां से वेदांत शुरू होता है; वेद की जहां सीमा आ जाती है वहां वेदांत का प्रारंभ है। अगर वेदांत को हम ठीक से अंग्रेजी में अनुवादित करें तो उसका अर्थ होगाः नो नॉलेज।
इसकी तीन सीढ़ियां हम समझ लें। एक है, ज्ञान; उसके नीचे एक सीढ़ी है, अज्ञान; और उसके ऊपर एक सीढ़ी है, ज्ञानातीत। अज्ञान-जब हम नहीं जानते; ज्ञान-जब हम जानते हैं... अर्थात न जानने के हम पार गये; और ज्ञानातीत-अर्थात जब हम जानने के भी पार गये।
अज्ञान तो बांधता ही है, ज्ञान भी बांध लेता है। मुक्ति तो तभी है जब ज्ञान भी शून्य हो जाये। अज्ञान तो शून्य होना ही चाहिये, पर उतना काफी नहीं है। तो पृथ्वी पर अज्ञान को मिटानेवाली तो बहुत सी परंपराएं पैदा हुईं, सारे जगत में अनंत धाराएं पैदा हुईं जिन्होंने अज्ञान को मिटाने की कोशिश की, लेकिन संभवतः पूरब के बहुत कीमती लोगों ने एक और नयी धारा पैदा

की और उन्होंने कहा कि एक सीमा आ जाती है जहां ज्ञान को भी मिटाना होता है, वह भी बंधन बन जाता है; न जानना तो बंधन है, जानना भी बंधन बन जाता है। क्योंकि जानने की भी सीमा है। कितना ही कोई जानता हो, जानना असीम नहीं हो सकता है। और असीम को अगर जानना हो, तो समस्त जानने को छोड़ देना पड़ता है। इसलिए गहरे अर्थों में परम ज्ञानी अज्ञानी जैसा हो जाता है-एक अर्थ में अज्ञानी जैसा हो जाता है; क्योंकि ज्ञान उसके पास भी नहीं। एक अर्थ में अज्ञानी से बिल्कुल विपरीत होता है; क्योंकि अज्ञानी इसलिए अज्ञानी होता है कि ज्ञान उसके पास नहीं है, और ज्ञानी इसलिए अज्ञानी होता है-यह परम ज्ञानी-कि उसने ज्ञान को भी छोड़ दिया।
इसे हम ऐसा समझेंः एक आदमी भिखारी की तरह ही पैदा हुआ है, और सड़क पर भीख मांगकर ही बड़ा हुआ है। फिर एक दिन अचानक गौतम बुध्द भी राजमहल से उतरकर सड़क पर भीख मांगने खड़े हो जाते हैं।
एक ही राह है, दोनों के हाथ में एक से भिक्षापात्र हैं, भिखारी और बुध्द दोनों साथ ही राह पर भीख मांगने चलते हैं। क्या भेद है? दोनों भीख मांगने निकले, दोनों के हाथ में भिक्षापात्र, दोनों द्वारों पर खड़े होकर भिक्षा का पात्र फैलायेंगे। दोनो भिखारी हैं-लेकिन क्या निश्चित ही दोनों बिल्कुल एक जैसे हैं?
ऊपर से भेद बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता, भीतर से बड़ा भेद है। भिखारी सिर्फ भिखारी है। उसके पास कुछ नहीं है बस। उसके होने को उसने कभी जाना भी नहीं, इसलिए न होने में बड़ा पीड़ित है। धन नहीं है उसके पास भी और बुध्द के पास भी, लेकिन उसने धन को कभी जाना ही नहीं। इसलिए धन का न होना एक गड्ढे की भांति है, पीड़ादायी है; बहुत घाव है, रिसता है; आत्मा खाली है, भिक्षा-पात्र है-हाथ में ही भिक्षा-पात्र नहीं, भीतर भी भिक्षा-पात्र ही है। लेकिन यह पास में खड़ा हुआ बुध्द है, यह भी भिखारी है, लेकिन इसने धन को जाना है। धन का अभाव नहीं है इसके पास, धन का भाव था अति। बहुत था धन, पर्याप्त था और व्यर्थ हो गया है। यह छोड़कर आया है, यह जानकर आया है। धन इसके लिए व्यर्थ हो गया है, भिखारी के लिए धन अभी सार्थक है।
दोनों भिखारी हैं। पर बुध्द के भिखारीपन में एक बड़े सम्राट का भाव है। बुद्ध के भिखारीपन में भी एक शालीनता है जिसके सामने सम्राट भी झेंप जायें। बुद्ध के इस भिखारीपन में बड़ी मालकियत है। यह धन व्यर्थ हुआ है, छूट गया है; धन में कोई सार्थकता नहीं रह गयी। दूसरा भी भिखारी है, लेकिन बिल्कुल भिखारी है; धन बड़ा सार्थक है... और धन की मांग जारी है।
ठीक ऐसी ही घटना घटती है अज्ञानी और परम ज्ञानी में। परम ज्ञानी भी ज्ञान को छोड़ देता है ऐसे ही, जैसे कोई बुद्ध धन को छोड़ देता है-जानकर, पहचानकर, पाकर-देख लेता है कि ज्ञान भी सीमा के पार नहीं जाता; सब वेद भी ठहर जाते हैं; उस असीम से मिलन नहीं हो पाता-छोड़ देता है; आग लगा देता है ज्ञान में भी; वेद को भी डाल देता है अग्नि में; स्वाहा कर देता है। अज्ञानी जैसा हो जाता है लेकिन अज्ञानी नहीं है। अज्ञानी अभी ज्ञान की तलाश में है, इसके ज्ञान की यात्रा अभी पूरी हई और यह पार चला गया। इसलिए ऋषि कहता हैः

"मैं समस्त वेदांत द्वारा जाना गया ब्रह्म ही हूं।"
... नहीं कहता कि समस्त वेदों द्वारा, नहीं कहता कि वेदों द्वारा जाना गया ब्रह्म हूं, क्योंकि वेद जिस ब्रह्म को जानते हैं। वह मैं नहीं हूं; वह सीमित है; वह भी ज्ञान की धारणाओं में बंध जाता है, आबद्ध हो जाता है।
"मैं वेदांत के द्वारा जाना गया ब्रह्म हूं।"
वेद भी जिसे नहीं जान पाते। और जो वेद को छोड़ने कि हिम्मत जुटाता है, वही जान पाता है; वही मैं हूं।
इसे हम भीतर की तरफ समझें तो आसानी हो जाये। ज्ञान से हम सब कुछ जान सकते हैं, सिर्फ स्वयं को नहीं; क्योंकि ज्ञान के समक्ष है सब कुछ, लेकिन हम ज्ञान के भी पीछे हैं। ज्ञान से हम सब कुछ जान सकते हैं क्योंकि ज्ञान एक साधन है मेरा।

हम ऐसा समझेंः आंख से हम सब कुछ देख सकते हैं, लेकिन अपनी ही आंख को नहीं। और अगर आप दर्पण में देख लेते हैं तो अपनी आंख नहीं देखते, अपनी आंख का प्रतिफलन ही देखते हैं। प्रतिफलन दूसरी चीज हो गयी। आंख सब कुछ देख लेती है, बड़ी मुसीबत की बात है, लेकिन खुद को क्यों नहीं देख पाती? क्योंकि किसी भी चीज को देखने के लिए दूरी पर रखना.जरूरी है, फासले पर रखना.जरूरी है, आमने-सामने होना.जरूरी है। अब आंख अपने ही आमने-सामने कैसे हो? नहीं हो सकती। इसलिए आंख सब कुछ देख लेगी, आंख भर को नहीं देख पायेगी।
हमारा ज्ञान भी इस जगत में सब कुछ जान लेगा, सिर्फ वह जो हमारे भीतर छिपा हुआ ब्रह्म है, वह जो हम हैं, उसे भर नहीं जान पायेगा; क्योंकि ज्ञान उस ब्रह्म की आंख है; उससे सब कुछ जाना जा सकता है। और उस सब कुछ को जो जानकर संग्रह किया गया है उसका नाम वेद है। ब्रह्म ने जिसे जाना है वह वेद है, और ब्रह्म जिससे जाना जाता है वह वेदांत है।
अब यह ब्रह्म किससे जाना जायेगा? कौन जानेगा इसे? असल में जानने की भाषा ही छोड़ देनी पड़ेगी, क्योंकि जानना सदा दूसरे का ही होता है। स्वयं का कोई जानना क्या होगा! कैसे जानेंगे उसे, जो हम हैं ही? कौन जानेगा? किस कोण से जानेगा? किस दिशा से जानेगा? इसलिए स्वयं के संबंध में हम जो भी जान लेंगे वह पराया हो जायेगा जानने के कारण ही। असल में स्वयं का होना ज्ञान की पकड़ के बाहर है।
तो एक है उपाय कि अगर हम सारे ज्ञान को वस्त्रों की भांति उतारकर नीचे
रख दें; जैसे कोई नग्न हो जाये वस्त्रों को छोड़कर, ऐसे हम ज्ञान से नग्न हो जायें, तो जो स्फुरणा घटित होती है-वह ज्ञान नहीं है, स्फुरणा हैत्तो जो पुलक भीतर हो जाती है, वह जो बिना जाने जानना हो जाता है उसका नाम वेदांत है।
ज्ञान से नग्न हुआ जो चित्त है वह वेदांत में प्रवेश करता है।
लेकिन आदमी बड़ा कुशल है। उसने वेदांत को भी शास्त्र में निबद्ध कर लिया है। उसने वेदांत के भी वेद बना लिए हैं। और इसलिए पंडित लोगों को समझाये चले जाते हैं कि वेदांत वेदों का अंत नहीं है, वेदों का सार है। पंडित समझाये चले जाते हैं कि वेदांत जो है वेद का ही अंग है। सरासर है झूठी यह बात; सरासर है गलत।
सारी चेष्टा ही यही रही है परम ज्ञानियों की कि किसी भांति आपको शब्द से, सिद्धांत से, ज्ञान से छुटकारा मिले, ताकि उस परम में प्रतिष्ठा हो जाये जिसमें जानने के द्वारा कोई द्वार ही नहीं खुलता है। होने के द्वारा द्वार खुलता है, जानने के द्वारा नहीं। और ज्ञान बाधा है होने में; क्योंकि ज्ञान विस्तार है, अपने से बाहर फैलाव है। और होना अपने में डूब जाना, अपने में ठहर जाना है, मूल बिंदु पर रुक जाना है।
तो वेदांत का जो अर्थ है, वह है, जिस दिन आप सारे ज्ञान को छोड़ने को वैसे तैयार हो जायें, जैसे कोई बुद्ध धन को छोड़ने को तैयार हो जाता है। ज्ञान भी धन है; भीतरी संपदा है, संग्रहीत है।
और बड़े मजे की बात हैः जैसे धन भी हमारा नहीं होता, हम सिर्फ बीच के श्रृंखला में बंधे हुए एक मालिक होते हैं-बाप का धन बेटे को मिल जाता है, बेटे का धन और बेटे को मिल जाता है। धन लेकर तो कोई पैदा नहीं होता; एक बात पक्की है। कहीं से भी मिलता हो, कैसे भी मिलता हो, धन लेकर कोई पैदा नहीं होता है-राज्य देता हो, कि परंपरा देती हो, कि वंश देता हो, कि समाज देता हो, कि श्रम से खोजा जाता हो, कि चोरी की जाती हो-एक बात तय है कि धन लेकर कोई पैदा नहीं होता है और धन लेकर कोई मरता नहीं है। इसलिए धन बीच की कोई घटना है जो हमसे बाहर है।
ज्ञान भी ऐसा ही है; ज्ञान भी हमें दूसरों से ही मिलता है। ज्ञान भी अर्जित राशि है समाज की। इसलिए जानवर ज्ञानी नहीं हो पाते, उसका और कोई कारण नहीं है, सिर्फ इतना ही कारण है कि उनके पास ज्ञान को संग्रहीत करने के लिए भाषा नहीं है। इसलिए बाप जब मरता है तो बेटे को अपना अनुभव नहीं दे जा पाता; कोई उपाय नहीं है। बेटे को फिर वहीं से शुरू करना पड़ता है जहां से बाप ने शुरू किया था। इसलिए जानवर आगे नहीं बढ़ पाते।

जिन कौमों के पास लिखने का साधन नहीं है वे कौमें भी आगे नहीं बढ़ पातीं, क्योंकि बाप मुखाग्र कितना कह सकता है! बहुत कुछ खो जाता है; फिर बेटों को वहीं से शुरू करना पड़ता है-अ, ब, स से।
भाषा के विकास ने ज्ञान की तिजोड़िया बना दीं। और जिस दिन हमने लिपी भी खोज ली और लिखना भी खोज लिया उस दिन तो ज्ञान के खोने का डर ही समाप्त हो गया। इसलिए पहली दफा आदमी में यह घटना घटी है कि जानवर हमेशा... बाप जहां से शुरू करता है, बेटा पुनः वहीं से शुरू करता है; बाप जहां मरता है, बेटा वहीं जाकर मरता है; उसके बेटे फिर वहीं से शुरू करते हैं, इसलिए कोई विकास नहीं हो पाता; क्योंकि कोई बेटा बाप के कंधे पर खड़ा नहीं हो पाता। आदमी का सारा विकास... हर बेटा बाप के कंधे पर खड़ा होता चला जाता है। लंबाई बढ़ती चली जाती है, ज्ञान की राशी इकट्ठी हो जाती है। हर पीढ़ी ज्ञान को इकट्ठा करके दे देती है। इसीलिए जो समाज जितना ज्ञान इकट्ठा कर लेते हैं उतने बुद्धिमान हो जाते हैं। ज्ञान एक संग्रह है।
जरा ऐसा सोचें कि बीस साल के लिए सारे विश्वविद्यालय, सारे स्कूल, सारे कॉलेज बंद कर दिये जायें, सारे पुस्तकालय जला दिये जायें, और बीस साल के लिए किसी तरह की शिक्षा का कोई उपाय न रखा जाये-बाप बेटे को समझाना बंद कर दे, गुरू शिष्य को समझाना बंद कर दे-आपको पता है, क्या होगा? बीस साल में आप वहां पहुंच जायेंगे जहां बीस लाख साल पहले थे। सब खो जायेगा।
ज्ञान एक संग्रह है। और संग्रह को रोज हस्तांतरित करना पड़ता है; इसलिए स्कूल हैं। स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय करते क्या हैं? बाप की पीढ़ी ने जो इकट्ठा किया है उसे बेटों की पीढ़ी को सौंपते हैं, और तो कुछ करते नहीं। शिक्षक जो है वह संक्रमण का काम करता रहता है। उसका कुल धंधा इतना है कि पुरानी पीढ़ी जो इकट्ठा करती है वह नयी पीढ़ी को दे दे-बस इतना उसका काम है, बीच की श्रृंखला का।
यह ज्ञान भी संपदा है; और यह भी हमें दूसरों से ही मिलती है। इस सबके जोड़ का नाम वेद है। इसलिए हम वेद को संहिता कहते रहे हैं। संहिता का अर्थ होता है-संग्रहीतः दि कलेक्टेड; वह जो इकट्ठा है; जो भी जाना है, इकट्ठा है। इसलिए वेद से मैं ऐसा मतलब नहीं लेता कि वे चार संहिताएं ही वेद हैं। जगत में जो भी इकट्ठा हुआ है ज्ञान, वह सभी वेद है, ज्ञान मात्र वेद है, और ज्ञान मात्र संहिता है; क्योंकि वह सब इकट्ठा ही होता है; संग्रह।
लेकिन इसलिए ऋषि बहुत ख्यालपूर्वक कहता है, ध्यानपूर्वक। यह शब्द ऐसा
ही नहीं है... कि "वेदांत द्वारा जो जाना गया"-वेद द्वारा नहीं; क्योंकि संग्रहीत ज्ञान से जो जाना गया है वह कोई ज्ञान नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान संग्रहीत नहीं होता; वह हमारे भीतर है ही, उसे हमें बाहर से नहीं लाना पड़ता।
इसलिए यह हो सकता है कि अगर विश्वविद्यालय बंद कर दिये जायें, शिक्षा
का आयोजन टूट जाये, और अगर जैसा कि सारे जगत में नये युवकों के आंदोलन चलते हैं-हिप्पी हैं और सब हैं, अगर वे समर्थ हए और जीत गये, तो विश्वविद्यालय चल नहीं सकेंगे; पुस्तकालय जला दिये जायेंगे; जल्दी सब समाप्त हो जायेगा। लेकिन तो भी ब्रह्मज्ञान को कोई चोट नहीं पहुंचेगी।
सब वेद जल जायें, सब बाइबल, सब कुरान नष्ट हो जायें, ब्रह्मज्ञान हो कोई चोट नहीं पहुंचेगी, क्योंकि उनसे कभी ब्रह्मज्ञान मिला ही नहीं। इर्रेलेवेंट हैं। उनसे कोई संगति ही नहीं है। ब्रह्मज्ञान जब भी मिला भीतर से मिला बाहर प्रगट भला किया गया हो, मिला बाहर से कभी नहीं।
तो वेदों ने भला कोशिश की हो कहने की कि ब्रह्मज्ञान क्या है, लेकिन वेदों से ब्रह्मज्ञान कभी मिला नहीं है। अभिव्यक्ति होगी, जिसने जाना उसने कहने की कोशिश की है, और उससे वेद निर्मित हुए-लेकिन जिसने भी कभी जाना उसे वेद से नहीं मिला है, उसे वेदांत से मिला है। और जब मैं वेदांत कहता हूं तो मेरा मतलब, उसे ज्ञानांत से मिला है; जब उसने ज्ञान को भी अंत किया है; ज्ञान को भी छोड़ दिया है।
उसने कहा, सब जान लिया; लेकिन जो भी जाना वह बाहर से आया। अब हम उस सबको छोड़ते हैं और उसे जानना चाहते हैं जो भीतर है, जो बाहर से कभी भी आया नहीं।

अब हम उसी को पहचानना चाहते हैं। अब हम उसी शुद्धतम की खोज में चलते हैं जो बाहर से अनुपलब्ध है, सदा अनुपलब्ध है और भीतर सदा प्राप्त है।
इसलिए ऋषि कहता है, समस्त वेदांत ने...
और यह भी विचारणीय है... कि अगर सिर्फ ऋषि इतना ही कहता कि वेदांत ने जिसे जाना, तो थोड़ी सी... थोड़ी सी भूल हो जाती। इसलिए ऋषि कहता है, "मैं समस्त वेदांत द्वारा जाना गया... "
क्योंकि वेदांत कोई इसी देश में यहीं पैदा हो, ऐसा नहीं है... जहां भी वेदांत हआ है-समस्त वेदांत... कहीं भी।
जीसस भी जानते हैं तो वेदांत है। हालांकि उन्हें उपनिषद का कोई पता नहीं-.जरूरत भी नहीं है। लाओत्से भी जानता है तो वह वेदांत से, इकहार्ट भी जानता है तो वह वेदांत से-जब भी जगत में कोई जानता है तो वेदांत से। तब जो भी उसके पास ज्ञान की संहिता है उसे छोड़कर ही जानता है।
इसलिए ऋषि कहता है, समस्त वेदांत ने... कहीं भी, किसी काल में, किसी समय में, और किसी स्थिति में, और किसी स्थान में किसी ने जाना हो, तो वह सदा वेदांत से ही जाना गया हैः बाय सि.जेशन ऑफ नॉलेज। इतना व्यापक अर्थ है वेदांत का।
लेकिन जैसा आदमी है और जैसा आदमी का मन है, हम ऐसे लोगों को भी मिलते हैं, ऐसे लोग भी मिल जाते हैं जो कहते हैं, हम वेदांती हैं। वेदांती कोई भी नहीं हो सकता। यह निपट मूढ़ता है। वेदांती कोई भी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदांत वाद नहीं है। क्योंकि वाद तो फिर शास्त्र बन जाता है, वेद बन जाता है। इसलिए कोई अगर कहता है कि हम वेदांत में मानते हैं, तो बड़ी भूल की बात कह रहा है; क्योंकि जहां मान्यता मौजूद है वहां ज्ञान क्या समाप्त हुआ होगा, क्योंकि मान्यता तो ज्ञान की होती है। इसलिए कोई वेदांती नहीं है... जब मैं यह कहता हूं, तो उसका मतलब यह है कि कोई वेदांत को वाद नहीं बना सकता। और जो भी बनायेगा वह... वह समझ ही नहीं पा रहा हैः ही है.ज मिस्ड द पॉइंट; वह असली बात ही चूक गया। वेदांत का मतलब ही यह है कि वाद नहीं, शास्त्र नहीं, ज्ञान नहीं; अब वेदांती कैसे बनियेगा?
असल में अगर वेदांत में प्रवेश करना है, तो सब वाद, सब शास्त्र, सब सिद्धांत, छोड़ने पड़ेंगे। वेद भी छोड़ देना पड़ेगा। तो उस आदमी को हम कह सकते हैं, वेदांत में-लेकिन वेदांती नहीं। वेदांत में प्रवेश किया उस आदमी ने, यह तो हम कह सकते हैं; लेकिन वह आदमी लौटकर यह नहीं कह सकता कि मै वेदांती हूं। यह असंगति होगी; तो शब्द ही अर्थ खो देगा।
"समस्त वेदांत द्वारा जाना गया ब्रह्म ही हूं मैं।"
मैं वही हूं जिसे ज्ञानियों ने तब जाना जब सारा ज्ञान शून्य हो जाता है। यहां जो घोषणा कर रहा है ऋषि, वह घोषणा परम तत्व की है। कोई सोच सकता है कि बड़ी अहंकार ग्रस्त है... कि मैं हूं वही, जिसे सब... सब समस्त, सर्व वेदांतों ने जाना। नहीं, जरा भी कहीं कोई अस्मिता नहीं है। इतना ही कह रहा है वह कि अब मैं उस तत्व की बात करता हूं, उस परमतत्व की बात करता हूं जहां ज्ञान भी नहीं पहुंच पाता; जहां ज्ञान भी असमर्थ है वहीं मेरा वास है; जहां सिर्फ होने की समर्थता है; जहां शुद्ध अस्तित्व का ही प्रवेश है-जानना भी जहां विध्वंस हो जाता है, और जानना भी जहां विघ्न हो जाता है, और जानना भी जहां असंगीत पैदा करता है, विसंगीत पैदा करता है, और जानने से भी जहां बेचैनी होती है, जानने की लहर भी जहां नहीं है...
हमने बहुत सुनी हैं ये बातें कि विचार शांत हो जायें तो ध्यान होता है। लेकिन अब एक और गहरी बात समझ लें... कि ज्ञान भी शांत हो जायें तो ब्रह्म होता है। विचार शांत हो जाए तो ध्यान होता है, लेकिन ध्यान में जानना बना रहता है। जानना भी समाप्त हो जाये, जानने की तरंग भी खो जाये, ज्ञान भी खो जाये तो ब्रह्म होता है।
"मैं रूप नहीं, नाम नहीं, कर्म नहीं, केवल सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्म हूं। आकाश, वायु आदि जान पड़नेवाली वस्तुएं मैं नहीं हूं।"
"मैं देह नहीं हूं"-यह बहुत बहुमूल्य वचन अंतिम है; अति बहुमूल्य-"मैं देह नहीं हूं तो फिर मुझे जन्म-मरण कैसे हो? मैं प्राण नहीं तो मुझे भूख-प्यास कैसे लगे? मैं मन नहीं तो मुझे शोक-मोह किस बात का?"

और अंतिम वचन उत्तर है पहली जिज्ञासा का, जहां से उपनिषद शुरू हुआ था। इतनी लंबी यात्रा के बाद जो उत्तर है, वह बहुत चकित करनेवाला है; वह उत्तर है-"मैं कर्ता नहीं हूं तो मुझे बंधन और मोक्ष कैसा?"
जिज्ञासा शुरू हुई थी कि बंधन क्या है, मोक्ष क्या है-यह पहली... पहली बात। ऋषि ने इतनी लंबी चर्चा की, और जीवन के गहन तत्व में प्रवेश किया, और अभी आप सोच भी नहीं सकते थे कभी कि आखिर में अगर ऋषि को यही कहना है तो यह पहले ही कह देना था।
ऋषि यह कह रहा है कि बंधन है ही नहीं, तो मोक्ष कैसा? क्योंकि बंधनेवाला मैं नहीं हूं, मैं बंध सकता नहीं हूं; स्वतंत्रता मेरा स्वभाव है, इसलिए मुझे बांधेगा कौन? मैं बंधूगा कैसे? बंधन मुझ पर टिकेंगे कैसे? मैं इतना भी तो नहीं हूं कि बांधा जा सकूं। इतना भी आकार कहां कि बंधन कसा जा सके? इतना भी रूप कहां कि कारागृह चारों तरफ बनाई जा सके? सीमा कहां? सारी सीमाओं को गिराकर, सारे रूप से मुक्ति की बात करके, शायद अब तक जिज्ञासु भी भूल गया होगा कि पूछा था मैंने-बंधन क्या है, मोक्ष क्या है? बात बहुत दूर चली गयी, आपको भी शायद ही स्मरण रहा हो! बात इतनी दूर चली गयी थी-इतनी गहरी... इतनी गहरी...
लेकिन ऋषि कहता है, मैं कर्ता नहीं हूं तो मुझे बंधन और मोक्ष क्यों हो? और जब बंधन ही न हो सके तो मोक्ष का क्या अर्थ होगा? अगर बंधन ही मुझ पर नहीं बन सकता तो मोक्ष का सवाल कहां है? प्रश्न से शुरू हुआ यह उपनिषद्, और प्रश्न पर पूरा होता है। ऋषि कहता है कि बंधन क्यों हो? मोक्ष क्यों हो? मैं जैसा हूं वहां बंधन और मोक्ष का कोई उपाय ही नहीं है। यदि यही कहना था, तो पहले ही कह दिया होता।
एक सूफी घटना मुझे याद आती है। फकीर हसन गुरू की तलाश में निकला। अपने
ही गांव के बाहर गया है। गांव के बाहर ही एक चट्टान के पास बैठा हुआ एक बूढ़ा फकीर है। हसन ने पूछा कि मैं खोज पर निकला हूं। इस गांव में तो सत्य मिलेगा इसकी कोई आशा नहीं है-किसी को भी अपने गांव में नहीं होती-और जिन लोगों को मैं जानता हूं, इनके पास कुछ सत्य होगा, इसके बाबत तो निश्चिंत हूं कि यह भूलकर भी नहीं हो सकता। इसलिए जा रहा हूं छोड़कर इस जगह को। क्या आप मुझे कुछ निर्देश करेंगे कि मैं किस तरफ जाऊं, कहां खोजूं?
उस फकीर ने कहा, बहुत मुश्किल है; बड़ा कठिन है। फिर भी तूने पूछा तो मैं तुझे बताता हूं। इस-इस रूपरेखा का आदमी जिस दिन तुझे मिले, उसका पीछा मत छोड़ना। ऐसा चेहरा, ऐसी आंख, ऐसी सिर पर पगड़ी, ऐसा कुर्ता, ऐसे ढंग से बैठा, ऐसे पत्थर पर, ऐसे झाड़ के नीचे-यह सब बता देता हूं। जिस दिन तुझे यह आदमी मिल जाये उस दिन तू पीछा मत छोड़ना।
वह आदमी खोजता रहा... खोजता रहा... कहते हैं हसन ने हर नगर, हर गांव छान डाले-न वह झाड़ मिले, न वह पत्थर की चट्टान, न वह आदमीत्तीस साल.जमीन पर भटकता रहा, भटकता रहा, भटकता रहा-थक गया, ऊब गया, परेशान हो गया, जराजीर्ण हो गया; सत्य की तो कोई झलक मिली नहीं, वह जो सत्य की प्यास थी वह भी करीब-करीब बुझ गयी और धूल से भर गयी... और अब शक होने लगा कि सत्य है भी, जो मिले? और उस बूढ़े पर भी बहुत क्रोध आने लगा कि नासमझ ने कहां का और एक... शुरू गांव से निकले और मुसीबत में पड़ गये... उसने और कहां की यह... सब रूपरेखा बता दी! यह न बताता तो शायद कहीं हम खोज भी लेते, हम इसी के खोजने में बरबाद हुए; न यह जगह मिली, न यह आदमी मिला!
... अपने गांव वापिस लौट रहा है। गांव के प्रवेशद्वार पर ही वह बूढ़ा बैठा हुआ था। चकित हुआ हसन देखकर... दरख्त वही मालूम होता है जिसकी उसने बात की थी; चट्टान भी वही है! पास आया, देखा कि आंखें भी वही हैं! पैर पकड़ लिए और चिल्लाया कि पागल तो नहीं हो तुम? अगर तुम ही हो वह जिसका मुझे पकड़ना है, तो पहले ही क्यों न बता दिया? ये तीस साल मुझे क्यों भटकाया?
उस बूढ़े फकीर ने कहा, मैंने तो उसी दिन बता दिया था; पर तीस साल.जरूरी
थे भटकने के लिए, तब तू मुझे पहचान पाता। मैंने तो सब बात यह उसी दिन तुझसे कही थी कि ऐसी चट्टान हो, लेकिन तूने मेरी, जिस चट्टान पर बैठा था, उसकी तरफ देखा ही नहीं। ऐसा दरख्त हो... तूने दरख्त की तरफ देखा ही नहीं! तू जल्दी में था; तू खोज पर जाने के लिए उत्सुक था। तू कहां... ? और तू मानकर ही बैठा

था कि जहां से तू जा रहा है वहां तो सत्य हो ही नहीं सकता। मैंने आंखों का वर्णन किया था, और तूने मेरी आंख की तरफ भी नहीं देखा। और मैंने चेहरे की रूपरेखा बताई। झंझट में तू नहीं पड़ा पड़ा है, झंझट में मैं पड़ा हूं, क्योंकि तीस साल से यह चट्टान नहीं छोड़ सका कि यह नासमझ न मालूम... न मालूम कब यह नासमझ लौटेगा। लौटेगा.जरूर, क्योंकि जायेगा कहां? जो वर्णन मैंने किया है, सिवाय इस चट्टान, इस दरख्त के नीचे कहीं मिलनेवाला है नहीं। तो तेरे पीछे परेशानी में मैं हूं। लेकिन.जरूरी था कि तीस साल तू भटके... आवश्यक था कि इस पीड़ा से गुजरे। यह संताप साधना थी।
यह ऋषि भी उत्तर दे सकता था-कह सकता था, बंधन कैसा! बंधेगा कौन? और बंधन नहीं है, मोक्ष कैसा? मुक्ति कैसी, किसकी? लेकिन तब जिज्ञासा की कोई यात्रा नहीं हो पाती। और तब जिज्ञासु शायद चुप होकर लौट जाता, लेकिन शांत होकर नहीं लौट सकता था। शायद उसका मुंह भी बंद हो जाता, शायद वह इसके उत्तर में कुछ कह भी न पाता, लेकिन इससे कोई सहयोग और समाधान उसे मिलनेवाला नहीं था।
इतनी प्रतीक्षा ऋषि को करनी पड़ी। यह लंबी यात्रा थी। इस लंबी यात्रा में इंच-इंच उस जिज्ञासु को मिटाया उसने।
बड़े मजे की बात है, जिज्ञासा को बिल्कुल छोड़ दिया। उसने जो पूछा था उसकी बात ही जैसे एक तरफ रख दी; उसी को मिटाने में लग गया... और कहने लगा शरीर नहीं, इंद्रिय नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, मैं नहीं, तू भी नहीं, वह भी नहीं, वेद भी नहीं, ज्ञान भी नहीं-उस सबके पार, और पार, और पार... उसे बिखेरता गया, उसे गलाता गया। और अब जब बिल्कुल गलाने की सीमा पूरी हो गयी, और जब देखा कि बर्फ की जो चट्टान आयी थी वह पिघलकर पानी होकर सागर के साथ मिल गयी है, तब उसने पूछा है अब जिज्ञासु से... कि मैं तुझसे पूछता हूं कि बंधन कैसा, किसको? कौन बंधेगा? क्योंकि तू है कहां, जो बंध सके? और अगर तू कभी बंधा ही नहीं है, तो मुक्ति की तलाश क्या कर रहा है? किसको मुक्त करेगा? कौन होगा मोक्ष को उपलब्ध?
इस लिहा.ज से यह अदभुत है उपनिषद्। प्रश्न से शुरू होता है, प्रश्न पर पूरा होता है, लेकिन प्रश्न का रूप, प्रश्न की व्यवस्था, प्रश्न का गुण बदल जाता है। प्रश्न पूछा था शिष्य ने प्रारंभ में, और प्रश्न पूछता है गुरू अंत में; और दोनों के बीच में कहीं उत्तर है। इसलिए दोनों ने प्रार्थना की थी, हमारी रक्षा करना; हम साथ ही पराक्रम करें; हमारा साथ-साथ पुरुषार्थ हो; हम दोनों को बचाना; हम डूब न जायें बीच में।
उत्तर देना बहुत आसान था, समाधान तक पहुंचाना बहुत कठिन। उत्तर कोई
भी दे देता है। उत्तर देने से कोई गुरू नहीं होता-शिक्षक हो सकता है, गुरू नहीं होता। गुरू और शिक्षक का यह फर्क है। गुरू समाधान देता है, शिक्षक उत्तर देता है। शिक्षक से आप पूछ सकते हैं क्या-क्या है, वह बता देता है। आवश्यक नहीं है इस उत्तर के देने में कि यह उत्तर उसका स्वयं की ही हो; इसको किसी और ने दिया होगा। यह भी आवश्यक नहीं है कि यह उत्तर जो दे रहा है, इससे उसका कोई समाधान हुआ हो। यह भी आवश्यक नहीं है। यह उत्तर है बंधा हुआ। यह परंपरागत उत्तर है, यह शिक्षक शिष्य को सौंप देता है।
लेकिन गुरू उत्तर नहीं देता, गुरू समाधान देता है। समाधान दिया जा सकता है समाधि देकर ही; और तो कोई उपाय नहीं। असल में समाधि के द्वारा ही समाधान हो सकता है। यह पूरी प्रक्रिया जो इस उपनिषद ने कही है, समाधि की प्रक्रिया है। अगर इस प्रक्रिया से एक-एक कदम बढ़ते चले जायें तो समाधि उपलब्ध हो जायेगी। समाधि समाधान है।
और जिस दिन समाधान हो गया उस दिन गुरु उससे पूछता है कि अब मैं तुझसे
ही पूछता हूं। क्योंकि यह सारी जिज्ञासा ऐसी थी, जैसा मैंने बीच में आपको कहा कि अंधेरे में सांझ के धुंधलके में दिखाई पड़ गयी है रस्सी, और मान लिया है सांप, और आप भागकर आये हैं मेरे पास, और कहते हैं कि सांप है वहां, उसे कैसे भगायें? उसे कैसे हटायें? लकड़ी से मारें कि गोली चलायें... कि क्या करें कि उस राह से ही जाना छोड़ दें?
यदि मैं आपको इतना ही कहूं कि वहां कोई सांप-वाप नहीं है, भ्रांति में पड़े हो, मन का प्रक्षेप है, गलती से देखा होगा; तो यह आशा करनी बहुत मुश्किल

है कि आप मेरी बात मानेंगे। हो सकता है, चुप हो जायें, लेकिन मेरी बात से सांप ज्यादा वास्तविक है। बात ही तो है! सांप ज्यादा वास्तविक है। नहीं, उत्तर तो मैं दे सकता हूं, लेकिन उत्तर से हल न होगा; ज्यादा उचित होगा कि उठाऊं दीया और आपके साथ चलूं... और कहूं कि आओ, पहले हम सांप को देख लें कि कितना बड़ा है, फिर उस हिसाब से तलवार ले चलें, या उस हिसाब से लकड़ी ले चलें, या उस हिसाब से आयोजन करें उसके विनाश का-पहले चलें, पहले सांप की सामर्थ्य को देख लें।
और जानते हुए कि वहां सांप नहीं है, यह दीया लेकर जो चले आपके साथ, तो नहीं है। शिक्षक उत्तर दे देगा। हो सकता है, यह भी बता दे कि आदमी को कैसे रस्सी में सांप दिखाई पड़ जाता है; सब समझा दे। लेकिन अगर आप उससे कहें कि चलिए फिर आप उसी रास्ते पर, वह कहे कि यह उत्तर भी मेरा सुना हुआ है; हम झंझट में नहीं पड़ते। हो सकता है, सांप हो ही। इससे हमारा लेना-देना नहीं है; यह उत्तर शास्त्रीय है। हमने जाना है; हमारे गुरू ने हमसे कहा, उनके गुरू ने उनसे कहा, यह हमें बिल्कुल पता है। हम सब बता देते हैं लेकिन यहां से हम जाते नहीं।
लेकिन गुरू आपके साथ जायेगा-जानते हुए कि वहां सांप नहीं है। लेकिन
यह अनुभव आपका भी बनना चाहिये कि सांप नहीं है। दीया लेकर जायेगा। यह पूरा उपनिषद दीया लेकर आगे चलता है। और एक-एक इंच रास्ते पर प्रकाश पड़ने लगता है, अंधेरा कटने लगता है, फिर जाकर वह खड़ा हो जाता है रस्सी के सामने। आपको सांप दिखाई पड़ता जाता है, लेकिन वह कहता है कि देखो, सांप कहां है? यह पूंछ नहीं है, यह रस्सी है; यह धड़ नहीं है, यह रस्सी है; यह फन नहीं है, यह रस्सी है।
यह पूरी की पूरी इतनी ही है सारी चर्चा कि मैं यह नहीं हूं, मैं यह नहीं हूं, मैं यह नहीं हूं-यह सांप काटा जा रहा है। जब "मैं" बिल्कुल कट जाता है, रस्सी शेष रह जाती है, तो वह गुरू पूछता हैः अब मैं तुमसे पूछता हूंः सांप को कैसे मारें? किस सांप को मारें? और अगर सांप नहीं है तो तलवार काटेगी क्या? और अगर सांप नहीं है, तो मैं तुम्हें क्या सलाह दूं कि बचो कैसे? अब तुम्हीं मुझे बताओ।
और इस प्रश्न पर उपनिषद पूरा हो जाता है।
"और इस प्रकार यह उपनिषद समाप्त।"
और शिष्य की तरफ से एक भी उत्तर नहीं है अब। शिष्य को कुछ तो कहना चाहिए! कम से कम धन्यवाद! कम से कम आभार! कम से कम कहना चाहिए कि बलिहारी गुरू आपकी! कुछ तो! ... कुछ तो कहना चाहिए। लेकिन शिष्य बिल्कुल चुप है। शिष्य चुप है, क्योंकि एक अर्थ में शिष्य मिट गया है; बोलने योग्य भी नहीं बचा है। यह सांप ही नहीं कटा, इस कटने में शिष्य भी कट गया है। वह आदमी जो पूछता हुआ आया था, अब नहीं है। वह मन जो पूछता आया था, अब नहीं है। वह अहंकार जिसके पास प्रश्न थे और उत्तर की तलाश थी, वह अब नहीं है।
असल में जो आया था वह अब नहीं है, और अब जो है वह कभी भी नहीं था। कौन दे धन्यवाद? किसको दे धन्यवाद? उत्तर भी क्या?
झेन फकीर लिंची कहा करता था अपने शिष्यों से... कि अगर तुमने मेरे प्रश्न का जवाब न दिया, तो भी यह डंडा तुम्हारे सिर पर पड़ेगा, और अगर तुमने जवाब दिया तो भी। निश्चित ही मुश्किल हो जाती होगी, क्योंकि अब कोई उपाय ही नहीं बचा।
और लिंची शिष्यों से सवाल पूछा करता था। लिंची का रिवाज यह थाः कि वह कहता था कि तुम मुझसे सवाल तभी पूछ सकोगे जब तुम मेरे जवाब दो, यह शर्त है। गुरू शिष्य से कहता था कि पहले तुम मेरे सवाल का जवाब दो, तब मैं तुम्हें जवाब दूंगा। और शर्त यह थी कि डंडा उसके हाथ में होता था लिंची के। और वह कहता था, अगर तुमने जवाब दिया तो तो मैं मारूंगा ही, अगर नहीं दिया तो भी मारूंगा। अक्सर लोग भाग जाते थे; लेकिन जो जानते थे वे रुक भी जाते थे।
जब पहली दफा बोकोजू उससे मिलने गया, तो बोकोजू ने कहा कि ऐसा करो, सवाल-जवाब पीछे हो लेंगे, पहले डंडा मार लो; क्योंकि इस काम से निपट जायें। इससे इसमें अड़चन पड़ेगी, और नाहक इसमें उलझाव बना रहेगा। इससे हम पहले निपट लें, यह सरल काम है, सवाल-जवाब बहुत कठिन हैं। पहले डंडा मार लो, यह रहा

मेरा सिर। लिंची ने कहा, वह आदमी आ गया; अब मैं तुझसे नहीं पूछूंगा, तू मुझसे पूछ सकता है।
पूछना अगर कुतूहल है, तब तो एक बात है; मूल्य की नहीं है वह। पूछना अगर जिज्ञासा है, तो दांव है; और दांव बड़ा है। क्योंकि ऐसे सवाल पूछना कि बंधन क्या है और मोक्ष क्या है, जीवन को दांव पर लगाने के सवाल हैं।
तो जब गुरू ने आखिर में पूछा है सब मिटाकर, सब पोंछ डाली स्लेट पूरी। जरा एक अक्षर बचने न दिया। ज्ञान भी न बच जाये। तो आखिर में उसको भी पोंछा और कहा कि वेद भी वहां नहीं जाते हैं; सब तरफ मिटा डाला, राख कर दिया जलाकर, दग्ध कर दिया बीज को पूरा।
और अब गुरू पूछता है कि कैसा बंधन! कौन बंधेगा? कैसा मोक्ष! कोई बंधा
ही नहीं कभी तो मुक्ति कैसी? अगर शिष्य बोल जाता धन्यवाद भी, तो फिर से उपनिषद शुरू करना पड़ता; क्योंकि उसका मतलब थाः भला सांप मिट गया हो लेकिन शिष्य अभी नहीं मिटा है-अभी बोल सकता है; अभी इतना कह सकता है कि बड़ी कृपा है आपकी, सब समझा दिया, सब समझ गया, ज्ञान को मैं उपलब्ध हो गया।
जिस गुरू के पास से आप ज्ञानी होकर लौट आयें, उस गुरू के पास जाना बेकार हो गया; जिस गुरू के पास जाकर आप मिटें, लौट ही न पायें, तो ही जाना सार्थक है।
धर्म मिटने की कला है; अपने ही हाथ अपने को बुझा लेने का विज्ञान है। जैसे दीये में कोई फूंक मार दे और ज्योति खो जाये, ऐसे ही हमारी अस्मिता, हमारा अहंकार खो जाये-खोजे से न मिले फिर कहीं; निपट शून्य रह जाये पीछे... रिक्त, खाली। उस खाली और रिक्त में ही उसका दर्शन होता है जो वस्तुतः हमारा होना है।
इसलिए अंतिम बात हैः
"इस प्रकार का यह रहस्य है।"
इस प्रकार का यह रहस्य समाप्त हुआ। इस प्रकार यह उपनिषद पूरा होता है।
उपनिषद का अर्थ होता हैः रहस्य। उपनिषद का अर्थ होता हैः रहस्य। रहस्य का अर्थ होता है, जिसे हम समझ भी लें तो भी समझ में नहीं आता; और जिसे हम न भी समझें हुए हों तो समझ में आता हुआ मालूम पड़ता है। रहस्य का मतलब यह होता है। जो नहीं समझते वे भ्रांति में पड़ जाते हैं कि समझा, और समझते हैं उनको पता चलता है कि कहां समझे-रहस्य का यह अर्थ होता है।
अगर कोई चीज समझने से समझ में आ जाये तो रहस्य नहीं है; अगर कोई चीज न समझने से न समझ में आये, तो भी रहस्य नहीं है। रहस्य का अर्थ होता हैः जो नहीं जानते उनको लगता है कि जानते हैं, और जो जानते हैं उनको लगता है, कहां जानते हैं!
सुकरात ने कहा है जीवन के अंतिम दिनों में कि जब तक नहीं जानते थे तभी
तक अच्छा था, कम से कम जानने का भ्रम तो था; अब और बड़ी मुश्किल हो गयी हैः जब से जाना है तब से इस मुसीबत में पड़े कि जानते ही कहां हैं। इसका नाम है रहस्य।
डेल्फी की देवी ने घोषणा कर दी थी कि सुकरात महाज्ञानी है यूनान में।
तो जिन लोगों ने घोषणा सुनी, भागे हुए सुकरात के पास गये और कहा कि सुकरात, सुनते हो? डेल्फी की देवी ने घोषणा की है कि सुकरात महाज्ञानी है। सुकरात ने कहा कि देवी ने थोड़ी देर कर दी; जब हम थे तब कोई कहने न आया... जब हम थे- वक्त था, हम ज्ञानी थे; तब किसी ने घोषणा न की; तब हम खुद ही घोषणा करते फिरते थे-और अब... अब जब कि पता चला कि भी नहीं जानते हैं, तब उस देवी को सूझा? .जरूर कहीं कोई भूल हो गयी है; तुम फिर से जाकर पूछ आओ।
वे लोग वापिस गये। एक अर्थ में प्रसन्न गये, क्योंकि सुकरात ज्ञानी
है इससे मन को बड़ी पीड़ा हुई थी। अगर सुकरात कहता कि हां, मैं ज्ञानी हूं तो वे इतना भरोसा न करते। लेकिन सुकरात ने कहा, मैं परम अज्ञानी हूं। उन्होंने कहा, यही ठीक कहता होगा, देवी से कोई भूल हो गयी होगी। वापिस देवी से जाकर उन्होंने पूछा कि कुछ भूल हो गयी, मालूम होता है। देवी ने कहा कि मुझसे भूल होती ही नहीं। उन्होंने कहा, .जरूर हो गयी होगी, क्योंकि खुद सुकरात ही कहता है कि मैं बिल्कुल अज्ञानी हूं।

देवी ने कहा, इसीलिए तो उसके महाज्ञानी होने की मैंने घोषणा की- इसीलिए! यही तो कारणीभूत है; जब तक वह ज्ञानी था तब तक मैं घोषणा नहीं कर सकती थी। इसका नाम रहस्य है।
उपनिषद का अर्थ होता है, रहस्य। ऐसे उपनिषद शब्द का अर्थ होता है, जो गुरू के पास बैठकर जाना गया... गुरू के पास "बैठकर" जाना गया-गुरू से "सुनकर" नहीं, गुरू के पास बैठकर; क्योंकि सुनकर तो शब्द ही मिलते हैं, लेकिन पास बैठकर कुछ और भी मिल जाता है।
लेकिन पास बैठने की एक कला है, सुनना बहुत आसान है, पास बैठना बहुत मुश्किल है।
उपनिषद शब्द का अर्थ होता है, गुरू के पास बैठकर जो मिला-सिर्फ पास बैठकर... उसके सन्निकट आना, उसके सामीप्य में, उसके प्रति समर्पण में, उसके प्रेम में, उसके पास मिटकर, उसके पास अपने को भूलकर जो मिला। इसलिए वस्तुतः गुरू जो कहता है वह महत्वपूर्ण नहीं है, गुरू जो होता है वही महत्वपूर्ण है; क्योंकि जो कहता है वह सुना जाता है, और जो होता है उसके पास बैठा जाता है।
गुरजिएफ के साथ ऐसा निरंतर होता था कि गुरजिएफ के पास कोई शिष्य बैठा
है, वह उसको ऐसे क्रोध से देखेगा कि छाती में हड़कंप हो जाये। अनेक शिष्य भाग जाते थे गुरजिएफ के पास से। और वह कुशल था बहुत-इतना कुशल था... जो लोग उसे निकट से जानते रहे हैं, वे कहते हैं कि वह इतना कुशल था कि इस तरफ बैठे आदमी को क्रोध बता सकता था, एक आंखवाले हिस्से से, इस तरफवाले आदमी को प्रेम बता सकता था। और दोनों आदमियों में पीछे विवाद हो जाता था कि यह आदमी कैसा है। वह एक आदमी कहता कि इतना प्रेमी, और उसकी आंख से बिल्कुल प्रेम झर रहा था; और वह दूसरा आदमी कहता, तुम पागल हो गये हो! मैं भी मौजूद था, और मैंने उसकी आंख मे। सिवाय दुष्टता के और कुछ भी नहीं देखा।
पश्चिम के एक बहुत विचारशील आदमी एलन वॉट ने तो उसे "रास्कल सेंट" कहा है-गुरजिएफ कोः शैतान संत। लेकिन गुरजिएफ अदभुत आदमी था। और साधारण संत होना बहुत आसान मामला है, साधारण शैतान होना भी बहुत आसान मामला है। लेकिन जो उसे जानते थे, जो उसके पास बैठे थे, वे निरंतर लोगों से कहते थे, वह क्या करता है, क्या बोलता है, कैसी आंख करता है, इसकी तुम फिकर ही मत करना; तुम तो उसके पास ही होने की फिकर करना। वह क्या कहता है-आंख से, कि शब्द से, कि चेहरे से, उसकी तुम फिकर ही मत करना; क्योंकि उससे अगर कुछ सीखना हो तो उसके पास होना ही पर्याप्त है-सिर्फ पास होना।
और तुम उसकी अभिव्यक्ति की ओर ध्यान मत देना कि वह क्या कह रहा है... कि गाली बक रहा है, कि क्रोध दिखला रहा है, कि प्रेम दिखला रहा है; तुम इसकी फिकर ही मत करना, ये तरकीबें हैं उसकी, इनसे वह जांच लगा लेता है कि तुम सुनने आये हो कि पास होने आये हो-निकट होने आये हो कि सुनने-समझने आये हो। सुनने-समझने आये हो तो वह विदा कर देता है; क्योंकि वह कहता है, वह जो सुनने-समझने आया है वह ज्यादा दूर नहीं जा सकता; पास होना चाहिए-एक इंटिमेसी, एक सामीप्य, एक निकटता। उस निकटता में चेतना एक-दूसरे में आरपार प्रवेश करने लगती है-बीच के द्वार खुल जाते हैं सामीप्य में, ओर चेतना एक से दूसरे में आने-जाने लगती है।
और जिस दिन यह चेतना का प्रवाह भीतर होने लगता है, उस दिन उपनिषद घटित होता है-उस दिन! उस दिन, उसके पहले नहीं।